TEXT FLY WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180382

UNIVERSAL
LIBRARY

P—24—4-4-69—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

ll No. H83·109 B16H Accession No. H3093

thor बरठणी, पद्ममलाल पुन्नालाल

tle हिन्दी कथासाहित्य · 195

This book should be returned on or before the date last marked belo

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर

हिन्दी कथा-साहित्य

लेखक
पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी
'सरस्वती'-सम्पादक

प्रकाशक
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

प्रकाशक—

नाथूराम प्रेमी,

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,

हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई ४.

पहली बार

सितम्बर. १९५४

मुद्रक—

रघुनाथ दिपाजी देसाई,

न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस,

६, केलेवाडी, बम्बई ४.

परिचय

बीसवीं सदीके विगत दो दशकोंमें यों तो हिन्दी साहित्यके सभी अंगोंका सन्तोषजनक विकास हुआ है; किन्तु कथा-साहित्यका विकास अपना विशेष महत्त्व रखता है। इसका परिमाण इतना अधिक है और इसकी शिल्प-विधियोंका प्रयोग इतने रूपोंमें किया गया है कि उसका समीक्षात्मक मूल्याङ्कन अपरिहार्य हो उठा है।

साहित्यके किसी भी अंगका विकास, केवल उसके परिमाणकी प्रचुरतापर निर्भर नहीं करता। कितनी ही ऐसी अन्य विशेषताएँ होती हैं, कितने ही ऐसे तत्त्व होते हैं, जिनके अभावमें यह परिमाण समीक्षाकी कसौटीपर रखते ही बहुत सीमित रह जाता है। किन्तु यही सीमित परिमाण साहित्यके तथाकथित अङ्गके वास्तविक विकासका परिचायक होता है। ऐसी समीक्षाके लिए बहुत पैनी दृष्टि, गहन अध्ययन और समन्वय-वृत्ति वांछनीय है।

प्रस्तुत समीक्षात्मक ग्रन्थ 'हिन्दी कथा-साहित्य'के प्रणेता साहित्य-वाचस्पति श्री पदुमलालजी बख्शीने हिन्दीमें निबन्ध-रचनाका जहाँ तक संबंध है, एक नवीन अध्यायका सूत्रपात किया है। उनके निबन्ध हिन्दीके प्रायः सभी प्रकारके निबन्ध-संग्रहोंमें अपना विशेष स्थान रखते हैं और प्रारंभिक कक्षाओंसे लेकर विश्वविद्यालयों तकके छात्रोंके अध्ययनमें योग दे रहे हैं।

बख्शीजी केवल निबन्धकार नहीं हैं। वे एक कुशल कथाकार और मर्मज्ञ समीक्षक भी हैं। 'हिन्दी कथा-साहित्य'का प्रत्येक अध्याय इस बातका साक्षी है कि उनकी समीक्षा-शैलीमें आधुनिकताका जहाँ पूरा-पूरा पुट है, वहीं विवेचना, प्रतिपादनकी शक्ति, निष्पक्ष निर्णयकी क्षमता और गहराई तक पैठनेकी पैनी दृष्टि भी सर्वत्र विद्यमान है।

बख्शीजीकी समीक्षाकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह केवल हिन्दी कथाकारोंकी ही मीमांसा करने तक सीमित नहीं रहती, प्रत्युत बंगला, मराठी, गुजराती और अँग्रेजी, फ्रेंच आदि विदेशी भाषाओंके कथाकारों और समीक्षकोंकी विशेषताओं और साहित्य-सिद्धान्तोंकी मीमांसा भी हमारे सामने उपस्थित कर देती है।

हिन्दी कथाकारोंका सम्मान करते हुए भी स्थान-स्थानपर बख्शीजी अपना निष्पक्ष निर्णय देनेमें किसी संकोचका अनुभव करते नहीं पाए जाते और अपने निष्पक्ष निर्णयके समर्थनमें ही वे इतर प्रान्तीय और विदेशी कथाकारों एवं समीक्षकोंके विचार हमारे सामने प्रस्तुत करते जाते हैं। ऐसे उद्धरणोंमें अनेक स्थलोंपर तो बख्शीजीने स्पष्ट रूपसे यह दिखलाया है कि जिन बातों अथवा तथ्योंका हम समर्थन करते हैं, उन्हींका उन भाषाओंमें कहाँ तक विरोध किया जाता है। बख्शीजीका ऐसा प्रतिपादन इस बातका परिचायक है कि वे केवल किसी कथाकारका विरोध नहीं कर रहे हैं, प्रत्युत वह स्वयं जिस तत्त्वका पोषक है, वही उसका विरोधी बन गया है।

यों तो हिन्दी कथा-साहित्यके विकास और इतिहासपर समय-समयपर यथेष्ट प्रकाश डालनेकी चेष्टाएँ की गई हैं; किन्तु 'हिन्दी कथा-साहित्य' में जिस गहन अध्ययन और गंभीर विवेचनात्मक दृष्टिसे विचार किया गया है, उसे हम हिन्दी-कथा-साहित्यकी समीक्षाका प्रकाश-स्तम्भ कह सकते हैं। इसमें हिन्दी-कथा-साहित्यको विश्व-कथा-साहित्यकी कसौटीपर रखकर देखा-परखा गया है और जहाँ रवीन्द्र, बंकिम, शरत् आदिकी कथा-कृतियोंपर विचार किया गया है, वहीं आपटे, मामा वरेरकर आदिका उल्लेख करते हुए गोर्की, अनातोले फ्रान्स, जेन आस्टिन, वर्जीनिया वुल्फ, फार्स्टर आदि विदेशी कथाकारोंका विश्लेषण करते हुए हिन्दी कथा-साहित्यके प्राचीन-अर्वाचीन उल्लेख्य कथाकारोंकी कृतियोंपर अध्ययनपूर्ण समीक्षा प्रस्तुत की गई है। जहाँ प्रेमचन्द, प्रसाद और वृन्दावनलाल वर्माकी कथा-कृतियोंपर प्रकाश डाला गया है, वहीं जैनेन्द्र, यशपाल, उग्र, इलाचन्द्र जोशी, देवीदयाल चतुर्वेदी, भगवतीचरण वर्मा और अंचलकी कथाकृतियोंपर भी गम्भीर प्रकाश-किरणें फेकी गई हैं।

'हिन्दी-कथा-साहित्य' जहाँ हिन्दीके उच्च-स्तरीय छात्रोंके लिए उपादेय है, वहीं हिन्दीके प्रत्येक 'जिज्ञासु और अध्ययनशील' पाठकके लिए मूल्यवान् धरोहर है।

— प्रकाशक

विषय-सूची

		पृ० सं०
१	उपक्रम	१
२	भारतीय कथासाहित्यका विकास	१९
३	आधुनिक कथा-साहित्यका आदिकाल	३२
४	हिन्दीमें बंग-भाषाके उपन्यास	४८
५	प्रेमचन्द और सामाजिक समस्या	७१
६	व्यक्ति और समाज	८५
७	आधुनिक कथा-साहित्यमें नारी समस्या	१२०
८	मनुष्यके रूप	१४६
९	प्रेम और विवाहकी समस्या	१७०
१०	कुछ आधुनिक उपन्यास	१७७
११	कल्पना और सत्य	२०५
१२	ऐतिहासिक उपन्यास	२२६
१३	उपन्यासका भविष्य	२३७
१४	हिन्दीकी आख्यायिकायें	२५१
१५	कहानियोंकी श्रेष्ठता	२८२

हिन्दी कथा-साहित्य

उपक्रम

१

जीवन इतना परिवर्तनशील है कि अपनी वृद्धावस्थामें हम सभी यह अनुभव करते हैं कि अब हम लोगोंका युग नहीं रहा, हमारा वैभव भविष्यमें नहीं, अतीत कालमें सन्निहित हो गया। सभी वृद्ध अतीतका ही गौरव बतलानेमें सुख और संतोषका अनुभव करते हैं। 'ते हि नो दिवसाः गताः' हम लोगोंके वे दिन गये। जो गये, वे चले ही गये। अब लौटकर नहीं आ सकते। तब हम लोगोंके लिए यह संसार कुछ दूसरा ही संसार था। वर्तमान युगमें तरुण चाहे जो भी महिमा देखें, हम लोगोंमें अधिकांशके लिए उसमें न कोई सार है और न कोई गौरव।

मैंने यशपालकी एक कहानी पढ़ी है। उसमें 'चूसी गँड़ेरी'की तरह एक गतयौवना वेश्याका विफल प्रयास वर्णित हुआ है। रूप और स्वरकी मधुरता न रहने पर भी वह वेश्या अपने संगीतसे अपने श्रोताओंको मुग्ध करना चाहती थी। पर सभी श्रोता उससे विरक्त हो गये थे। केवल एक तरुणको उसपर दया आई और उसने उसको सोनेकी अँगूठी दे दी।

हम वृद्धजन श्रद्धा और आदरके पात्र होना चाहते हैं, दयाके पात्र नहीं। इसीलिए मैंने यशपालकी कहानीको 'स्वान्तः सुखाय' बदल दिया। मैंने अपने श्रोताओंको जो कहानी सुनाई, उसका मर्म यह है —

एक बार हम लोगोंके नगरमें युवराजके जन्मोत्सवके उपलक्षमें कितनी ही प्रसिद्ध नर्तिकाएँ और गायिकाएँ आईं। उनमें 'कुसुम' नामकी एक नर्तकीने अपने रूपके लावण्य, स्वरके माधुर्य और कलाके नैपुण्यसे सभीको मुग्ध कर लिया था। जगह-जगह उसकी प्रशंसा होती थी। एक दिन मैं संध्या समय एक पार्कमें बैठा हुआ था। वहीं एक बेंचपर एक वृद्ध पुरुष एक वृद्ध स्त्रीके साथ बैठा था। उसी समय कुछ युवक मेरे समीप आकर बैठ गये और उसी कुसुमकी प्रशंसा करने लगे। अपनी प्रौढ़ावस्थाकी अनुभूतिका गौरव रखकर मैंने कहा—तुमने अभी देखा ही क्या है और सुना ही क्या है। मैं तो यहाँ ऐसे ऐसे कला-विशारदोंका कला-नैपुण्य देख चुका हूँ, जिनके आगे यह कुसुम खड़ी नहीं हो सकती। तुम लोग अभी जानते ही क्या हो? तुमने कभी मैनाबाईका नाम सुना है? उसके साथ चन्दूलाल तबला बजाता था। क्या कला थी उनमें? वे चाहें तो आग लगा दें, पानी बरसा दें। एक बार उसीकी स्वर-लहरीसे मंडपके सब दीप भभक उठे और मंडपमें आग लग गई। उसकी रूप-ज्वालाने तो न जाने कितने ही हृदयोंमें आग लगा दी थी। तुम लोग तो एक छोकरीके ठुनुकनेसे गद्‌गद हो गये हो।

मेरी बातका प्रतिवाद एक भी तरुण नहीं कर सका। वे लोग मुझे घेरकर बैठ गये और उनके आग्रहसे मैं उनको मैनाबाईकी अपूर्वताकी कितनी ही विलक्षण बातें सुनाने लगा। अधिकांश बातें बिलकुल कल्पित थीं। पर अपनी बातको प्रभावोत्पादक बनानेके लिए कल्पनाका आश्रय लेना ही पड़ता है। मेरी बातें सुनकर सभी युवक विस्मित हो गये। पास ही जो वृद्ध पुरुष-स्त्री बैठे थे, उनपर भी मेरी बातोंका प्रभाव पड़ा; क्योंकि वे भी मेरी बात सुननेके लिए और नजदीक आ गये थे। मेरी बात पूरी होनेपर वे सभी युवक चले गये। पार्कमें अन्धकार भी फैलने लगा। मैं भी घर लौटनेके लिए उठा। तब उस वृद्ध-पुरुषने कहा—'देखता हूँ कि आप मैनाके बड़े प्रशंसक हैं।' मैंने सगर्व कहा—'हाँ, साहब!' तब उन्होंने कहा—'तब आपको मैं मैनाबाईसे परिचित करा दूँ। यही मैनाबाई हैं।' यह कहकर उसने उस वृद्धाकी ओर संकेत किया। फिर कुछ खिन्न स्वरमें कहा—'और मैं ही वह चन्दूलाल हूँ।'

मैं चौंक पड़ा। उनको क्या उत्तर दूँ, यही मैं न सोच सका। फिर उन्होंने कहा—'मैनाबाई अब महफिलमें नहीं गा सकतीं। परन्तु आइए, मैं आपको उनका गाना सुनवाऊँ।' मैं मंत्र-मुग्ध हो, उनके पीछे-पीछे चला। नगरके बाहर एक मकानमें वे लोग ठहरे हुए थे। मैं उनके साथ घरके भीतर प्रविष्ट हुआ। फिर हारमोनियम लेकर मैनाबाई गाने लगी और चन्दूलालजी तबला बजाने लगे। वह संगीत नहीं, उसका जीर्ण रूप था। जीर्णावस्थाने रूपके साथ स्वरको भी विकृत कर दिया था। न उसमें आवेग था, न स्फूर्ति थी, फिर भी मैं उसको सुनता रहा। पाँच मिनटके बाद मैनाबाई हाँफने लगी। किसी तरह गाना समाप्त कर उन्होंने सलज्ज भावसे पूछा—'कहिए!' मैंने तुरन्त अपनी अँगूठी उन्हें देकर कहा—'मैं आपको दे ही क्या सकता हूँ!' उन्होंने सगर्व उस अँगूठीको उठा लिया।

मैंने एक साहित्यकारकी भी ऐसी ही कहानी पढ़ी थी। सभी साहित्यकार सभी समय लोकप्रिय नहीं बने रहते हैं। कुछ समय तक साहित्यके क्षेत्रमें धूम मचाकर वे लुप्त हो जाते हैं। उनके स्थानमें तरुण साहित्यकार आ जाते हैं। उनकी प्रतिभाकी नवदीप्तमें प्राचीन कलाधर निष्प्रभ हो जाते हैं। मैंने भी अपने जीवन-कालमें साहित्यके अनन्त गगन-मंडलमें ऐसे कितने ही कलाधरोंके उदय और अस्त देखे हैं। पुस्तक-विक्रेताकी दूकानपर घंटे-भर बैठकर हम लोग साहित्यकी गतिका अनुभव कर सकते हैं। वहाँ कितने ही तरुण पाठक, आलोचक, कवि और लेखक आते-जाते रहते हैं। उनकी बातचीतमें नवीनताके प्रति जैसे एक आग्रह रहता है, उसी तरह प्राचीनताके प्रति एक विरक्ति होती है। ऐसी ही एक दूकानमें एक तरुण साहित्यसेवी एक वृद्धको बैठे हुए देखा करता था। वह चुपचाप बैठा सभी तरहकी पुस्तकोंको देखता रहता था और तरुणोंकी बातचीत सुना करता था। वह स्वयं बहुत कम बात करता था। वह तरुण साहित्य-सेवी उस वृद्धके प्रति आकृष्ट हो गया और दूकानसे उठ आनेके बाद वे दोनों सड़कपर कुछ दूर तक बातें करते करते साथ-साथ जाया करते। वृद्धकी बातचीतसे युवकको इतना पता चल गया कि उसमें साहित्यकी असाधारण योग्यता है।

एक दिन दूकानपर एक विशेष उपन्यासकारकी चर्चा हुई। कभी उसके

उपन्यासोंकी बड़ी धूम थी। तरुण दलने उस उपन्यासकारकी बड़ी निन्दा की। पर उस युवकने उसका पक्ष-समर्थन किया। एक बार उस वृद्धने उस युवकको अपने घरका पता बतलाकर निमंत्रण दिया। वहाँ जानेपर उस युवकको ज्ञात हुआ कि यह वृद्ध ही अपने युगका वह श्रेष्ठ उपन्यास-कार था। इसमें सन्देह नहीं कि हम सब लोगोंका अपना एक युग है। वही हम लोगोंकी उन्नति और समृद्धिका काल होता है। उस समय यदि हम लोगोंने सफलता प्राप्त कर ली और अपना अभीष्ट प्राप्त कर लिया, तो हम कृतकृत्य हो गये। फिर हम लोगोंके लिए कोई विशेष कार्य नहीं रह जाता।

२

बाल्यकालसे लेकर अभी तक मैं उपन्यासोंके मायालोकमें विचरण करता आ रहा हूँ। जबसे मुझे हिन्दीका कुछ ज्ञान हुआ, तभीसे मैं उपन्यास पढ़ने लगा। कुछ उपन्यास मौलिक थे, पर अधिकांश बंगभाषाके अनुवाद थे। अँगरेजीका साधारण ज्ञान हो जाने पर मैं अँगरेजी उपन्यास भी पढ़ने लगा। अँगरेजीमें फ्रांस और रूसके उपन्यासोंके अनुवाद सुलभ थे। इसी लिए मैं उनसे भी परिचित हो गया। उपन्यासोंकी समीक्षाएँ और आलोचनाएँ पढ़नेकी ओर मेरी प्रवृत्ति नहीं हुई। किस उपन्यासके सम्बन्धमें किस विज्ञने क्या सम्मति दी है, यह जाननेकी उत्कंठा ही नहीं हुई। उसके कारण मुझे उपन्यासोंमें कथा-रस पानेमें कोई कठिनाई भी नहीं हुई। मैं सभी तरहके उपन्यास पढ़ता ही गया।

आज मैं स्वयं दूसरोंको अपने कथा-पाठकी ही बात सुनाने बैठ गया हूँ। मैं कथा-साहित्यका आलोचक नहीं हूँ। आलोचक होनेसे घबराता भी हूँ। हिन्दी-साहित्यमें भी अब समालोचनाके क्षेत्रमें ज्ञानकी वह गरिमा आ गई है कि उसमें मेरे समान पाठकोंके लिए स्थान ही नहीं है। मैं भिन्न-भिन्न उपन्यासोंके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न विज्ञोंकी आलोचनाएँ पढ़कर अवाक् रह जाता हूँ। पहले मैं जिन उपन्यासोंको चुपचाप पढ़ लेता था और विरक्तिजनक होने पर उन्हें पढ़कर फेंक देता था, उन्हें भी अब पढ़नेका साहस नहीं होता।

मुझे अब पग-पगपर सन्देह होता है। हिन्दीके प्रसिद्ध समालोचक पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयीजीने ठीक लिखा है कि हिन्दीमें समयके प्रवाहके अनुकूल अब साहित्यके द्वारा सामाजिक समस्याओंको सुलझानेकी चेष्टा की जाने लगी है, साथ ही साहित्यकी अभिव्यंजना-शक्तियोंका इस रूपमें विकास भी हो रहा है। उन्हें समझनेके लिए बुद्धिका अधिकाधिक आयास आवश्यक है। उन सबसे परिचित हुए बिना आलोचक बननेकी लालसा रखने पर बनी हुई प्रतिष्ठाके खो जानेका खतरा है। मेरे लिए यह सौभाग्यकी बात है कि मेरे लिए यह खतरा नहीं है। क्योंकि मैं जो कुछ लिखूँगा वह एक पाठककी ही दृष्टिसे लिखूँगा। ए० काननं० डायलने जिन जादूके द्वारोंमेंसे प्रविष्ट होकर विश्वके साहित्योद्यानमें परिभ्रमण कर अपनी यात्राका हाल लिखा है, उन्हींसे मैं भी साहित्यके जगत्में प्रवेश पा गया हूँ। इसीसे अपनी रुचि, अपने विश्वास और अपने संस्कारोंको लेकर मैं अपनी इस मानसिक यात्राका विवरण लिख रहा हूँ।

हिन्दीके मौलिक उपन्यासोंकी तुलना बंगभाषा अथवा पाश्चात्य भाषाओंके उपन्यासोंसे करनेपर मुझे जो बात स्पष्ट रूपसे लक्षित होती है, वह यह है कि हिन्दीमें उपन्यासोंका क्षेत्र अभी तक अत्यन्त संकुचित है और उपन्यास-लेखकोंका कल्पना-जगत् भी अत्यन्त परिमित है। हिन्दीके जिन समस्यामूलक उपन्यासोंकी चर्चा हिन्दीके विज्ञ समालोचक किया करते हैं, उनके पात्र भी जीवनकी अत्यन्त क्षुद्र परिधिके भीतर समाविष्ट हो जाते हैं। उन उपन्यासोंको पढ़नेसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि लेखकोंकी दृष्टि कितने क्षुद्र क्षेत्रमें काम कर रही है। सभी व्यक्ति एक स्थानमें सबसे पृथक् होते हैं और दूसरे स्थानमें सबसे सम्बद्ध हो जाते हैं। एक ओर उनका व्यक्तिगत जीवन-व्यापार होता रहता है और दूसरी ओर संसारका भी काम चलता रहता है। न तो व्यक्ति संसारसे सर्वथा पृथक् हो सकता है और न वह संसारमे ही एकमात्र लीन रह सकता है। इस प्रकार उसके जीवनमें दो धाराएँ साथ-साथ काम करती हैं। पृथक्-पृथक् होने पर भी वे दोनों परस्पर ऐसी सम्बद्ध रहती हैं कि एक दूसरीसे पृथक् नहीं की जा सकती हैं। हिन्दीके अधिकांश उपन्यासोंके पात्र ऐसे ढंगसे काम करते हैं, मानो उनके अपने संसारके अतिरिक्त और कोई

संसार नहीं। उनकी अपनी समस्याओंके अतिरिक्त जीवनकी और समस्याएँ नहीं हैं। उनके अपने प्रेम और विद्वेषकी लीलाओंके अतिरिक्त संसारमें और कोई काम ही नहीं हो रहे हैं। अधिकांश पात्रोंमें अहंवृत्ति इतनी बढ़ी हुई है कि ऐसा जान पड़ता है, मानों उसके अतिरिक्त और कोई मनुष्य ही नहीं है। इसीके साथ उपन्यासोंका कल्पना-जगत् भी अत्यन्त अधिक परिमित हो गया है। हिन्दू परिवार तो मानसिक विकृतियोंका निधान हो गया है। घर-घर दुराचार और अत्याचार हो रहे हैं। कहीं शान्ति नहीं है, कहीं सन्तोष नहीं है। जहाँ शान्ति और संतोष है, वहाँ केवल हमारी भीरुता और रूढ़िवादिता ही लक्षित होती है। हमारी कन्याएँ और हमारी स्त्रियाँ हमारे अत्याचारोंसे त्राहि-त्राहि कर रही हैं। युवक उनको उन्मुक्त करनेके लिए कटिबद्ध हो गए हैं। यही चित्र देखकर हम लोग घबरा जाते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि प्रेमकी उलझन और वासनाके स्फोटके अतिरिक्त और कहीं जीवन ही नहीं है।

कथाका क्षेत्र तो अनन्त है, क्योंकि मनुष्यकी कल्पनाका अन्त नहीं है। पाश्चात्य कथा-साहित्यका क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत हो गया है कि उसने ज्ञानके सभी क्षेत्रोंको आक्रान्त-सा कर लिया है। भूलोकका कोई ऐसा स्थान नहीं है, जो कथाके भीतर न आ गया हो। संसारका ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जिसने कथा-साहित्यमें स्थान न पाया हो। जीवनकी ऐसी कोई स्थिति नहीं है, जिसका विवरण कथा-साहित्यमें न हो। जीवन ही नहीं, जीवनके बाद भी जो रहस्यमय कल्पनातीत स्थिति है, उसका भी वर्णन उपन्यासके रूपमें किया गया है। मनुष्यकी कल्पना भू-लोकको अतिक्रमण कर विश्वके अन्य लोकों तक भी पहुँच चुकी है। लौकिक और अलौकिक सभी तरहकी घटनाओंका ऐसा समावेश उपन्यासोंमें किया है कि पाठक उनमें लीन हो जाते हैं और सच्चे कथा-रसको उपलब्ध करते हैं। उपन्यास केवल ऐतिहासिक, सामाजिक या समस्यामूलक ही नहीं रह गये हैं। अब वे विज्ञानको भी अतिक्रमण कर कल्पनाके असीम जगत्के विषय हो गये हैं। तभी तो उपन्यासोंके मायालोकमें विचरण कर हम लोग एक अनिर्वचनीय तृप्तिका अनुभव करते हैं। हिन्दीमें अभी तो यह संभव नहीं है।

यहाँ मैं हिन्दीके ही कुछ उपन्यासोंकी चर्चा करना चाहता हूँ। समालोचनाके क्षेत्रमें एक साधारण पाठकका दृष्टिकोण सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। यदि यह बात होती, तो पंडित नन्ददुलारे वाजपेयीजीके समान कृतविद्य समालोचक 'कंकाल' के समान उपन्यासको एक औसत दर्जेके पाठकको देकर उसकी राय जाननेकी आवश्यकता न समझते। मैं यहाँ राय देनेके लिए भी नहीं बैठा हूँ। यह सच है कि मेरे लिए मेरा औपन्यासिक जगत् मेरे यथार्थ जगत्से कहीं अधिक सुखप्रद रहा है। इसी लिए मैं अपने औपन्यासिक जगत्की यात्राका विवरण लिख रहा हूँ।

२

सन् १९५२ समाप्त हुआ और उसीके साथ मेरे ५८ वर्ष व्यतीत हो गये एक-एक पल, एक-एक प्रहर, एक-एक दिन और एक-एक वर्ष कर काल क्षिप्रताके साथ चला जाता है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्रके जीवनमें कालकी गतिके साथ कितने परिवर्तन होते हैं। प्रतिक्षण उद्भव और संहारका काम होता रहता है। संसारमें जो कुछ विद्यमान है, उस सबका जैसे आदि होता है, वैसे ही अन्त भी होता है। परन्तु काल स्वयं अनादि और अनन्त है। उसकी गतिका न आदि है, न अन्त। वह अपने अनन्त पथपर अग्रसर ही होता जा रहा है। संसारमें उद्भव और संहारका जो कार्य होता रहता है, वह जिस अज्ञेय शक्तिकी लीला है, उसका कोदण्ड यह काल है।

कालकी गतिमें ५८ वर्षोंका कोई महत्त्व नहीं है। परन्तु हम लोगोंके जीवनमें ये ५८ वर्ष कम नहीं होते हैं। कालकी गणनामें जो समय अत्यन्त तुच्छ और क्षुद्र प्रतीत होता है, उसीके भीतर हम लोगोंके व्यक्तिगत जीवनकी कितनी लालसाएँ, कितनी वेदनाएँ, कितनी आशाएँ और सुख-दुखकी कितनी ही घटनाएँ समुद्रकी अनन्त जल-राशिमें एक जलबिन्दुकी तरह लीन हो जाती हैं। कालके अनन्त गर्भमें एक व्यक्तिके जीवन-कालका कोई अस्तित्व तक लक्षित नहीं होता। पर कोई व्यक्ति स्वयं उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

अपने जीवन-कालमें ५० वर्ष व्यतीत कर लेनेके बाद अधिकांश लोग वृद्धावस्थाका अनुभव करने लगते हैं। ५० वर्षके बाद उनमें न तो तारुण्यका

उन्माद रह जाता है, न स्फूर्ति। पर उसीके साथ तारुण्यका उग्र असंतोष भी नहीं रह जाता। तब हमारी आकांक्षाएँ विस्तृत न होकर किसी एक स्थानमें केन्द्रस्थ-सी हो जाती हैं। भावुकताका स्थान दूरदर्शिता ले लेती है और विश्वासकी सरलता अविश्वासकी चतुरतामें परिणत हो जाती है। तरुणावस्थामें शक्तिकी स्फूर्तिके साथ विरोध और विद्रोहकी जो प्रबल भावना रहती है, वह आप-से-आप संयत हो जाती है। तब हम अपने प्रतिपक्षियोंका विरोध न कर उन्हें अपने अनुकूल बनानेकी नीतिका अवलम्बन करते हैं। तब हम तर्क और युक्तिसे अधिक काम लेते हैं। हम अपने सच्चे भावोंको छिपाकर दूसरोंके मनोभावोंको जाननेका प्रयत्न करते हैं और दूसरोंकी निर्बलताको जानकर हम उससे लाभ उठानेमें नीतिकी कुशलता मानते हैं। प्रेमके निष्कपट व्यवहारके स्थानमें हम शिष्टाचारका सौजन्य स्वीकार कर लेते हैं। व्यक्तिगत जीवनमें प्रौढ़ावस्था आ जानेपर सभी मनुष्योंमें भावका यह परिवर्तन हो जाता है। फिर वृद्धावस्था आ जाती है।

जीवनके संध्याकालमें जब अन्धकार बढ़ता जाता है, हम लोग किसी स्नेहकी दीप्तिमें ही सुख और संतोषका अनुभव करते हैं। कर्मकी अपेक्षा स्नेहका सम्बन्ध ही उस समय हम लोगोंको सबसे अधिक स्पृहणीय हो जाता है। प्रौढ़ावस्थामें यथार्थ जगत्के विश्लेषण और समीक्षासे हममें जो संशयावस्था आ जाती है, उसमें उदारता नहीं रह जाती। उसमें स्वार्थकी इतनी अधिक संकीर्णता आ जाती है कि स्वार्थका एक झोंका हम लोगोंकी चिर-संचित प्रीतिके विशाल भवनको एक पलमें ढा देता है। उस समय स्वार्थवश हम मित्रको शत्रु बना डालते हैं और शत्रुको मित्र। उन्हीं भावोंसे प्रेरित होकर हम विरोध करते हैं, निन्दा करते हैं, द्वेष रखते हैं, प्रशंसा करते हैं और सेवा भी करते हैं। प्रौढावस्थाकी यह अभिज्ञता जो कटुता और संतापकी तीव्रता लाती है, वह वृद्धावस्थामें नहीं रह जाती है।

वृद्धावस्था जीवनका संध्या-काल है। उसमें संध्याकालकी-सी रमणीयता रहती है। उस समय न उग्रता रह जाती है, न उत्ताप। उस समय जो एक स्निग्धता-की मधुरता आ जाती है, उसीके कारण वह अवस्था उषःकालकी तरह मनोरम हो जाती है। संध्याकालमें हम सभी लोग एक अपूर्व श्री देखने लगते हैं।

यह सच है कि उस समय जीवनमें अन्धकारकी छाया आने लगती है। परन्तु उस अन्धकारमें भी हम स्नेहका आश्रय ग्रहण कर सुख और शान्तिका अनुभव करते हैं। उषःकाल और संध्याकालमें एक-सी रमणीयता रहनेपर भी दोनोंमें बड़ा भेद रहता है। उषःकालकी ज्योतिमें व्यग्रता कम होती जाती है। उषःकालकी श्रीमें ताप बढ़ता जाता है, संध्याकी श्रीमें ताप घटता जाता है। प्रभातकी अनुराग-लालिमा आलोककी उग्र ज्वालामें परिणत होती जाती है, संध्याकी अनुराग-कालिमा तमकी निस्तब्ध शान्तिमें लुप्त हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि बाल्यकालकी तरह वृद्धावस्थामें विशुद्ध स्नेहकी भावना आ जाती है। वृद्धावस्थामें हम सभी यह अनुभव करते हैं कि जो विशुद्ध स्नेह होता है, वह सेवाके त्यागमें ही पूर्ण होता है। वह सब कुछ खोकर और सब कुछ सहकर ही सार्थक होता है। स्नेहकी ज्योति दीपकी तरह स्वयं जलकर प्रकाशित होती है। वह स्नेह तभी सफल होता है, जब वह सारी कटुता और उत्तापको अपना लेता है और उसे मधुर बना डालता है। यह कौन नहीं जानता कि जीवनका संध्याकाल मृत्युकी घोर निशाके रहस्यमय अन्धकारकी सूचना देता है। मृत्युका वह धाम हम लोगोंके लिए सदैव रहस्यमय प्रतीत होता है। पर उस घोर अन्धकारकी कल्पनासे हम लोग आशंकित नहीं होते। यह विधाताका कोई अनुचित विधान नहीं है। यदि जीवनमें सर्वदा प्रकाश ही बना रहता, तो कदाचित् वह असह्य हो जाता।

ग्रीसकी एक कथामें बतलाया गया है कि एक व्यक्तिने अमरत्वका वर माँगकर सदैव दुःख और संतापका ही अनुभव किया। यह कौन कह सकता है कि चिरंतन प्रकाशमें ही रहकर हम लोग सदैव आनन्दमय स्थितिका अनुभव करेंगे? जिस स्थितिमें स्थिरता है, जिसमें कोई परिवर्तन नहीं है, जिसमें कोई नवीनता नहीं है, वह क्या सचमुच स्पृहणीय है? अन्धकार है तभी तो प्रकाश स्पृहणीय है, दुःख है तभी तो सुख वांछनीय है, मृत्यु है तभी तो जीवनकी लालसा है, तभी तो मनुष्योंके जीवनमें सदैव अपूर्णता है, तभी तो अतृप्तिमें चिरंतन प्रयासका सुख है।

व्यक्तिगत जीवनमें ५८ वर्षोंसे भले ही वृद्धावस्था सूचित हो, पर साहित्य-

जगत्में वृद्धावस्थाकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। साहित्य-लक्ष्मी तो सदैव तरुणी ही बनी रहती है। वह चिर पुरातन होकर भी चिर नवीन बनी रहती है। भिन्न भिन्न युगोंमें उसके रूपमें जो परिवर्तन होते हैं, उनसे उसकी श्री-वृद्धि ही होती है; वह सदैव अपने युगके अनुकूल ही शृंगार करती है और उसीसे उस समय उसके रूपमें रमणीयता रहती है। यदि उसकी सदैव एक ही रूप-श्री बनी रहती, तो उसकी वह रमणीयता भी लुप्त हो जाती। तभी तो यह कहा जाता है कि क्षणक्षणमें जो नवीन ही लक्षित होता है, उसी रूपमें रमणीयता है।

विज्ञोंका कथन है कि साहित्यमें दो धाराएँ स्पष्ट रूपसे लक्षित होती हैं—(१) ज्ञानकी धारा और (२) आनन्दकी धारा। हम लोगोंके कर्मक्षेत्रपर इन्हीं दो धाराओंका प्रभाव पड़ता है। कभी उसमें ज्ञानका प्रभुत्व होता है और कभी आनन्दमय भावका। उसीके कारण समाजकी गति भी परिवर्तित होती रहती है। समाजकी जैसी गति होती है, उसीके अनुसार साहित्यका रूप भी परिवर्तित हो जाता है। साहित्यके इतिहासमें जिन भिन्न भिन्न युगोंकी कल्पना की गई है, उनमें ज्ञान, भाव या कर्मकी प्रचण्डता होने पर तदनुकूल विभिन्न आदर्शोंकी सृष्टि हुई है। हिन्दी-साहित्यमें मध्ययुगके नामसे जो काल विख्यात है, उसमें राजनीतिकी दृष्टिसे पराधीनता होने पर भी आर्थिक दृष्टिसे लोगोंमें न पराधीनता थी और न उनमें विशेष आर्थिक हीनता थी। तब जीवनका संघर्ष विकट नहीं था। देशकी समृद्धावस्था थी। इसीलिए उसमें सभी कलाओंकी उन्नति हुई। कलामें सौन्दर्यकी ही साधना होती है। यही कारण है कि मध्ययुगका कवि संसारको एक लीलाभूमि समझता था, जहाँ सभी पुरुष नायक हैं और सभी स्त्रियाँ नायिकाएँ।

देव कविका तो यह कथन है कि परमपुरुष साक्षात् नायकके रूपमें सभी पुरुषोंमें प्रकट होते हैं और स्वयं माया नायिका बनकर सभी स्त्रियोंमें आविर्भूत होती है। इस प्रकार सभी दम्पतियोंमें अनादि पुरुष और प्रकृतिका जो चिरन्तन स्वरूप व्यक्त होता है, वही मध्ययुगके कवियोंके लिए एकमात्र आराध्य है। उन्होंने संसारमें दुख और दारिद्र, जरा और मृत्यु, रोग और शोकका अनुभव ही नहीं किया। अँगरेजीके प्रसिद्ध कवि कीट्सकी तरह

उन्होंने भी यही समझा कि सत्य सौन्दर्य है और सौन्दर्य सत्य। उन्होंने अपनी उदात्त कल्पना-शक्तिके द्वारा विश्वमें चिरन्तन सौन्दर्यको ही देखा। परन्तु जो ज्ञानके उपासक होते हैं, उन्हें कल्पनाके इस मोह-जालसे तो संतोष नहीं होता। उनके द्वारा सत्यकी परीक्षा होती है, विश्लेषण होता है, व्याख्या होती है और विवेचना होती है।

तर्कके जालसे विज्ञ जन भाव-सिन्धुसे जो कुछ खींचकर लाते हैं, उनकी यथार्थ समीक्षा कर उन्हें तृप्ति और संतोषका अनुभव होता है। इस प्रकार सत्यका विश्लेषण कर विज्ञोंद्वारा तथ्योंकी एक विशाल राशि संचित हो जाती है। बहिर्जगत्में जन्म और मृत्यु, उत्पादन और उपयोग, शिक्षा और अशिक्षा, रोग और संताप, पाप और पुण्य सभीकी विवेचना गणित शास्त्रके सिद्धान्तोंकी तरह संख्यामें निबद्ध हो जाती है। मानव-जीवनका एक भी ऐसा विषय नहीं है, जो विज्ञान-विशारदोंके द्वारा संख्यामें परिगणित न हुआ हो। इसीसे वर्तमान युगमें तथ्योंका यह भार दुर्वह होता जा रहा है। जो कलाकार हैं, वे सत्यके मूलमें आनन्दकी धाराको ही उपलब्ध करना चाहते हैं। जीवनमें जो यथार्थ रस है, उसीसे अलौकिक आनन्दकी अनुभूति होती है। जीवनकी सभी स्थितियोंमें उस आनन्दका उपभोग किया जा सकता है। दुख, वेदना, भय, आशंका, घृणा, द्वेष और ग्लानिकी विषम अवस्थाओंमें भी आनन्दका एक निगूढ़ भाव रहता है। तभी तो काव्यशास्त्रके आचार्योंने करुण, रौद्र, बीभत्स रसकी भी कल्पना की है। जीवनमें शोक और वेदनासे जो घटनाएँ होती हैं तथा जो बीभत्स और भयावह दृश्य देखे जाते हैं, उन सबके भीतर एक रस रहता है, एक सच्चे आनन्दका भाव विद्यमान रहता है। परन्तु वह आनन्द लौकिक नहीं, अलौकिक होता है। इसीलिए उसकी सच्ची अनुभूतिमें भी लौकिक नहीं, अलौकिक चित्तवृत्ति चाहिए। जिनकी दृष्टि एकमात्र यथार्थ जगत्की ऐहिक लीलाओंमें बद्ध रहती है, उनकी चित्तवृत्ति संकीर्ण हो जाती है। ऐसे लोग केवल लाभ-हानिके ही विचारसे प्रेरित होकर सब काम करते हैं। उनके लिए जीवन-काल ऐहिक स्वार्थोंकी पूर्तिका एक व्यवसाय-काल होता है। उसी व्यवसायकी सिद्धिमें ही वे जीवनकी सच्ची समृद्धि देखते हैं। वे ऐहिक स्वार्थके आधारपर धर्म और अधर्म तथा नीति

और दुर्नीतिके दो स्पष्ट पथ निर्मित कर देते हैं। उनके द्वारा जो समाज-संगठन होता है, उसमें पार्थिव विभूतिकी उन्नतिकी भावना रहती है। यथार्थ जगत्में उनकी नीतिकी उपयोगितामें किसीको भी सन्देह नहीं हो सकता। पर जो अलौकिक आनन्दके पिपासु होते हैं, उनके लिए सांसारिक नीतिकी यह मर्यादा तिरस्करणीय हो जाती है। वे सुख नहीं, आनन्द चाहते हैं, इसीलिए वे दुखको भी स्वीकार कर उसमें करुण रसका आस्वादन करते हैं।

साहित्यके क्षेत्रमें कला आनन्दकी धाराको स्वीकार करती है और विज्ञान यथार्थ जगत्की परीक्षाको स्वीकार करता है। तभी तो जो कलाकार या कवि होते हैं उनमें हम लोग चिरन्तन तारुण्यकी आनन्द-धारा पाते हैं। वार्धक्यकी चिन्ता, आशंका और विरक्ति उनकी रचनाओंमें नहीं रहती। जीवन उनके लिए संग्राम न होकर लीलामात्र रहता है। उसमें एक-एक क्षण नवीनता ही लाता है। भविष्य सदैव उज्ज्वल प्रतीत होता है। यथार्थ जीवनमें संघर्ष है, बिकट परिस्थितियाँ भी हैं; परन्तु उन्हींके कारण जीवनमें प्रेम है, उल्लास है और अदम्य उत्साह भी है। कलाकारकी कल्पनामें आनन्दकी जो सच्ची अनुभूति है, उसीके कारण सभी स्थितियाँ रसमय हो जाती हैं। मृत्यु भी एक अपूर्व रससे युक्त होकर भयानक नहीं रह जाती, वह आनन्दमय और मंगलमय हो जाती है।

साहित्यमें ज्ञानके साथ कलाका सदैव संघर्ष-सा होता रहता है। मध्ययुगमें कलाका जो चमत्कार था, वह आधुनिक युगके प्रारम्भमें भाषाकी कृत्रिम जाल-रचनामें परिणत हो गया। परवर्ती ब्रजसाहित्यकी कला यथार्थ जगत्से इतनी दूर हट गई कि लोगोंको कवियोंके उस वाग्जालमें कलाका निष्प्राण रूप लक्षित हुआ। उसीसे उसकी प्रतिक्रियामें साहित्यकी जो नवीन धारा प्रवर्तित हुई, उसमें सत्यकी प्रतिष्ठा की गई। कला सुरुचि, सुनीति और सुशिक्षाका साधन हो गई। पर यह स्थिति अधिक काल तक नहीं बनी रही। साहित्यमें जो एक शुष्कता-सी फैल गई, उसीके विरुद्ध हिन्दीमें छायावाद, रहस्यवाद और प्रगतिवादके रूपसे भिन्न-भिन्न शैलियोंका प्रचार हुआ, जिनमें कलाके साथ सत्यका और यथार्थ जगत्के साथ कल्पना-जगत्का समन्वय हुआ। आधुनिक साहित्यकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें एक ओर कलाके द्वारा

सौन्दर्यके वैचित्र्यकी सृष्टि हो रही है और दूसरी ओर यथार्थ जीवनकी सभी समस्याओंकी सच्ची परीक्षा हो रही है। ज्ञानकी कसौटीपर नीति और आदर्श, धर्म और अधर्म, गरिमा और हीनता, सभीको कसकर यह जाननेका प्रयत्न किया जा रहा है कि जीवनमें सचमुच कौन श्रेय है और कौन प्रेय।

४

कितने ही विज्ञोंका कथन है कि भारतमें जनतंत्रकी स्थापनाके बाद साहित्यकी गतिमें एक शिथिलता-सी आ गई है। हिन्दी-साहित्यके कितने ही आलोचक भी यह कहने लगे हैं कि आजकल जो लोग हिन्दीमें हैं उनके पास देनेके लिए कुछ नई चीज नहीं रह गई है। हिन्दीके लेखकोंकी रचना-शक्ति मानो लुप्त-सी हो गई है। यही कारण है कि हिन्दीमें जितनी अधिक आलोचनाएँ हो रही हैं, उतनी अधिक मौलिक रचनाएँ नहीं हो रही हैं। उपन्यासोंका बाजार जरूर गर्म है, पर अच्छी चीजें उनमें भी कम ही नजर आती हैं। यह बात नहीं है कि हिन्दीमें जिन लोगोंने कुछ समय पहले अपनी रचनाओंके द्वारा गौरव प्राप्त किया है, वे सभी वर्तमान साहित्यके कार्यक्षेत्रसे हट गये हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि हिन्दीके नये लेखकोंमें उच्च कोटिकी रचना-शक्तिका सर्वथा अभाव है।

साहित्यके क्षेत्रमें एक जाता है और दूसरा आप-से-आप उसका स्थान ग्रहण कर लेता है। जो आज नये लेखक समझे जा रहे हैं, उन्हींमेंसे कुछ लोग कुछ समयके बाद साहित्यमें उच्च स्थान भी प्राप्त कर लेते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी-साहित्यका यह निर्माण-काल है। अधिकांश लोगोंकी रचनाओंमें स्थायित्व नहीं रहता। कुछ समय पहले जो लोग साहित्यके क्षेत्रमें काम कर लब्धप्रतिष्ठ हो चुके थे, उनमेंसे कितने ही लेखक अब अपनी महिमा खो बैठे हैं। साहित्यके अनन्त गगन-मण्डलमें ऐसे कितने ही कलाकार उदित होते हैं और अस्त हो जाते हैं। फिर भी यह सच है कि साहित्यकी गतिपर समाजकी स्थितिका प्रभाव पड़ता है। भारतमें स्वाधीनता-प्राप्तिके लिए कितने ही वर्षोंसे जो संग्राम हो रहा था, उसकी समाप्ति हो जानेके बाद साहित्यमें एक प्रेरणा-शक्तिका अभाव अवश्य हो गया है। क्रान्तिका वह युग चला गया और अब निर्माणका युग आ गया।

संघर्षके कालमें प्रचलित रीति-नीति और व्यवस्थाके विध्वंसके लिए हम लोगोंने प्रलयका जो-भैरव नाद सुना, उससे अब साधारण लोगोंको तृप्ति नहीं हो सकती। असाधारण स्थितिमें असाधारण भावोंके द्वारा जो परितोष होता है, वह साधारण स्थितिमें संभव नहीं है। युद्धके समय संहारके कार्यमें शक्तिकी दीप्ति अवश्य प्रकट होती है, पर उसके बाद निर्माण-कालमें उस संहारिणी शक्तिमें शिथिलता आ ही जाती है। यह सच है कि जब तक हमको अपनी वर्तमान स्थितिसे उग्र असंतोष नहीं होता, तब तक हम अपनी उन्नतिके लिए सचेष्ट भी नहीं होते। उन्नतिशील समाजकी आकांक्षाएँ सदैव ऊँची रहती हैं। भविष्य गौरवको प्राप्त करनेके लिए वह वर्तमान स्थिति अतिक्रमण करना चाहता है। पराधीनताके पाशमें बद्ध होकर हम लोगोंने अपनी यथार्थ स्थितिकी समीक्षा की। देशमें यथेष्ट दरिद्रता थी, उसीके कारण साहित्यमें किसानों और मजदूरोंको नर-कंकालके रूपमें प्रदर्शित कर हमने उनकी दयनीय अवस्थाको साहित्यमें एक स्थान दे दिया। पर नर-कंकालका यह रूप उनके जीवनके यथार्थ गौरवका सूचक नहीं है। हमें तो अब यह प्रदर्शित करना है कि उनके जीवनमें वह यथार्थ गरिमा कहाँ है।

समाजमें क्रान्ति आने पर पहले यथार्थवादका प्रचार होता है; परन्तु किसी आदर्शके निर्माणमें उसका अन्त होता है। क्रान्तिमें असंतोष और विद्रोहकी जो भावना रहती है, वह समाजको एक ऐसे आदर्शकी ओर प्रेरित करती है, जहाँ वह सुख, संतोष और शान्तिकी चरम स्थिति देखता है। पराधीनताके पाशसे मुक्त होकर हमने जनतंत्र तो स्थापित कर लिया है, पर जनताकी हीनावस्था अभी तक बनी हुई है। अभी तक उसमें वही बुभुक्षा, वही अशान्ति और वही असंतोष है। वह अभी तक जीवनकी गरिमा नहीं प्राप्त कर सकी है। समाजके भीतर भिन्न भिन्न विचार-धाराओंका जो संघर्ष हो रहा है, उससे जनता किंकर्त्तव्य-विमूढ़-सी हो रही है। उसने अभी तक अपनी उन्नतिका यथार्थ मार्ग निश्चित नहीं किया है। वह अभी तक यह भी नहीं समझ सकी है कि उसके जीवनका यथार्थ गौरव कहाँ है, उसका सच्चा ध्येय या आदर्श क्या है? हिन्दी साहित्यमें कुछ वर्षोंके भीतर जिन भिन्न-भिन्न वादोंका प्रचार हुआ, वे सब इसी गरिमाको प्राप्त करनेके प्रयास-

मात्र हैं। नवीनताके कारण कुछ अंश तक लोकप्रियता प्राप्त कर लेनेके बाद भी उनका प्रभाव जनतापर नहीं पड़ा; क्योंकि जनताने उसमें अपने जीवनका सच्चा आदर्श प्राप्त नहीं किया। इसीसे एक क्षुद्र सीमामें उनका प्रचार परिमित होनेके कारण वे सभी वाद अब समालोचनाके विषय-मात्र हो गये हैं। अभी कला और साहित्यमें उसी एक वादकी आवश्यकता है, जिसमें लोक-कल्याणकी सच्ची भावना निहित हो। यही कारण है कि हिन्दीके लेखक भी भिन्न भिन्न वादोंके समर्थन या विरोधमें ही अपनी शक्तिका अपव्यय कर रहे हैं। स्वाधीनताके भैरव नादसे उनमें जो अंतःप्रेरणा उदित हुई थी, वह अब भिन्न-भिन्न वादोंके तर्कजालमें लुप्त हो गई है।

५

समालोचनाके द्वारा सत् साहित्यकी समीक्षा होती है। उसीसे लोकरुचि निर्मित होती है और परिष्कृत भी। कहा गया है कि जब तक विद्वानोंको परितोष नहीं होता, तब तक कलाकी सफलता भी नहीं मानी जाती। परन्तु समालोचनाके लिए कोई ऐसा मापदण्ड नहीं है, जिससे किसी भी रचनाकी उत्तमता या निकृष्टता प्रमाणित होनेमें किसी भी प्रकारका सन्देह ही न हो। यह देखा गया है कि किसी युगमें समालोचकोंके द्वारा प्रशंसित होने पर भी कोई रचना थोड़े ही दिनोंके बाद विलुप्त हो गई। इसी प्रकार विज्ञोंके द्वारा तिरस्कृत होने पर भी कितनी ही रचनाएँ साहित्यमें अक्षय हो गईं। बात यह है कि भिन्न-भिन्न विज्ञोंकी अपनी धारणाएँ और रुचियाँ होती हैं। रचना-की परीक्षामें देश और कालकी भी सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती।

हिन्दीमे समालोचनाओंकी कुछ ऐसी भी प्रत्यालोचनाएँ निकलती हैं, जिनमें यह कहा जाता है कि किसीकी स्तुति या निन्दा करनेके ही लिए आलोचनाएँ लिखी जाती हैं। कभी-कभी तो यहाँ तक कहा जाता है कि आजकल समालोचक ही कवि बनाते हैं, कवि समालोचक नहीं बनाते। परंतु सच्ची बात यह है कि कितना भी निष्पक्ष समालोचक क्यों न हो, वह अपनी व्यक्तिगत रुचि और धारणाकी उपेक्षा नहीं कर सकता। समालोचना प्रतिकूल हो या अनुकूल, उससे कविको न तो विशेष लाभ होता है और न हानि।

कविता एकमात्र आनन्दकी सृष्टि होती है। वह कविकी सच्ची स्वानुभूतिका फल है। दूसरोंको यदि उसकी रचनाओंसे आनन्द मिलता है, तो यह अच्छी बात है और यदि उनसे किसीको आनन्द नहीं मिलता, तो यह कोई बुरी बात नहीं है। सूर्योदय और सूर्यास्तमें प्रकृतिकी जो अपूर्व शोभा होती है, वह सभी लोगोंके मनको मुग्ध नहीं करती। कविके अंतःसुखमें सुख पानेके लिए पाठकोंकी भी एक विशेष मानसिक स्थिति चाहिए। जब तक हममें वह मानसिक स्थिति नहीं है, तब तक हम किसी भी कविकी रचनासे सच्चा आनन्द नहीं प्राप्त कर सकते।

कहा जाता है कि जब राबर्ट ब्राउनिंगकी कविताएँ प्रकाशित हुईं तब लार्ड टेनीसिनने कहा कि मैं इसके पहले और अन्तिम शब्दको छोड़कर और और कुछ नहीं समझ सका हूँ। यह कोई असाधारण बात नहीं है। सभी पाठक अपने-अपने मनके अनुकूल ही रचनाओंको पढ़ते हैं। एक बार जो जिसकी ओर आकृष्ट हो जाता है, उसे वह सहसा नहीं छोड़ सकता। प्रौढ़ावस्थामें तो रुचि इतनी दृढ़ हो जाती है कि फिर हम सहसा किसी नई रचनाको पसन्द नहीं कर सकते। कहा जाता है कि एक बार विक्टर ह्यूगोको कोई व्यक्ति कुछ सुन्दर कविताएँ सुनाना चाहता था। उसने कहा—'मैं आपको बड़ी सुन्दर कविताएँ सुनाना चाहता हूँ।' विक्टर ह्यूगोने उत्तर दिया—'मैं उन्हें पढ़ चुका हूँ।' उस व्यक्तिने कहा—'नहीं, आपने उन्हें नहीं पढ़ा है। वे बिलकुल नई रचनाएँ हैं।' विक्टर ह्यूगोने कहा—'तब वे अच्छी भी नहीं हैं।' स्वयं द्विवेदीजीने छायावादके नामसे प्रसिद्ध कितनी ही कविताओंकी कटु आलोचना की थी। उस समय पंडित रामचन्द्र शुक्ल तथा अन्य विज्ञोंकी भी धारणाएँ उन कविताओंके प्रति अच्छी नहीं थीं।

अँग्रेजीके एक प्रसिद्ध लेखकने लिखा है कि साधारणतया लोगोंमें सत्के संबंधमें जो धारणा प्रचलित रहती है, उसके साथ सत् कविताका मेल नहीं खाता। जब तक कवियोंमें उस प्रचलित सत्के सम्बन्धमें एक विद्रोहका भाव रहता है, तब तक उनकी रचना-शक्तिमें एक विशेष स्फूर्ति भी रहती है। फ्रांसकी क्रान्तिने उस युगमें प्रचलित सारी सुव्यवस्थाओंको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। नीति और विश्वास सभीमें क्रान्तिकी आँधी आ गई थी। वर्ड्सवर्थको

तरुणावस्थामें फ्रांसकी उस क्रान्तिसे बड़ी सहानुभूति थी। उस समय वह फ्रांस गया। अविवाहित होनेपर भी उसके एक कन्या हुई। उस समय वह कलंक और निन्दाका पात्र हो गया था, परन्तु उसी कालमें उसने सर्वोत्तम कविताओंकी रचनाएँ कीं। इसके बाद उसने प्रचलित सत् सिद्धान्तोंको स्वीकार कर लिया और अपनी उस कन्याका परित्याग कर वह सज्जनोंमें परिगणित हो गया, तब उसने अत्यन्त हीन कविताएँ लिखीं। कालेरिजके सम्बन्धमें भी यही बात कही जाती है। जब वह उद्धत और उद्दण्ड था और जब उसमें दुर्दम्य वासना थी, तब उसने 'कुबलाखाँ' नामक श्रेष्ठ कविताकी रचना की। जब वह शान्त और शिष्ट हो गया, तब वह एक भी कविता नहीं लिख सका। क्रामवेलके राजत्व-कालके पहले मिल्टन भी विद्रोही था। उसकी गणना सज्जनोंमें नहीं की जा सकती थी। जब क्रामवेलका प्रभुत्व स्थापित हो गया तब वह भी एक सज्जन बन गया। क्रामवेलका प्रभुत्व नष्ट होनेके बाद फिर उसकी गणना दुर्जनोंमें होने लगी; परन्तु उसने क्रामवेलके राजत्व-कालके पहले और पीछे ही श्रेष्ठ कविताओंकी रचना की है। स्विनबर्नकी जो कविताएँ उच्चकोटिकी हैं, उनकी रचना उसने उस समय की, जब वह दुश्चरित्र माना जाता था।

चरित्रकी हीनतासे रचना-शक्तिका विशेष सम्बन्ध हम भले ही न स्वीकार करें; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जब तक कवियोंमें तारुण्यकी उद्दाम प्रवृत्ति नहीं रहती, तब तक उनमें रचना-शक्तिके लिए स्फूर्ति भी नहीं आती। कहा जाता है कि जो अभिज्ञता वृद्धावस्थामें आ जाती है, वह उसे अतीतमें बद्ध कर मर्यादाकी रक्षा और नीतिके निर्वाहके लिए प्रेरणा देती है। परन्तु तरुणोंका शास्त्र है उनकी प्रबल आशा, उनकी महत्वाकांक्षा और उनका अदम्य उत्साह। वे किसीकी भी बात नहीं सुनते। वे निन्दा और कलंकको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि भविष्यकी ओर रहती है। वे यह मानते हैं कि धर्म और सुनीतिका यह संस्कार उन्हें भविष्यकी ओर नहीं, अतीतकी ओर ले जाता है। वह प्रगतिके पथपर केवल बाधक ही नहीं, घातक भी है।

आधुनिक हिन्दी-साहित्यमें जब पंत और निराला, प्रसाद और जैनेन्द्र,

उग्र और भगवतीचरण वर्मा आये, तब वे प्रचलित साहित्यके आदर्शके प्रति एक विद्रोहकी भावना लेकर ही आये। जब तक उनमें तारुण्यकी वह स्फूर्ति थी, तब तक उनकी रचनाओंमें भी एक नवीनता और अपूर्वता थी। उन्होंने साहित्यके क्षेत्रमें एक हलचल मचा दी। पर ज्यों ही वह हलचल शान्त हुई और उनकी सत्-साहित्यमें परिगणना हुई त्यों ही उनकी रचना-शक्तिमें एक शिथिलता भी आ गई। अब उनकी रचनाओंमें वह ओज नहीं है, वह अपूर्वता नहीं है, वह क्षिप्रता भी नहीं है।

सभी श्रेष्ठ लेखकोंके जीवनमें रचनाके लिए एक विशेष काल रहता है। उस कालमें उनकी रचना-शक्तिका जो उत्कर्ष रहता है, वह फिर नहीं रहता। ऐसे कितने ही लेखक हुए हैं जिनकी सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ उसी समय निकलीं जब उन्होंने साहित्यके क्षेत्रमें ख्याति प्राप्त नहीं की थी। जब उन्होंने ख्याति प्राप्त कर ली तब उनकी रचना-शक्तिमें भी शिथिलता आ गई। कुछ ऐसे भी लोग हुए हैं; जो आजीवन साहित्यमें कामकर अज्ञात ही बने रहे। पर उनकी मृत्युके बाद उनकी रचनाओंका आदर हुआ।

किसी लेखककी ख्याति और प्रतिष्ठा उसकी लोकप्रियतापर भी निर्भर रहती है। यह सच है कि यह लोकप्रियता साहित्यकी सच्ची कसौटी नहीं है, फिर भी किसी विशेष समयमें जब किसीकी रचना विशेष लोकप्रिय हो जाती है, तब वह कीर्ति पा ही जाता है। लार्ड बायरनके सम्बन्धमें कहा जाता है कि वह एक दिन सोकर उठा और उसने देखा कि सारे विश्वमें उसकी कीर्ति फैल गई है। हिन्दी-साहित्यमें भी मधुशालाकी सृष्टिकर बच्चनजी साहित्य-संसारमें खूब लोकप्रिय और प्रसिद्ध हो गये। समालोचक साहित्यकी कैसी भी समीक्षा करे, किसीकी कैसी भी निन्दा या स्तुति करे, पर यह सच है कि कवि अपनी लोकप्रियतासे ही जितनी अधिक प्रसिद्धि पा लेता है, उतनी किसी भी समालोचककी निन्दा और स्तुतिसे संभव नहीं है।

२—भारतीय कथा-साहित्यका विकास

१

भारतीय उपन्यासोंका आधुनिक रूप हम लोगोंको पश्चिमसे ही मिला है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय कथा-साहित्यके विकासमें एकमात्र पाश्चात्य साहित्यका ही प्रभाव पड़ा है। भारतीय कथा-साहित्यकी जो एक परम्परा है, उसकी ओर ध्यान देना भी आवश्यक है। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि सन् १८५७ से भारतीय भाषाओंमें उपन्यासका आधुनिक रूप लक्षित होने लगा है। परन्तु पाश्चात्य साहित्यमें लगभग २५० वर्षोंसे उपन्यासोंका निर्माण होता आया है इसीलिये पाश्चात्य साहित्यमें औपन्यासिक कलाने क्रमशः एक विशेष रूप धारण कर लिया। इसीसे उन देशोंमें कितने ही वर्ष पहले उपन्यासोंने साहित्यमें गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। वहाँ जैसे नाटकोंका क्रमशः विकास होता आया, वैसे ही उपन्यासोंका भी विकास होता आया है। भारतीय साहित्यमें कभी महाकाव्यों और नाटकोंका युग था। महाकाव्य और नाटक दोनोंमें कथा-वस्तुकी प्रधानता रहती है। परन्तु उनमें कवित्व-कलाका ही चरम उत्कर्ष प्रदर्शित होता है। इसलिए महाकाव्य यदि श्रव्य-काव्य है, तो नाटक दृश्य-काव्य है। प्राचीन युगमें कादम्बरी, वासवदत्ता और दशकुमार-चरितमें गद्यका आश्रय लेकर कथाका जो निर्माण किया गया है, उसमें भी कवित्व कलाका चमत्कार प्रदर्शित हुआ है। उनकी गणना भी गद्य-काव्योंमें की जाती है। पाश्चात्य साहित्यमें उपन्यासोंकी गणना काव्योंमें नहीं की गई, प्रारम्भहीसे उनमें जन-जीवनकी यथार्थता अंकित करनेका प्रयास किया गया है। इसीलिए उनका

औपन्यासिक साहित्य जनताके मनोविनोदका सबसे सुलभ साधन हो गया। वह एक विशेष रसिक वर्गके लिए कभी निर्मित नहीं हुआ।

२५० वर्षोंसे जिस औपन्यासिक साहित्यका विकास होता आ रहा है, उसके ह्रासका भी लक्षण वहाँ लक्षित होने लगा है। अँगरेजीके एक समालोचकने लिखा है कि आधुनिक उपन्यासोंके सम्बन्धमें अब एक तिरस्कारका भाव आता जा रहा है। साहित्य-जगत्में भी अब उनकी उतनी चर्चा नहीं होती, जितनी पहले होती थी। आधुनिक उपन्यास-लेखकोंके प्रति विज्ञोंमें एक उपेक्षाका भाव आ रहा है। उसका कारण यह बतलाया जाता है कि आधुनिक उपन्यास अपने गुण-गौरवसे हीन होते जा रहे हैं।

यह सच है कि साहित्यके इतिहासमें कभी सहसा एक ऐसा निर्माणका काल आता है, जिसमें लेखकोंकी विलक्षण रचना-शक्ति व्यक्त होती है। उसके बाद जो युग आता है, उसमें वह रचना-शक्ति शिथिल-सी पड़ जाती है, साहित्य-जगत्में निश्चेष्टता-सी आ जाती है। लेखकोंमें अनुकरणकी प्रवृत्ति आ जाती है। उनमें मौलिक रचना-शक्ति नहीं रह जाती। वे अपने अतीत कालके गौरव-पथपर ही चुपचाप अग्रसर होते रहते हैं। किसी नवीन पथको ग्रहण करनेका साहस उनमें नहीं होता। इसीसे उनकी कृतियोंमें नवीनता नहीं रह जाती! परन्तु सहसा निश्चेष्टताका यह युग समाप्त हो जाता है और फिर साहित्यमें एक ऐसा नवयुग आ जाता है, जिसमें कल्पनाकी नव सृष्टि होने लगती है। साहित्य-जगत्में भी मानो कभी तरुणावस्था आती है, कभी प्रौढ़ावस्था हो जाती है और फिर वृद्धावस्था आ जाती है। रूसके साहित्यमें औपन्यासिक साहित्यका भव्य रूप गोगोलसे प्रारम्भ हुआ और गोर्कीमें उसका अन्त हो गया। इंगलैंडमें फील्डिंगसे उपन्यासकी जो कला प्रारम्भ हुई, वह विक्टोरियाके युग तक बराबर विकसित होती आई। उसके बाद वह कुछ काल तक शिथिल-सी हो गई। फिर गैल्सवर्दी, बेनेट और वेल्सका युग आया। उसके बाद कथा-साहित्यमें एक हीनता-सी आ गई। विज्ञोंका कथन है कि १९१४ से विश्वकी स्थितिमें जो एक अव्यवस्था-सी आती जा रही है, उसके कारण साहित्यके क्षेत्रमें भी एक संशयावस्था आ गई है। जीवनमें जो उल्लास होता है, जो स्फूर्ति होती है, जो एक आवेग

रहता है, उसके कारण एक गौरवकी प्राप्तिके लिए मनमें व्यग्रता आ जाती है। उस समय हम विश्वके रहस्यागारमें प्रविष्ट होकर उसके सभी रहस्योंका उद्-घाटन करनेमें आनन्दकी अनुभूति करते हैं। जीवनकी किसी भी स्थितिमें हमें हीनताकी वह अनुभूति नहीं होती, जो हमारी कल्पना-शक्तिको अवरुद्ध कर देती है। एक-एक व्यक्तिका जीवन हमें रहस्यमय प्रतीत होता है। उसमें भावोंका जो उत्थान और पतन होता रहता है, उसके कारण उसका जीवन कम विलक्षण प्रतीत नहीं होता। दैनिक जीवनमें भी क्षुद्र स्वार्थोंमें चरित्रका एक उत्कर्ष लक्षित होता है। प्रेम और विद्वेष, त्याग और लोभ, सेवा और प्रतिहिंसाकी जो घटनाएँ प्रतिदिन होती रहती हैं उनमें भी जीवनका एक गौरव रहता है। उपन्यासोंमें कल्पनाके द्वारा जो माया-लोक निर्मित हुआ, उसमें एक साधारण व्यक्तिके साधारण जीवनकी साधारण कथा भी कौतूहलप्रद, विस्मयप्रद और आतंकप्रद होनेके कारण आनन्दप्रद हो जाती है। उनमें कल्पनाका स्वच्छन्द विकास है; मनकी ऐसी कोई भी स्थिति नहीं है, जो उसमें अंकित न की गई हो।

मर्त्यलोकको अतिक्रमण कर विश्वके अनन्त क्षेत्रमें भी कल्पनाने विहार किया है। ज्यों ही आधुनिक कलाकारोंकी प्रवृत्ति जीवनकी हीनताको अंकित करनेकी ओर हुई, त्यों ही उसमें जीवनका उल्लास नष्ट हो गया। मनुष्योंमें सुप्रवृत्तियाँ हैं और दुष्प्रवृत्तियाँ भी। रूसके एक विज्ञने एक बार लेखकोंकी सभामें कहा था कि मनुष्योंमें जो दुष्प्रवृत्तियाँ हैं, उनमें उसके जीवनकी यथार्थता नहीं है। यह सच है कि जीवनकी यथार्थ स्थितिका वर्णन करनेपर हम मनुष्योंकी दुष्प्रवृत्तियोंकी उपेक्षा नहीं कर सकते, पर एकमात्र उन्हींको जीवन-की यथार्थता समझ लेना भी भूल है। जीवनके गौरवका अभाव होनेसे उप-न्यासोंमें कथाका रस आपसे आप लुप्त हो जाता है।

अभी हालमें हिन्दी और मराठीके कुछ साहित्यकारोंने हिन्दी तथा मराठीके उपन्यासोंकी तुलनात्मक चर्चा की थी। उनकी यह चर्चा नागपुर-रेडियो द्वारा प्रसारित हुई थी। आप्टेके उपन्यासोंके सम्बन्धमें यह कहा गया है कि उसमें भारतीय कथावस्तु असली रूपमें पाई जाती है। यदि कोई विदेशी आप्टेके उपन्यास पढ़े, तो उस कालके हमारे सामाजिक जीवनका यथार्थ चित्र वह

अवश्य देख लेगा। प्रेमचन्दजीके उपन्यासोंके सम्बन्धमें भी यह कहा गया है कि उनमें भारतीय जीवनका सरल, स्वाभाविक और सजीव रूप चित्रित हुआ है। हिन्दीके आधुनिक कलाकारोंके सम्बन्धमें यह बतलाया गया है कि वर्तमान कलाकार आधुनिक विज्ञान, मनोविज्ञान आदिसे जो प्रेरणा ले रहे हैं, उनके प्रभावके कारण जीवनमें विश्वास, श्रद्धा और आत्मिक परिपूर्तिके स्वर जैसे खो गए हैं। हिन्दीके प्रसिद्ध उपन्यासकार अंचलजीकी सम्मति है कि आधुनिक उपन्यासके चरित्रोंमें जीवनके प्रति श्रद्धा और आस्थाका अभाव दृष्टिगोचर होता है। उपर्युक्त विज्ञोंकी बातोंसे कोई सहमत हो या न हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि प्रेमचन्दजीके बाद उपन्यासोंकी शैलीमें कुछ ऐसा परिवर्त्तन हो गया है कि उनमें जनताको कथाका वह रस प्राप्त नहीं होता, जिसके कारण कोई कथा चिरन्तन आनन्दका साधन हो जाती है।

भारतवर्षमें कथाकी जो परम्परा है, उसमें जीवनका सच्चा गौरव प्रदर्शित हुआ है। सच तो यह है कि भारतीय जनताने उन्हीं कथाओंसे धर्म और नीतिके यथार्थ तत्त्व प्राप्त किए हैं। परन्तु यह बात नहीं है कि सभी कथाएँ धर्म और नीतिके तत्त्वकी शिक्षा देनेके लिए ही निर्मित हुई हैं। अधिकांश कथाओंमें आनन्दकी विशुद्ध अनुभूतिके भाव व्यक्त हुए हैं। उनमें व्यंग है, परिहास है, विस्मय है, कौतूहल है और जीवनके प्रति सच्चा उल्लास है। उनमें जीवनकी सच्ची समीक्षा भी की गई है। उनमें साहसकी स्फूर्ति है और शौर्यकी गरिमा है। उन सभी कथाओंमें एक ऐसी सरसता और सरलता है कि वे तुरन्त ही श्रोताओंको आकृष्ट कर लेती हैं। वे कथाएँ श्रोताओंके ही लिए लिखी गई थीं। मनकी स्वच्छन्द स्थितिमें राजा और प्रजा सभीके मनोविनोदके लिए वे कथाएँ कही जाती थीं। यह विशेषता केवल भारतीय कथा-साहित्यमें ही लक्षित नहीं होती। चीनके कथा-साहित्यकी भी यही विशेषता है। 'डेविड मारगन' नामक अँगरेजीके एक विज्ञ समालोचकको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि 'पु सुंग लिंग' नामक चीनी लेखककी कथाओंमें कलाका अपूर्व चमत्कार है। उनके आश्चर्यका कारण यह था कि चीनमें उपन्यासोंकी गणना साहित्यमें नहीं की जाती थी। यही बात प्राचीन भारतीय कथा-साहित्यके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है।

भारतवर्षमें भी उपन्यासोंकी ओर विज्ञोंका एक उपेक्षा भाव ही था। चीनमें यह समझा जाता था कि साहित्यमें जो कला होती है, उसका एक विशेष उद्देश्य समाजके जीवनका विकास होता है। उपन्यासोंमें सामाजिक जीवनके विकासके लिए ऐसा कोई लक्ष्य नहीं रहता। वह केवल मनोविनोदका साधन-मात्र होता है। अतएव साहित्यमें उसका कोई महत्त्व नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि चीनमें उपन्यासोंके विकासका मूल जनतामें प्रचलित कथाओंके भीतर है। उनमें जनताके जो मनोभाव व्यक्त हुए हैं, उनसे प्रकट होता है कि विज्ञोंके ज्ञान-गौरवके प्रति उनमें तिरस्कारका भाव था। कठिन अध्यव्यवसायके द्वारा ज्ञानका जो गौरव विज्ञ लोग अर्जित करते थे, उसमें वे लोकजीवनका कोई उल्लास या हर्ष नहीं पाते थे। वे यही समझते थे कि शुष्क ज्ञानकी चर्चामें जीवनका रस विलुप्त हो जाता है।

एक कथामें बतलाया गया है कि एक बार जंगलके कुछ पशु शिकारके लिए निकले। सभी पशु कुछ न कुछ लेकर आये। केवल बाघ ही कुछ न ला सका। उसने बतलाया कि उसे राहमें ऐसे ही लोग मिले, जिनकी हड्डियोंमें भी कोई रस नहीं था। उसे पहले एक छात्र मिला, फिर एक धर्मगुरु और अन्तमें एक विज्ञान-विशारद। बाघने उन तीनोंको छोड़ दिया। उसने सोचा कि कौन इन तीनोंकी सूखी हड्डियोंमें अपने दाँत तोड़ेगा।

इस प्रकार जनताके ही भीतर जनताके मनोविनोदके लिए चीनमें कथा-साहित्यका विकास हुआ। उसमें न कलाका कृत्रिम चमत्कार था और न ज्ञानकी गरिमा, उसमें था जनताके जीवनका उल्लास। वह उल्लास उन्हींकी भाषामें व्यक्त हुआ था। उस भाषामें ऐसी सरलता, स्वाभाविकता और सरसता थी कि वह तुरन्त ही साधारण जनोंके हृदयको स्पर्श कर लेती थी। उन कथाओंके लिए पाठक नहीं, श्रोता होते थे। कोई एक वक्ता होता था, बाकी सब श्रोता। जब चीनके सम्राटोंने जनताकी स्थिति जाननेके लिए उनके पास गुप्तचर भेजे, तब उन्होंने सम्राट्को जनतामें प्रचलित कथाएँ भी सुनाईं। सम्राट् भी उन कथाओंको सुनकर मुग्ध हो गया। इसके बाद जनतामें भी सम्राटोंके विलास, वैभव, प्रतिहिंसा और षड्यंत्रकी कथाएँ प्रचलित हुईं। श्रोताओंने उन्हें सुनकर यह अनुभव किया कि सम्राटोंमें भी उन्हींके समान अक्षमता और क्षमता है। कितने

ही युगों तक कथाओंका निर्माण होता रहा। यह बतलाना असंभव है कि कब, किसने कौन-सी कथा गढ़ी। उस कथा-साहित्यमें पाश्चात्य उपन्यासकारोंकी कथाओंके सभी तत्त्व विद्यमान थे। फिर भी वहाँ कोई बड़ा उपन्यासकार नहीं हुआ। चीनके उपन्यासोंकी रचना चीनकी ही जनताने की। उनपर उन्हींका अधिकार था। वे कथाएँ उनके जीवनसे सम्बद्ध थीं, उन्हींसे उनका विनोद होता था। उसमें उनके दैनिक जीवनके सुख-दुख, आशा-निराशा, प्रेम-विद्वेषका सच्चा चित्र अंकित हो जाता था। यही कारण है कि चीनके आधुनिक उपन्यासके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि सच्ची विशेषताएँ और गरिमा लक्षित होती है।

हिन्दीके आधुनिक उपन्यासोंमें विदेशी टेकनीक और शैलीकी छाप भले ही रहे; परन्तु उनमें भारतीयताका सच्चा विकास होनेसे ही उनकी अपनी एक विशेषता लक्षित होगी। तभी उनका महत्त्व भी है। पाश्चात्य जीवनका आदर्श भारतीय जीवनका आदर्श नहीं है और न पाश्चात्य समाजकी समस्या भारतीय समाजकी समस्या है। अँगरेजोंके आधिपत्य-कालमें बहिर्जगत्में हीनता होने पर भी अन्तर्जगत्में एक गौरव देखनेका प्रयास किया गया। बहिर्जगत्में सदाचारकी प्रतिष्ठा न होनेपर भी अन्तर्जगत्में सत्के लिए एक कामना होती है। समाजमें सुधारकी जो भावना प्रचलित हुई, उससे जो अन्तर्जगत्की परीक्षा आरम्भ हुई, उसी कार्य और भावके पारस्परिक सम्बन्धमें बड़ी विलक्षणता प्रकट हुई। समाजसे अधिक व्यक्ति असाधारण प्रतीत हुआ और उसमें उसकी कामना। बहिर्जगत्में जब कामनाके लिए कोई स्थान नहीं रहता, तब वह अंतर्जगत्में प्रबल हो उठती है। देशमें जब स्वाधीनताके लिए आन्दोलन हुआ, तब तरुणोंमें विद्रोहकी एक भावना प्रबल हो उठी। शासनके बन्धनके साथ समाजके बन्धन भी उन्हें असह्य प्रतीत होने लगे। रवीन्द्र बाबूने सबसे पहले संदीपके चरित्रमें, कामनाकी यथार्थताको प्रकट किया। उनके एक दूसरे उपन्यास 'आँखकी किरकिरी'में 'माया' के रूपमें नारीके हृदयकी प्रसुप्त कामनाकी तीव्रता भी अंकित हुई। संदीपके चरित्रसे तारुण्यकी वह उद्दाम वासना प्रत्यक्ष हो गई, जो विद्रोहमें ही होती है। संदीपने दृढ़ताके साथ इस भावको अपने जीवनमें स्वायत्त कर

लिया कि जिनमें कामनाकी जितनी अधिक प्रवृत्ति रहती है, वह उतनी ही अधिक शक्तिके द्वारा संसारको वशीभूत करना चाहता है। जिसका मन उद्दाम वासनासे युक्त होता है, जो अपनी सारी शक्ति लगाकर प्राणपणसे प्रयत्न करना जानता है, वही सुखका यथार्थ उपभोग कर सकता है। उसके लिए विघ्न अवरोधक नहीं हैं, विघ्नोंसे ही उन्हें प्रेरणा मिलती है। उनमें किसी तरहकी आशंका या संकोच नहीं रहता। जिनकी प्रचण्ड कामना होती है, जिनकी अदम्य वासना होती है, उनमें लज्जाका भाव नहीं होता। संसारमें लोग जिसे लोभ कहते हैं, वही उनकी शक्तिको सच्ची प्रेरणा देता है। स्त्रियाँ भी यही समझती हैं कि इस अदम्य वासनामें ही संसारकी सच्ची आत्म-शक्ति विद्यमान है। वही एकमात्र सत्य है। उसके आगे परम्परागत संस्कारोंके सभी आवरण एक एक कर छिन्न-भिन्न होते चले जाते हैं। अंतमें प्रकृतिका सच्चा स्वरूप रह जाता है।

स्त्री-पुरुषके बीच जो एक आकर्षण रहता है, उसको समाज कितने ही तरहके अनुशासन और नियम निर्मित कर कृत्रिम आवरणमें छिपाकर रखनेका प्रयत्न करता है। परन्तु जिस समय मनुष्यकी यथार्थ प्रकृति सत्यका आह्वान सुनकर जाग पड़ती है, उस समय वह समाजद्वारा निर्मित सभी तर्क, ज्ञान और नीतिके जालोंको तोड़कर अपने यथार्थ स्थानपर आ खड़ी होती है। उस समय धर्मका कोई भी आदर्श और नीतिकी कोई भी शृंखला उसे अग्रसर होनेसे नहीं रोक सकती। आधुनिक कथा-साहित्यने संदीपमें यथार्थ नायक पाया और मायामें यथार्थ नायिका। जैनेन्द्र अथवा अज्ञेयजीके पात्रोंमें संदीप और मायाकी ही चित्तवृत्ति किसी न किसी अंशमें काम कर रही है। हरिप्रसन्न अथवा शेखरकी असाधारणतामें संदीपकी ही अहंवृत्ति प्रबल रूपसे व्यक्त हुई है।

वासनाके इसी गौरवको लेकर जब आधुनिक हिन्दी-साहित्यमें असाधारण चरित्रोंका निर्माण होने लगा, तब वासनाके नग्न रूपमें ही जीवनकी यथार्थता प्रकट होने लगी। ऐसी स्थितिमें जीवनका सच्चा मूल्य निर्दिष्ट करना असंभव हो गया। आधुनिक भारतवर्षमें परिस्थितियोंकी विषमता है और विवशता भी। यह भी ठीक है कि भारतीय जीवनमें जो निश्चेष्टता आ गई

है और जो एक नैराश्यका भाव उत्पन्न हो गया है, उसको दूर करनेके लिए साहित्यमें एक ऐसे नव आदर्शकी आवश्यकता है, जिससे जनताको अपने जीवनमें सच्ची प्रेरणा मिले। जनतामें क्रान्तिकी वह भावना उत्पन्न होनी चाहिए, जिससे उसमें सच्ची कर्तृत्व-शक्ति उत्पन्न हो। वासनाकी स्वच्छन्दतामें शक्तिका विकास नहीं होता। अभिसारिकाके रूपमें प्रेमकी उच्छृङ्खलताका और वासनाके उन्मादका चित्र मध्ययुगके साहित्यमें भी अंकित हो चुका है। जनताको उसी आदर्शसे स्फूर्ति मिल सकती है, जिसमें आर्थिक विषमतासे पीड़ित और नव सभ्यताके अभिशापसे निष्प्राण जीवनमें सच्ची स्फूर्तिकी अनुभूति हो। लोग वासनाकी स्वच्छन्द लीला नहीं चाहते, वे जीवनका स्वच्छन्द उल्लास चाहते हैं। वे शरीर, मन, और आत्माकी सच्ची उन्मुक्ति चाहते हैं।

२

कथा-साहित्यमें कुछ उपन्यास घटना-प्रधान होते हैं और कुछ चरित्र-प्रधान। कथा-साहित्यके कितने ही समालोचकोंको कलाका उच्चतम विकास एकमात्र चरित्र-प्रधान उपन्यासोंमें ही लक्षित होता है। आधुनिक हिन्दी-साहित्यके अधिकांश श्रेष्ठ उपन्यास चरित्र-प्रधान ही कहे जा सकते हैं। ऐसे ही उपन्यासोंकी ओर साहित्यके मर्मज्ञ आलोचकोंकी दृष्टि जाती है। ऐसे उपन्यासोंमें व्यक्तिके साथ समाजकी समस्याओंका सूक्ष्म विश्लेषण किया जाता है। साधारणतया हम लोग बहिर्जगत्‌की घटनाओंसे ही परिचित होते हैं। अंतर्जगत्‌की भावनाओंको जान लेना बड़ा कठिन है। कब, कौन, किस भावसे प्रेरित होकर कोई काम करता है, उसको समझ लेनेके लिए एक विशेष सूक्ष्म दृष्टि चाहिए। संसारमें एकसे एक विलक्षण घटनाएँ होती हैं। उन घटनाओंके भीतर मनुष्योंका अंतर्भाव छिपा रहता है। साहित्य-जगत्‌में यथार्थवादकी प्रतिष्ठा होनेपर ऐसे भी उपन्यासोंकी वृद्धि हुई, जिनमें एकसे एक भयानक हत्याओं और बीभत्स अपराधोंका वर्णन है। संसारमें लोभ और हिंसाकी लीलाएँ उतनी ही यथार्थ हैं, जितनी त्याग और प्रेमकी घटनाएँ।

सुर और असुरका संग्राम जीवनमें कभी लुप्त नहीं होता। सभ्यताकी वृद्धिके साथ समाजमें ही नर-पिशाच उत्पन्न हो जाते हैं। उन्हींके जीवनकी रोमांच-कारी घटनाओंका वर्णन पढ़नेसे पाठकोंको कौतूहल, विस्मय और आतंकके भाव होते हैं। यही कारण है कि ऐसे उपन्यास साधारण पाठकोंके लिए विशेष रुचिकर हो जाते हैं। पाश्चात्य साहित्यमें ऐसे उपन्यासोंकी यथेष्ट वृद्धि हुई है, जिन्हें हम जासूसी उपन्यास कहते हैं।

आधुनिक हिन्दी-साहित्यके आदि-कालमें तिलिस्मकी चर्चा कर जैसे देवकी-नन्दन खत्री विशेष लोकप्रिय उपन्यासकार हो गये, वैसे ही गोपालरामजी गहमरीने भी अपने जासूसका 'गोरखधंधा' चलाकर कुछ दिनों तक अच्छी लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी। उनके कितने ही उपन्यास अन्य भाषाओंके ऐसे ही उपन्यासोंके भावानुवाद मात्र थे परन्तु उन्होंने हिन्दीके उपन्यास-क्षेत्रमें एक नए पथका प्रदर्शन अवश्य किया। देवकीनन्दन खत्रीजीके बाद जैसे तिलिस्मकी कथा बिलकुल विलुप्त हो गई, उसी प्रकार गहमरीजीके साथ जासूसका भी अन्त हो गया। यह बात नहीं है कि साहित्य-जगत्में ऐसे उपन्यासोंका कोई स्थान ही नहीं रहता। पर उनके लिए एक विशेष प्रतिभाकी भी आवश्यकता रहती है।

अँगरेजी साहित्यमें भिन्न-भिन्न अपराधोंका पता लगानेवाले तीन जासूसोंकी कथाएँ अक्षय हो गई हैं। अँगरेजी उपन्यासोंका कोई भी ऐसा प्रेमी पाठक न होगा जो 'शर्लाक होम्स,' 'फादर ब्राउन' और डाक्टर 'थार्न डाइक'की विलक्षण कथाओंसे अपरिचित हो। साहित्य-जगत्में उनका यथेष्ट मान है। पाठ्य पुस्तकों तकमें उनकी कथाओंका संग्रह होता है। उनमें भी 'शर्लाक होम्स' विशेष प्रसिद्ध हैं। हिन्दीमें गोपालरामजी गहमरीने उसीको अपने उपन्यासोंमें गोविन्दरामका नाम दिया था।

'शर्लाक होम्स'की सृष्टि 'ए० कानन डायल'ने की थी। उन्होंने एडिन-बर्ग विश्वविद्यालयसे चिकित्सा-विज्ञानकी डिग्री प्राप्त की। छः साल तक उन्होंने दूकान खोलकर रोगियोंकी प्रतीक्षा की; परन्तु उनसे चिकित्सा करानेके लिए कोई भी रोगी नहीं आया। उनकी स्थिति दयनीय हो गई। अर्थोपार्जनके लिए उन्होंने लिखना आरम्भ किया। प्रारम्भमें उनसे भूल हुई। फिर पोके

प्रभावसे उन्होंने जासूसी कहानियाँ ही लिखना निश्चित किया। 'शर्लाक होम्स' की पहली कथा १८८७ में प्रकाशित हुई। पहले उसका विशेष सत्कार नहीं हुआ। परन्तु दो वर्षोंके बाद अमेरिकाके एक सम्पादकने उनसे फिर वैसी ही कहानियाँ लिखनेका अनुरोध किया। कुछ ही समयमें 'शर्लाक होम्स'की प्रसिद्धि चारों ओर हो गई और सर्वत्र उसकी विलक्षण बुद्धिकी चर्चा होने लगी।

कहा जाता है कि 'शर्लाक होम्स' सर्वथा कल्पित व्यक्ति नहीं है। एडिनबर्गके विश्वविद्यालयमें डाक्टर जोसेफ बेल नामके एक प्रसिद्ध सर्जन थे। उन्हींसे कानन डायल, स्ट्रीवेनसन और वेरी नामक विख्यात साहित्यकारोंने शिक्षा प्राप्त की थी। उनमें अवलोकन करनेकी असाधारण क्षमता थी। वे बड़ी सफलतासे अवलोकन करते थे और फिर निश्चित रूपसे किसी निर्णयपर पहुँच जाते थे। एक बार कुछ लोग ऐसे प्रसिद्ध अपराधोंकी चर्चा कर रहे थे, जिनके रहस्यका उद्‌घाटन नहीं हो सका था। डाक्टर बेलने ऐसे अपूर्व ढंगसे उन सब अपराधोंका विश्लेषण किया कि लोग सुनकर चकित रह गये। उनका कहना था कि अधिकांश लोग देखते हैं; परन्तु ध्यानपूर्वक अवलोकन नहीं करते। आप किसी भी मनुष्यको जरा ध्यानसे देखिए। उसके चेहरेसे उसकी राष्ट्रीयताका पता लग जायगा, उसके हाथोंसे उसके जीवन-निर्वाहका साधन ज्ञात हो जायगा, और उसके जीवनकी अधिकांश बातें उसकी चाल-ढाल, रंग-ढंग, कपड़े-लत्तेसे प्रकट हो जावेंगी। एक बार मैं लड़कोंको पढ़ा रहा था। उसी समय एक रोगी आया। मैंने उसको देखकर कहा कि यह 'हाइलैंड रेजीमेंट'का कोई सैनिक रहा होगा और बैंड बजानेवाला। उसकी चाल-ढाल ऐसी थी, जिससे यह प्रकट होता था कि वह हाइलैंडका बाजा बजानेवाला है। वह कदका छोटा था, इसलिए मैंने कहा कि वह बैंड्स-मैन होगा। परन्तु उस आदमीने कहा—मैं तो जूता बनाता हूँ और सेनामें मैं कभी सम्मिलित नहीं हुआ था। मैंने उसको कमीज उतारनेके लिए कहा। कमीज उतारने पर मैंने उसके शरीरपर नीले रंगमें 'डी' अक्षरका दाग देखा। क्रीमियाके युद्धमें जो लोग सेना छोड़कर भाग गये थे, उनपर वही दाग लगाया जाता था। तब उस व्यक्तिने भी स्वीकार किया कि मैं हाइलैंड रेजीमेंटमें था और बैंड बजाता था। उनकी यह बात सुनकर एकने कहा कि

आप तो 'शर्लाक होम्स' की-सी बातें करते हैं। तब डाक्टर बेलने उत्तर दिया कि मैं ही सचमुच शर्लाक होम्स हूँ।

जब कानन डायलने जासूसी कहानियाँ लिखनेकी बात सोची, तब उन्हें अपने पुराने अध्यापक डाक्टर बेलकी याद आई। उन्होंने सोचा कि यदि वे जासूस होते, तो पता लगानेके कामको बिलकुल वैज्ञानिक रूपसे करते। उस समय क्रिकेटके एक खिलाड़ीका नाम होम्स था और उसीके नामका अनुसरण कर उन्होंने अपने जासूसका नाम 'शर्लाक होम्स' कर दिया। डाक्टर बेलका जो सिद्धान्त था, उसीके अनुसार 'शर्लाक होम्स' अपराधोंका विश्लेषण कर किसी निर्णयपर पहुँचता था। डाक्टर बेल अपने विद्यार्थियोंको छोटी-छोटी बातोंकी महत्तापर ध्यान देनेके लिए बारबार कहा करते थे। उन्होंने एक बार एक मित्रको बतलाया कि हाथसे काम करनेवाले सभी मजदूरोंके हाथोंमें एक विशेष चिह्न हो जाता है। जो लोग खदानोंमें काम करते हैं, उनके हाथोंमें जो चिह्न होता है, वह पत्थर ढोनेवालोंके हाथमें नहीं रहता। बढ़ईकी विशेषता मकानके कारीगरमें नहीं पाई जाती। सैनिक और नाविककी चालमें अवश्य भिन्नता रहती है। जो डाक्टर अच्छी तरह अवलोकन करता है, वह रोगीके बतलानेके पहले ही यह समझ सकता है कि वह अपने किस अंगकी पीड़ाके सम्बन्धमें बातचीत करेगा। अवलोकनकी यह शक्ति एकमात्र जासूसोंके लिए ही आवश्यक नहीं है, परन्तु डाक्टरोंके लिए भी अत्यन्त आवश्यक है। साधारण व्यक्ति भी यदि अपनी इस शक्तिका विकास करे, तो उसे अपने जीवनमें यथेष्ट उत्तेजना और उल्लासकी सामग्री प्राप्त होती रहेगी।

डाक्टर बेलकी एक बहिनने बतलाया कि जब कभी डाक्टर बेल किसी ट्रेनसे यात्रा करते, तब दूसरे यात्रियोंके सम्बन्धमें कितनी ही बातें बतलाते थे। वे कहाँसे आ रहे हैं, कहाँ जावेंगे, उनका व्यवसाय क्या है, उनकी आदतें कैसी हैं, आदि बातें केवल एक बार देखकर वे बतला देते थे। यात्रियोंसे पूछनेपर उनकी सभी बातें ठीक उतरती थीं। हम लोग उन्हें जादूगर कहा करते थे परन्तु डाक्टर बेल अपने छात्रोंको यही बात प्रमाणित करते थे कि वह जादू नहीं, विज्ञानका फल है। अवलोकनमें एक

वैज्ञानिक पद्धति चाहिए। एक बार डाक्टर बेल अपने कमरेमें बैठे हुए थे। किसीने दरवाजा खटखटाया। जब वह व्यक्ति भीतर आया, तब डाक्टर बेलने पूछा कि तुम क्यों इतने घबराए हुए हो। उस व्यक्तिने कहा कि आप कैसे जान गये कि मैं घबराया हुआ हूँ। डाक्टर बेलने कहा—तुमने चार बार दरवाजा खटखटाया। जो लोग घबराए नहीं रहते हैं, वे दो या अधिकसे अधिक तीन बार खटखटाते हैं। वह व्यक्ति सचमुच घबराया हुआ था।

कानन डायलने एक बार अपने इसी अध्यापकके सम्बन्धमें कहा कि जब डाक्टर बेलके पास रोगी आते थे, तब उनके कहनेके पहले ही वे उनके रोगकी बात बतला देते थे और उनके अतीत जीवनकी भी कितनी ही अज्ञात बातें स्पष्टतासे बतला देते थे। उनसे प्रायः कभी भूल नहीं होती थी।

आधुनिक हिन्दीके अधिकांश समालोचकोंने ऐसे उपन्यासोंकी ओर एक तिरस्कार-भाव व्यक्त किया है। छात्रावस्थामें ऐसे उपन्यासोंका एक विशेष महत्त्व रहता है। साहस, सहिष्णुता, धैर्य तथा वीरत्वके भावके साथ अवलोकनकी शक्ति और बुद्धिके विकासके लिए ऐसी कथाओंकी विशेष आवश्यकता होती है। मानसिक विकारोंके सूक्ष्म विश्लेषणमें हिन्दीके कितने ही कलाकार यश प्राप्त कर चुके हैं। परन्तु अभी तक कोई ऐसा उपन्यास नहीं लिखा गया, जो बालकोंमें जिज्ञासा, कौतूहल और साहसका भाव उत्पन्न कर सके। अँगरेजी साहित्यमें राबिनसन क्रूसो, स्विस फेमली राबिनसन और ट्रेजर आइलैंडके समान उपन्यास छात्रोंके लिए चिरन्तन आनन्दके साधन हैं। ऐसे उपन्यास उन्हें केवल कल्पनाके मायालोकमें ही भ्रमण नहीं कराते; परन्तु उन्हें अच्छे ढंगसे श्रेष्ठ गुणोंकी शिक्षा देते हैं।

न तो तिलिस्मकी कथाएँ एकमात्र कल्पनाकी उपज हैं और न जासूसकी कथाओंमें एकमात्र कल्पनाका विलास होता है। यदि वे एकमात्र कल्पनाकी भी सृष्टि हों, तो भी वे तिरस्करणीय नहीं हैं। साहित्य-जगत्में उनका भी मूल्य है। जीवनकी एक अवस्थामें यह सारा संसार रहस्यमय प्रतीत होता है। पृथ्वीको वसुन्धरा जानकर लोग गुप्त निधिके लिए प्रयत्नशील होते हैं। उसके लिए एकसे एक कठिन स्थितियों और आपत्तियोंको झेलनेके लिए वे तत्पर हो जाते हैं। इनसे जातिमें क्षमताकी वृद्धि होती है। सभी जातियोंके नव जागरण-

कालमें साहसकी ऐसी विलक्षण कथाएँ निर्मित हुई हैं। कथा-सरित् सागर अथवा अलिफ लैलाकी विलक्षण कथाओंमें नव-राष्ट्रकी उत्साह-दीप्ति छिपी हुई है। इसी लिए उन कथाओंसे बालकोंको अभी तक सच्चे आनन्दकी प्राप्ति होती है। विक्रमादित्यकी कथाओंमें अपूर्व वीरत्व और साहसके साथ उदारताके गुण भी प्रदर्शित हुए हैं। आधुनिक युगमें वैसी कथाएँ अब लिखी नहीं जा सकतीं, फिर भी नए ढंगसे अलिफ लैलाकी कहानियाँ किस तरह लिखी जा सकती हैं, यह अँगरेजीके प्रसिद्ध कथा-लेखक स्टीवेनसनकी रचनाओंसे प्रकट हो जाता है। एकमात्र मानसिक विकृतियोंकी गुत्थियाँ सुलझानेमें ही कथाकारकी सच्ची कुशलता नहीं व्यक्त होती। इसीलिए यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी साहित्यके प्रारम्भिक कालमें जो घटना-प्रधान उपन्यास लिखे गये उनमें कलाका कोई सौष्ठव ही नहीं है।

३—आधुनिक कथा-साहित्यका आदि-काल

१

वह चन्द्रकान्ताका युग था। आज वस्तुवाद, रहस्यवाद और क्रान्तिवादका युग है। वर्त्तमान युगके पाठक उस युगकी कल्पना नहीं कर सकते, जब देवकीनन्दन खत्रीके मोहजालमें पड़कर हम लोग सचमुच निद्रा और क्षुधा छोड़ बैठे थे। मैं बिलकुल छोटा था पर यह बात किसी भी प्रकार नहीं स्वीकार कर सकता था कि मैं 'भैरो सिंह' नहीं बन सकता। मेरे सहायक थे गजराज बाबू। वे मुझसे कहीं बड़े थे। हाईस्कूलकी ऊँची कक्षामें पढ़ते थे; पर वे भी स्कूल छोड़कर लखलखाकी खोजमें निकलते थे! उन दिनों हम लोग ऐसे ही फूलोंकी खोज किया करते थे, जिनपर कोई दृष्टिपात तक नहीं करता। हमें विश्वास था कि विश्वसे अनादृत, उपेक्षित और तिरस्कृत कोई फूल किसी ऐसे ही स्थानमें खिल रहा है। उसमें एक ऐसी अलौकिक शक्ति विद्यमान है, जो मृत-प्राय मनुष्योंमें नव-जीवन-संचार कर सकती है। हम लोग छोटे-छोटे, रंग-रंगके फूल खोज खोज कर लाया करते थे। कितने ही लोग हमारे उस कामकी हँसी उड़ाया करते थे। कितने ही लोग हमारे इस कामका तिरस्कार किया करते थे; पर हम लोगोंने उपहास और निन्दाकी परवाह न की। हमें इन नाम-गोत्र-हीन फूलोंसे चाह हो गई थी। रूप-राशि और सौरभसे कमनीय फूलोंपर तो संसार मुग्ध है। वे मनुष्यके गलेका हार बनते हैं और देवताओंके सिरपर चढ़ते हैं, पर निर्धनोंके भग्न कुटीरोंकी शोभा बढ़ानेवाले, किसानोंके खेतोंमें खिलनेवाले, जंगलोंमें अपनी क्षीण शोभा फैलानेवाले, मलिनताकी भूमिमें पवित्रताका आभास देनेवाले इन फूलोंमें हम लोग गुणकी एक गरिमा देखते थे। कौन जाने कब किस फूलसे कोई 'जगन्नाथ' किसी 'वीरेन्द्र-

सिंह'को नव-जीवन शक्ति प्रदान कर दे। इसी प्रकार तिलस्मकी खोजमें हम टूटे-फूटे खँडहरोंमें घूमा करते थे। यदि अकस्मात् वहाँ कभी किसी बुढ़ियासे भेंट हो जाती, तो हम लोग सोचते, कौन जाने, बुढ़ियाके रूपमें यही 'कमला' या 'मायारानी' हो। किसी बुड्ढेको एकान्तमें बैठे हुए देखकर हम लोग चौंक पड़ते थे। हम लोग छिपकर उसे बड़े गौरसे देखते। कौन जाने छद्म-वेशमें वही कोई भूतनाथ हो। पर इतना प्रयास करनेपर भी न हमें लखलखा मिला और न कभी तिलस्मका पता लगा; यह तो पण्डित रामनरेश त्रिपाठीका ग्राम-गीत-संग्रह प्रकाशित होनेके बाद, मैंने अब जाना कि ग्रामके किन फूलोंमें लखलखासे भी बढ़कर शक्ति है। इसी प्रकार ग्राम ग्राममें, घर घरमें, प्रेम, स्नेह और त्यागका जो रहस्यमय तिलस्म बनाया और तोड़ा जा रहा है, उसे बतलानेके लिये प्रेमचन्दजी तो अभी आये। उन दिनों वे थे कहाँ?

मैं कह नहीं सकता कि आजकल कितने छात्र चन्द्रकान्ता-सन्ततिको अनुरागसे पढ़ते हैं। परन्तु मैं तो उसे अपनी छात्रावस्थामें पढ़ा करता था। मैं चन्द्रकान्ताके माया-जगतमें खूब घूम चुका हूँ। उसके पहाड़ों और जंगलोंमें मैं उसके पात्रोंके साथ अच्छी तरह भ्रमण कर चुका हूँ। उनका चित्र अभीतक मेरे हृदयमें अंकित हैं। बाल्य-कालमें जब मैं अकेला रातके समय अपने बिस्तरपर लेट जाता था तब अपने कल्पना-जगतमें उन्हीं स्थानोंमें चला जाता था। उस समय मैं उन पात्रोंके साथ मिलकर अपनी ओरसे भी कितने ही कार्य किया करता था। कल्पनाके उस प्रवाहमें मैं इतना लीन हो जाता था कि कब मुझे नींद आ जाती, यह मैं नहीं जान पाता था। कभी-कभी स्वप्नमें भी उसी जगतके दृश्य देखा करता था। चुनार कहाँ है, गया और रोहतासगढ़ किधर हैं, इनकी भौगोलिक स्थिति और ऐतिहासिक विवरणसे मुझे कोई प्रयोजन नहीं था। मैं तो यह स्वीकार कर चुका था कि चुनारसे थोड़ी ही दूर लम्बा चौड़ा घना जंगल है, वह सैकड़ों कोस चला गया है। उसमें बड़े-बड़े पहाड़, घाटियाँ, दर्रे और खोह, पहाड़ोंपर टूटे-फूटे आलीशान किले, हैं। वे किले अपने चारों तरफके ऊँचे पहाड़ोंके बीचमें ऐसे छिपे और दबे हुए हैं कि एकाएक किसीका वहाँ पहुँचना और पता लगाना मुश्किल है। उन्हीं स्थानोंमें पहाड़ियोंके बीच आलीशान इमारतें बनी हुई हैं। ये सभी

इमारतें रमणीक स्थानोंमें बनी हुई हैं। कोई कोई स्थान चारों तरफसे चार खूबसूरत पहाड़ियोंसे घिरा हुआ है। वहाँकी प्राकृतिक शोभा दर्शनीय है। उसमें फूलों और फलोंके पेड़ हैं। बीचमें बड़े-बड़े तीन झण्डे भी लहरा रहे हैं। चारों तरफके पहाड़ोंपरसे गिरा हुआ जल उन झरनोंमें तीव्र गतिसे बहता है। एक पहाड़ीके नीचे पहुँचकर वे तीनों झरने मिल जाते हैं और एक गढ़ेमें गिरकर न मालूम कहाँ निकल जाते हैं। मैं ऐसे भवनोंमें रह चुका हूँ और चन्द्रकान्ता-संततिके पात्रोंके साथ उन तरुणियोंसे भी परिचित हो चुका हूँ जिनकी सौन्दर्य-छटासे वे भव्य भवन सदैव प्रदीप्त होते थे। रातके समय मैं भी रोहतासगढ़के जंगलोंमें घूम चुका हूँ। रोहतासगढ़के जंगल साधारण नहीं थे। वे बड़े घने थे। उनमें शीसम, साखू, साल आदि बड़े बड़े पेड़ोंकी घनी छायासे दिनमें भी अन्धकार बना रहता था, रातकी तो बात ही दूसरी थी। कहीं कहीं छोटे छोटे पेड़ोंके बदौलत जंगल इतना घना रहता था कि उसमें भूले हुए आदमियोंको मुश्किलसे छुटकारा मिलता था। उसमें हजारों आदमी इस तरह छिप सकते थे कि हजार सिर पटकने और खोजनेपर भी उनका पता लगाना असम्भव था। मैं विचित्र सुरंगोंके भीतर प्रविष्ट हो चुका हूँ और तिलस्मके भीतर जा चुका हूँ और उसे तोड़ चुका हूँ।

ज्यों-ज्यों ज्ञानकी वृद्धि होती जाती है त्यों त्यों हम लोग संशयालु होते जाते हैं। बाल्य-कालमें जो एक सरलता रहती है, जो एक निश्छलता रहती है, जो एक विश्वासकी दृढ़ता रहती है और जो एक भावकी विशुद्धता रहती है वह ज्ञान-वृद्धिके साथ आपसे आप लुप्त हो जाती है। तब हम सहसा किसीकी बातपर विश्वास नहीं करते।

जीवनकी प्रौढ़ावस्थामें हम कथाके मर्मज्ञ भले हो जायँ, पर कथाका यथार्थ रस हमें जीवनके आदि-कालमें ही उपलब्ध होता है, इसीलिए बाल्यावस्था और युवावस्थामें कथाओंका जो प्रभाव हमपर पड़ता है, वह अक्षय होता है। तभी हम लोगोंमें भावोंका प्राबल्य रहता है और कल्पनाका अनन्त क्षेत्र। तब हम जीवनकी यथार्थताकी ओर उतने आकृष्ट नहीं होते जितने भावके सौन्दर्यकी ओर। जिन्होंने सत्यमें सौन्दर्य देख लिया, वही अपनी कथाओंमें भाव-सौन्दर्यकी सृष्टि करते हैं। उनमें सत्यका वह विकृत रूप नहीं रहता जो पाठकोंको विरक्त कर दे।

२

और तब ? इसी प्रश्नसे उपन्यासका आरम्भ होता है। उपन्यास चाहे सामाजिक हो या ऐतिहासिक, उसमें चाहे लौकिक भावोंका विश्लेषण किया गया हो अथवा तत्त्वोंका निरूपण, इसमें सन्देह नहीं कि उसमें कथा-भागकी ही प्रधानता रहती है। उपन्यासके किसी भी पाठकसे पूछिए कि उपन्यास है क्या ? वह यही उत्तर देगा कि उपन्यास एक कथा है। कथाकारका पहला उद्देश्य यही होता है कि वह पाठकोंकी कौतूहल-वृद्धिकी पूर्तिके लिये कोशिश करता है। जब वह एक घटनाका वर्णन कर लेता है तब पाठकोंके हृदयमें यह भाव उठना चाहिए कि और तब क्या हुआ ? यदि पाठकोंको आनेवाली बातोंके जाननेके लिये कोई कौतूहल नहीं हुआ, यदि उन्हें होनेवाली घटनाओंका आभास हो गया, तो कथाका रस ही नष्ट हो गया। एकके बाद एक घटनाका वर्णन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि पाठकोंके चित्तमें सदैव औत्सुक्य बना रहे, आगेका वृत्तान्त जाननेके लिये वे लोग व्यग्र हो रहें। मनुष्योंकी इसी कौतूहल-वृत्तिके कारण ही प्राचीन-कालसे लेकर आज तक कथाओंकी वृद्धि होती जा रही है। आरब्योपन्यास अथवा सहस्र-रजनी-चरित्रकी शाहजादीमें अन्य कितने ही गुण थे, परन्तु उसकी प्राण-रक्षा उसके केवल इसी एक गुणसे हुई कि वह कहानी कहनेका ढंग जानती थी। रात-भर वह अपनी कहानी इस प्रकार कहती चली जाती थी कि श्रोताके हृदयमें कौतूहलकी बराबर वृद्धि होती रहे और ज्यों ही कथाका अन्त जाननेके लिये, उसका अन्तिम परिणाम सुननेके लिये, श्रोता उद्ग्रीव हो जाता था त्यों ही कथाको वहीं असमाप्त रखकर वह चुप हो जाती थी। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि कथाका अन्त जाननेके लिये बादशाहको एक दो दिन नहीं एक हजार दिन तक बराबर उत्सुकतासे प्रतीक्षा करनी पड़ी। इतने दिनों तक जिस कौशलसे शाहजादीने बादशाहके औत्सुक्यको नष्ट होने नहीं दिया, वही सब उपन्यासकारोंके लिये आवश्यक है। अपनी इसी निपुणताके कारण उपन्यासकार लोक-प्रिय होते हैं। कहा जाता है कि जब डिकिन्सके उपन्यास अँग्रेजी पत्रोंमें क्रमसे प्रकाशित होते थे, तब सभी पाठक आगामी अंकके लिये बड़े व्यग्र रहते थे। भारत-

वर्षमें बंकिम बाबूके उपन्यास भी 'बंग-दर्शन' में क्रमशः प्रकाशित हुए हैं। उनके उपन्यासोंके लिये भी लोग वैसे ही व्यग्र रहते थे। अतएव अच्छे उपन्यासका लक्षण यही है कि वह अपने कथा-भागको पाठकोंके लिये सदैव कौतूहल-वर्धक बनाये रखता है। इसी प्रकार बुरा उपन्यास वह कहा जा सकता है जिससे पाठकोंके हृदयमें कौतूहलका भाव अंकित ही नहीं होता। उपन्यासोंकी यह व्याख्या साहित्यकी दृष्टिसे कितनी ही निम्न क्यों न हो, क्योंकि इसमें उपन्यासपर केवल कथाकी दृष्टिसे विचार किया गया है, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि उच्च-कोटिके उपन्यासोंमें यह विशेषता अवश्य रहती है।

अब हम उपन्यासके कथा-भागका विश्लेषण कर देखें कि किस तरह उपन्यासकार अपने पाठकोंकी कौतूहल वृद्धि करनेमें समर्थ होता है। मनुष्य मात्रका यह स्वभाव है कि जो बात हम जानते हैं उसे जाननेके लिये हम लोगोंको कौतूहल नहीं होता। यह बात सभी जानते हैं कि नदीमें जल होता है, इसलिये यदि कोई हमसे आकर कहे कि अमुक नदीमें जल है तो हमें कौतूहल नहीं होगा। परन्तु मान लीजिए गर्मीके कारण सभी नदियाँ सूख गई हैं। उस समय यदि हम यह सुनें कि किसी नदीमें जल है तो हमें अवश्य कौतूहल होगा। मतलब यह कि असाधारणतासे कौतूहलका भाव उत्पन्न होता है। हम जैसा जानते हैं, जैसा सोचते हैं, जैसा देखते हैं ठीक वैसी ही बात होनेपर हमारा चित्त उसकी ओर कभी भी आकृष्ट नहीं होगा। परन्तु यदि उसके विपरीत कुछ भी हुआ तो हमारा ध्यान उसकी ओर अवश्य जायगा। यही कारण है कि उपन्यासकार अपने कथा-भागमें केवल उन्हीं घटनाओंका वर्णन करता है जिनमें कुछ असाधारणता होती है। चार पाँच सौ पृष्ठोंमें उपन्यासकार किसी मनुष्यके १५-२० वर्षोंका हाल बता जाता है। यदि उपन्यासकार यह चेष्टा करे कि वह अपने पात्रके जीवनके एक एक दिनकी छोटी बड़ी सभी घटनाओंको बतलाये तो कई हजार पृष्ठोंमें भी उसका उपन्यास समाप्त नहीं होगा और उसमें कौतूहलकी कोई सामग्री भी नहीं रहेगी। इसीलिये वह उसके जीवनकी कितनी ही घटनाओंको छोड़कर कुछ ही घटनाओंका वर्णन करता है। जिन घटनाओंको वह चुनता है उन्हींमें अपना नैपुण्य प्रकट करता है। घटनायें ऐसी होनी चाहिए जिनमें उपन्यासके पात्रके समस्त

जीवनका हमें ज्ञान हो जाय और हमारे कौतूहलका भी भाव बना रहे। किन घटनाओंसे व्यक्तित्वका विकास होता है, किनसे चरित्रकी विशेषता प्रकट होती है यही नहीं जाननेसे छोटे छोटे लेखक कितनी ही असम्बद्ध बातें उपन्यासमें लिख जाते हैं। सारांश यह है कि उपन्यासमें हम काल-क्रमसे घटनाओंका वर्णन करते हैं। परन्तु उसके साथ ही महत्ताके विचारसे हम कुछ ही घटनाओंको चुनते हैं और अवशिष्ट बातोंको बिलकुल ही छोड़ देते हैं।

अब हमें असाधारणतापर कुछ विचार कर लेना चाहिए। कहना नहीं होगा कि उपन्यासकार कल्पनाके द्वारा कितनी ही घटनाओंकी सृष्टि करता है और पाठक उन घटनाओंपर विश्वास कर लेता है। सहस्र-रजनी-चरित्रमें ऐसी कितनी ही घटनायें हैं, जिनपर आधुनिक युगके सभी लोग विश्वास नहीं करेंगे, इसी लिए यदि आधुनिक युगका लेखक उन्हीं घटनाओंके द्वारा पाठकोंकी कौतूहल-वृद्धि करना चाहे तो उसकी चेष्टा विफल होगी। घटनायें असाधारण होने पर भी ऐसी होनी चाहिए कि उनकी सम्भवनीयतामें पाठकोंको कभी सन्देह न हो। यों तो संसारमें सभी बातें सम्भव हैं परन्तु लेखकको वैसी ही घटनाओंका वर्णन करना चाहिए जिनके होनेकी अधिक सम्भावना हैं। अँग्रेजीके एक प्रसिद्ध लेखक स्टीवेन्सन साहबने कुछ कहानियाँ लिखी है। उनका नाम उन्होंने रखा है—'नव आरब्योपन्यास'। प्राचीन आरब्योपन्यासकी घटनायें अब हमें अतिरंजित मालूम पड़ती हैं। पर उन दिनोंके लोगोंके लिये वे घटनायें अतिरंजित नहीं, सर्वथा विश्वसनीय थीं। तत्कालीन लोगोंकी रुचि और विश्वासके आधारपर ही शाहजादीने उन घटनाओंको वर्णन किया था। स्टीवेन्सन साहबने वैसी ही विस्मयजनक घटनाओंका वर्णन किया है, परन्तु उनके होनेकी सम्भावनामें पाठकोंको सन्देह नहीं हो सकता क्योंकि लेखकने उनकी रुचि और विश्वासपर विचार कर उनकी सृष्टि की है।

उपन्यासोंमें सभी समय जीवनके आदिसे लेकर अन्त तककी घटनायें वर्णित नहीं होतीं। प्रायः जीवनके बीचकी ही कुछ बातें बतला कर छोड़ दी जाती है। आदि और अन्तकी बातें पाठक अपने ही मनमें बना लेते हैं। सच पूछिए तो उन बातोंको जाननेकी जरूरत ही नहीं होती। पाठकोंकी

कौतूहल-वृद्धिकी तृप्ति जितनी बातोंसे की जा सकती है, उससे अधिक बातें उन्हें बतलानेसे विरक्ति होती है। कथा-भागकी यह विशेषता किसी भी उपन्यासको चित्ताकर्षक बना लेती है। पर पाठकोंपर उसका स्थायी प्रभाव कभी नहीं पड़ता। उसके लिये तो आख्यान वस्तुकी विशेषता और चरित्र सृजनकी कुशलता चाहिए। उपन्यासकारोंकी महत्ता इसीपर अवलम्बित है

३

साहित्य-जगतमें कितने वर्षोंका युग होता है, यह तो मैं नहीं जानता; पर इतना अवश्य कह सकता हूँ कि हिन्दीके औपन्यासिक जगतके चार युग मैंने अपने इसी जीवन-कालमें देख लिये। पहले युगमें देवकीनन्दन खत्रीकी धूम थी। दूसरे युगमें गोपालरामजी गहमरीका गोरख-धन्धा खूब चला। तीसरे युगमें बंकिम बाबू तथा बंगालके अन्य रत्नोंने हिन्दी पाठकोंको मन्त्र मुग्ध-सा कर डाला। चौथे युगमें प्रेमचन्द्रजीका पदार्पण हुआ। अब तो हिन्दीमें कितने ही मौलिक आख्यायिका-लेखक और उपन्यासकार हो गये हैं।

लोक-प्रियता साहित्यकी कसौटी नहीं है, तो भी वह उपेक्षणीय नहीं है। चन्द्रकान्ता युगमें जितना प्रचार चन्द्रकान्ता और चन्द्रकान्त-सन्ततिका हुआ उतना और किसी उपन्यासका नहीं हुआ। स्वयं खत्रीजीके दूसरे उपन्यास उतने लोक-प्रिय नहीं हुए। कथा-वस्तुकी यथार्थताके सम्बन्धमें यदि पाठकोंके हृदयोंमें लेखकने मोह-जाल बना लिया, तो जब तक वह भंग न होगा, तब तक कथाके लिए पाठकोंका आग्रह बना रहेगा। चन्द्रकान्ताके चार भाग और सन्ततिके चौबीस भागोंमें कहीं भी कथाका यह मोह-जाल भंग नहीं हुआ है। एकसे एक विलक्षण घटनायें हुई हैं, पर उनकी सम्भवता और असम्भवतापर पाठकोंका ध्यान जाता ही नहीं। चन्द्रकान्ताका संसार चन्द्रकान्ताका ही संसार है। उसमें चरित्र-चित्रण नहीं, भावोंका घात-प्रतिघात नहीं, मनोविकारोंका विश्लेषण नहीं, व्यक्तित्वका निदर्शन नहीं, केवल कथा मात्र है, जिसमें अन्ततक पाठकोंका कौतूहल बना रहता है।

विज्ञ समालोचकोंके द्वारा लोकप्रिय होने पर भी चन्द्रकान्ता और चन्द्र

कान्ता-सन्ततिकी गणना साहित्यके ग्रन्थोंमें नहीं की जाती है। उनकी सम्मतिमें तत्कालीन लेखकोंमें एक मात्र किशोरीलाल गोस्वामीके ही मौलिक उपन्यास साहित्यके क्षेत्रमें स्थान पा सकते हैं। परन्तु यह आश्चर्यकी बात है कि गोस्वामीजीके तो सभी उपन्यास आज साहित्यके क्षेत्रसे बिलकुल विलुप्त हो गये हैं, परन्तु चन्द्रकान्ता और चन्द्रकान्ताका प्रचार अभी तक बना ही हुआ है। न तो गोस्वामीजीके ऐतिहासिक उपन्यास ही कालका आघात सह सके और न सामाजिक उपन्यास ही। उसी समय बंग-भाषाके भी कुछ उपन्यासोंके अनुवाद हुए। पंडित प्रताप नारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामीने कितने ही उपन्यासोंके अनुवाद किये। तबसे आज तक बंग-भाषाके उपन्यासोंके अनुवाद होते ही जा रहे हैं। उनकी लोकप्रियता कभी कम नहीं हुई। बंकिम बाबू, रमेश बाबू, रवीन्द्रनाथ, प्रभात बाबू, और शरत् बाबूके उपन्यासोंने हिन्दीके औपन्यासिक-साहित्यको आक्रान्त-सा कर दिया। उनकी तुलनामें हिन्दीके मौलिक उपन्यासकारोंकी रचनायें सर्वथा उपेक्षणीय हो गईं। हरिकृष्ण जौहर और लज्जाराम मेहताकी कितनी ही रचनायें प्रकाशित हो हुईं, परन्तु न वे लोकप्रिय हुईं और न विज्ञोंके द्वारा समादृत हुईं। व्रजनन्दन सहायके सौन्दर्योपासक और उपाध्यायजीके अधखिला फूलकी प्रशंसा अवश्य हुई पर औपन्यासिक-साहित्यमें उनका कोई स्थान नहीं रहा। कथा-साहित्यके लिए जो कला-कुशलता चाहिए वह हमारे इन उपन्यासकारोंमें नहीं थी; फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनके द्वारा औपन्यासिक साहित्यका विकास नहीं हुआ। उनसे भाषा परिष्कृत हुई और व्यक्तिगत जीवनकी घटनाओंमें जीवनकी यथार्थ गरिमा देखनेका प्रयास आरम्भ हुआ।

४

आज यदि मैं कहूँ कि 'चन्द्रकान्ता' 'देवीसिंह' और 'मनोरमा' पर मेरा अनुराग अभी तक है, तो लोग अवश्य हँसेंगे। मैं जानता हूँ कि अब लोगोंको न तो तिलस्मकी भूल भुलइयाँ अच्छी लगती हैं, न ठगोंकी लीला और न जासूसोंका चक्कर। पर मेरे लिये ये उपन्यास अतीत कालका द्वार खोल देते हैं और एक बार फिर मैं बाल्यकालमें चला जाता हूँ। उस समय यह

संसार किसके लिये कौतुकागार नहीं रहता ? मेरे लिये तो मेरा छोटा ग्राम ही एक तिलस्मसे कम विलक्षण नहीं था। नदीके किनारेसे हटकर एक बड़ा लम्बा-सा मकान है। उसमें राजपरिवारके कुछ लोग रहते हैं। उन दिनों यही मकान मेरे लिये बड़ा रहस्यमय था। नदीके किनारे बैठकर मैं बड़ी देर तक उसे देखता था। उसमें कितने ही लोग आते जाते थे। कभी रमणियोंकी मधुर हास्य-ध्वनि सुनाई पड़ती थी और कभी दासियोंकी कर्कश ध्वनि, पर दोनोंसे मुझे एक अलौकिक जगतका आभास मिलता था। कौन कह सकता है कि उसमें 'किशोरी' 'कामिनी' या 'मायारानी' न रहती होंगी। वहाँ भी प्रेम और विद्वेषकी कितनी ही लीलाएँ होती होंगी। वहाँ भी प्रेमकी प्रतीक्षा, वेदनाके निःश्वास और वासनाके उन्मादके दृश्य दिखलाई पड़ते होंगे। चन्द्रकान्तामें एकसे एक कौतूहलजनक घटनाओंका ही वर्णन है। उसके पात्रोंपर तो कालका भी प्रभाव नहीं पड़ता। मृत्युके विरुद्ध तो उसके पात्रोंने एक अभेद्य कवच पहन लिया है। उनपर विपत्ति भी एक लीलाकी तरह आती और चली जाती है। उनमें साहस और धैर्य दोनों असीम हैं। धर्म उनकी सदैव रक्षा करता है 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' में जीवन कौतूहलजनक लीलाओं और अलौकिक घटनाओंसे परिपूर्ण है। अपनी प्रारंभिक अवस्थामें जीवनके सम्बन्धमें हम लोगोंका जो एक विस्मय, कौतूहल, आतंक और आह्लादका भाव रहता है वही उसमें निहित है। पर 'देवीसिंह' में चन्द्रकान्ताकी भाँति तिलस्मकी कथा नहीं है। उसमें है ठगोंकी कथा, प्रेमकी वेदना, कपटका जाल, पुरुषों और स्त्रियोंकी धूर्तता। इसीसे देवीसिंहने हम लोगोंको कल्पना-जगतसे यथार्थ जगतमें ला दिया। उस समय जीवनकी कठोरताके साथ पापोंकी भी बीभत्सता प्रकट होने लगी। तब ज्ञात हुआ कि जब हम अपने साधारण कामोंमें व्यस्त रहकर एक सुख और शान्तिका अनुभव करते हैं तब संपत्तिके लोभसे संसारमें एकसे एक भयानक घटनाएँ होती रहती हैं। रात्रिके अंधकारमें लोभ एक पिशाचकी तरह मनुष्यका रूप धारण कर निशाचर हो जाता है। बड़ी बड़ी अट्टालिकाओंके भीतर क्रूरता हँसती रहती है। शिक्षा और सभ्यताके परिधानमें वह और भी अधिक भयावह हो जाती है। तब वह एक सुन्दरी 'जुमेलिया' का रूप धारण कर लेती है।

उस समय मुझे यही विश्वास होता था कि संसारमें सत्य और असत्यके बीच जो संग्राम हो रहा है उसमें सत्यकी ही विजय होती है, अपराधियोंको ही दण्ड मिलता है, अन्यायियोंको किसी न किसी समय अपने कुकर्मोंका फल भोगना ही पड़ता है। नीतिशास्त्रोंका यही कथन है और नीतिशास्त्रोंकी इस शिक्षाका प्रभाव अधिकांश व्यक्तियोंके जीवनपर भी पड़ता है। कथाकारोंने पहले इसी उद्देश्यसे कथाएँ लिखी हैं। उन्होंने भिन्न भिन्न घटनाओंका वर्णन-कर यही सिद्ध कर दिया है कि अच्छे लोग सत्पथपर चलकर पहले भले ही कष्ट सहें पर अन्तमें वे सुख पाते हैं, दुर्जन प्रारंभमें सुखोंका उपयोग करते हैं पर अन्तमें उनकी दुर्गति होती है।

मानवीय जीवनमें सत्यासत्यकी मीमांसा इतनी सरल नहीं है। सभ्यताकी वृद्धिके साथ मनुष्यका जीवन एक पहेली बन जाता है। उसमें न तो न्याय और अन्यायकी इतनी विशद विवेचना है और न कर्मोंका ही फल इतना स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति, समाज और जातिके बीच जो संघर्षण है उसके कारण मानवीय जीवनमें और भी जटिलता आ गई है। फिर मनुष्योंके भावोंमें सरलता नहीं रहती। प्रेममें त्यागके साथ वासना रहती है, स्वार्थ-चिन्तामें महत्त्वाकांक्षाके साथ लोलुपता भी रहती है, दयामें कृपाके साथ आत्मगौरवका भी भाव रहता है, क्रोधमें अपनी दुर्बलताके साथ ही साथ अपने प्रति अन्याया-की भावना भी काम करती है और सभी अवस्थाओंमें हम लोगोंकी अहं-वृत्ति काम करती है। इसी अहंवृत्तिमें एक व्यक्तिकी क्षमता है और उसकी दुर्बलता भी है। उसपर व्यक्तिका व्यक्तित्व आश्रित रहता है, और उसीके आधारपर आधुनिक उपन्यासोंकी रचना भी होती है।

५

यह सच है कि अवस्थाकी वृद्धिके साथ जैसे हम लोगोंकी रुचि बदलती है वैसे ही समयकी गतिके साथ समाजकी भी रुचि बदल जाती है। पहले मैं 'देवकीनन्दन'का अनुचर था, फिर मैं 'रवीन्द्रनाथ' के उपन्यासोंका भक्त हुआ। बादमें अँगरेजीका विशेष ज्ञान होने पर मैं पहले 'डिकिन्स' और 'स्टीवेन्सनकी' ओर झुका। फिर 'जार्ज इलियट' पर अनुरक्त हुआ। इसके

बाद मैं 'हार्डी' का उपासक हो गया और फिर 'टाल्सटाय' का दास बन गया। अब तो मैं यह समझता हूँ कि इन सबको छोड़कर महाभारत ही पढ़ा करूँगा। उसीमें मानव-जीवनके सर्वांगीण विकासका रहस्य समझाया गया है। इस प्रकार मेरी रुचि बराबर बदलती गई है। अपनी व्यक्तिगत रुचिके अनुसार ही मैं लोक-रुचिमें भी एक परिवर्तन देख रहा हूँ।

आधुनिक पाठकोंको चरित्रोंके सूक्ष्म चित्रण और भावोंके सूक्ष्म विश्लेषणसे तृप्ति होती है। वे कथाओंमें मनोविज्ञानका उत्कर्ष और निष्कर्ष देखना चाहते हैं। वे अंतर्जगतके द्वन्द्वयुद्धमें मानसिक भावोंकी विलक्षणतापर मुग्ध होते हैं। तरुण होनेके कारण शायद वे यथार्थ जगतको कल्पना-जगतमें ले जाकर सत्यको स्वप्नमें पाना चाहते हैं। पर उस समय मेरी दूसरी ही रुचि थी। एकसे एक अलौकिक घटनाओंमें भी मैं जीवनकी अलौकिकता देखता था। मेरे लिये चरित्र गौण थे, घटना मुख्य थी। यह सच है कि मैं यथार्थ जगतमें उस कल्पना-जगतको देखना चाहता था और सत्यमें उस स्वप्नका माधुर्य पाना चाहता था। यही कारण है कि वर्तमान तरुणोंको जो पुस्तकें प्रिय हैं वे मेरे लिये विरक्तिजनक हैं और मेरी जो प्रिय पुस्तकें हैं उनसे उन्हें संतोष नहीं हो सकता। यह केवल रुचि-वैचित्र्य ही नहीं है, यह युगका भी प्रभाव है। समयकी गतिके साथ अब हिन्दीके उपन्यासकार घटना-वैचित्र्यको छोड़कर चरित्र-वैचित्र्यका निर्माण करते हैं। हिन्दीमें आजकल जो कलाकार माने जाते हैं वे कौतुकावह घटनाओंके विन्यासके स्थानमें कौतुकावह भावोंके विन्यासमें प्रयत्नशील रहते हैं। इसीसे जीवनकी साधारण स्थितिमें भी उनके पात्रोंकी एक असाधारण विलक्षण परिस्थिति होती है।

यह सच है कि उपन्यासकार किसी एक ही व्यक्तिके जीवनको लेकर अपनी कल्पनाका मायालोक निर्मित करता है। हम लोग उसीके साथ उस मायालोकमें विचरण करते हैं। हम उसीके साथ जीवनके सुख-दुख, प्रेम-विद्वेष और पाप-पुण्यकी कितनी ही घटनाएँ देखते हैं। उसीके साथ हम कितने ही अच्छे लोगोंसे परिचित होते हैं। उनमें कुछके प्रति हमें घृणा होती है और कुछके प्रति सहानुभूति। अन्तमें हम उसीके साथ उस मायालोककी यात्रा समाप्त कर एक तृप्ति और आह्लादका अनुभव करते हैं।

यथार्थ जीवनमें घटनाओंकी न कोई शृंखला रहती है और न कोई सुव्यवस्था ही। कोई अलक्षित शक्ति हमारे जीवनको जिस उद्देश्यसे अस्त व्यस्त करती रहती है, वह हमें अज्ञात रहती है। हमारी कामना, सदुद्देश्य, प्रयत्न सभी कुछके कुछ हो जाते हैं। परन्तु उपन्यासके नायकोंके जीवनमें जितनी घटनाएँ होती हैं उन सबमें एक शृंखला होती है, उनमें एक व्यवस्था-सी रहती है। तभी तो उनके जीवनमें सदा कोई न कोई असाधारण परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। उसके भीतर एक उद्देश्य रहता है। यही कारण है कि संसारके यथार्थ जीवनसे ऐसे उपन्यासोंका जीवन सर्वथा विपरीत हो जाता है। उनके बाल्य-कालमें जो घटनाएँ होती हैं उनका परिणाम संसारकी दृष्टिसे भले ही अनिष्टकर होता हो फिर भी वे घटनाएँ जीवनको एक विशेष दिशाकी ओर प्रेरित करती है जिससे उनके जीवनकी गरिमा ही प्रगट होती है। छात्रावस्थामें गुरुजनोंके आदेशों और उपदेशोंसे विरक्त होकर जब वे जीवनके कठोर बन्धनोंसे विरोध करते हैं तब उनकी स्वेच्छाचारिता और उच्छृंखलतासे उनमें असीम साहस, औदार्य, दृढ विश्वास और आत्म-संयम ही प्रगट होते हैं। संसारमें जिसे सत्य कहते हैं उसकी अवहेलना कर जब वे असत्यकी ओर आकृष्ट होते हैं और समाजसे तिरस्कृत विताड़ित और लांछित लोगोंके संपर्कमें आते हैं तब वे उन पतित जनोंमें भी वासनाकी उद्दामता या लोभकी लोलुपताके स्थानमें चरित्रका उत्कर्ष ही पाते हैं। उनके प्रेममें त्यागकी पराकाष्ठा होती है, उनकी सहनशीलतामें भक्ति और विश्वासकी दृढ़ता रहती है और उनके जीवनसे यही प्रगट होता है कि जीवनकी दुःखाग्निमें डालकर उनके मनुष्यत्वकी सच्ची परीक्षा की गई है। कष्ट, वेदना, अत्याचार, उत्पीड़न सभीसे उनका जीवन दीप्तिमय हो जाता है, संसार उन्हें कलंक और अपयशका पात्र बनाकर उनके जीवनकी उस गारिमाको नष्ट नहीं कर सकता। ठीक इसके विरुद्ध नायकोंके विरोधमें जो आते हैं वे नरोंके रूपमें पशु ही होते हैं। उपन्यासकारकी सूक्ष्म दृष्टिमें उनके चरित्रमें नीचता रहती है पर संसारमें वे ही सौजन्यागार माने जाते हैं, और वे ही प्रतिष्ठा, प्रशंसा, और यशके पात्र होते हैं। सुख और संपत्तिपर उन्हींका अधिकार होता है। उनके जीवनकी कालिमा

संसारके लिये अलक्षित रहती है। वे अपनी कुत्सित वासनाओं, नीच कृतियों और निष्ठुर व्यवहारों द्वारा समाजको स्वायत्त कर निश्शंक जीवन-यापन करते हैं। संसारके अन्याय और अत्याचारके विरुद्ध जो लोग विद्रोह करते हैं, दूसरोंके दुःख-दैन्य और कष्टोंको दूर करनेके लिए सेवा व्रतमें दीक्षित होकर जो लोग आपत्तियोंका स्वागत करते हैं, संसारके अत्याचारोंसे पीड़ित होकर जो लोग अपने प्रेमकी वेदनाको हृदयमें छिपाकर सभी प्रकारके कष्टोंको सह लेते हैं ऐसे नायक अपनी दुर्बलता, क्षमता, आकांक्षा, वासना सभीमें एक आत्म-गौरवका अनुभव करते हैं। पराजयमें ही उनकी विजय है और उनके दुखद अंतमें ही उनके चरित्रका उत्कर्ष है। यथार्थ जगतकी कठोरतासे अभिहित होनेपर यदि हम उनमें गौरवकी कल्पना न करें तो हमें सांत्वना कैसे हो! पर इस कल्पित गौरवसे जीवनकी यथार्थ महिमा प्रगट नहीं होती।

हिन्दीके कितने ही कलाकार अप्रत्यक्ष रूपसे समाजके सुधारक भी होते हैं। सुधारकी भावनासे उन्हें अपने पात्रोंको एक विशेष साँचेमें ढालना पड़ता है। यह तो स्पष्ट है कि कोई व्यक्ति संसारसे सर्वथा पृथक् रहकर अपना जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। इसीलिए समाज और देशकी समस्याएँ भी उपन्यासके जीवनकी समस्याएँ होती हैं। समाज और देशमें उन्नति और क्रांतिकी जो भावनाएँ प्रचलित हो जाती हैं, उनके प्रभावसे भी वे अपने जीवनको एक विशेष पथपर ले जाते और तदनुकूल कार्य करते हैं। विधवाओंकी दुर्दशासे द्रवित होकर अमृतलालने अपनी प्रियतमा प्रेमाके प्रेमका भी त्याग कर पूर्णासे विवाह कर लिया। प्रेमाके जीवनमें जो दुखमय घटना हुई है उसका कारण विधवा-विवाह है। सुमनके जीवनकी गतिको दहेजकी प्रथाने परिवर्तित कर दिया। वृद्ध विवाहके कारण ही निर्मलाका दुखद अंत हुआ। जाति-भेद या किसी ऐसे ही अन्य सामाजिक बंधन या नायिकाका विवाह उनकी इच्छाके अनुकूल न होने पर उनके जीवन-नाटकका जो दुखद अन्त होता है अथवा सत्ताधारियों और संपत्ति-शालियोंके उत्पीड़न और निरंकुश शासनके कारण किसीका जो पराभव या पतन होता है, उसके मूलमें भी यही सुधार अथवा क्रांतिकी भावना काम करती है। क्या प्रेमकी लीला और क्या देशकी सेवा, अपनी

अपनी भावनाके अनुसार हिन्दीके कलाकार अपनी उद्देश्य-सिद्धिके लिये चाहे जो कथा-वस्तु लें, इसमें संदेह नहीं कि वे एक क्रांतिकारी अथवा सुधारकके रूपमें अपने पात्रोंके जीवनकी समीक्षा करते हैं। पाप और पुण्य, धर्म और अधर्म, अधिकार और कर्त्तव्य, प्रेम और विवाह सभीके बंधनमें वे एक विशेष सिद्धान्त या विचार स्थिरकर तदनुकूल पात्रोंका निर्माण कर उनके जीवनका विकास प्रदर्शित करते हैं। यही कारण है कि उनके पात्रोंमें मनुष्यत्वका वह आदर्श नहीं रहता जिसके कारण उनके पाठक उनकी ओर आकृष्ट होते हैं। इसीसे वे अपने नायकोंके प्रति वे भाव जागृत करानेके लिए एक असाधारण परिस्थितिकी सृष्टि करते हैं। विवाहिता स्त्री न जाने किस भावसे प्रेरित होकर सहसा अपने सब वस्त्र उतारकर नायकको सर्वस्व समर्पण करती है और नायक सहसा अपनी उद्दाम वासनाको छोड़कर संसारका परित्याग कर चला जाता है।

यथार्थमें उपन्यासकारका उद्देश्य किसी नैतिक या सामाजिक सिद्धांतका विरोध करना नहीं होता, वह तो व्यक्तिके जीवनके विकासमें उस सत्यको प्रदर्शित करना चाहता है जिसके कारण मनुष्यका मनुष्यत्व अभी तक बना हुआ है। उत्थान और पतन दोनोंमें सत्य अलक्षित रूपसे काम करता है। उसीमें सत्व, रज, और तम तीनों ही गुण विद्यमान हैं। कभी एकका उत्कर्ष होता है तो कभी दूसरेका, पर तीनोंसे युक्त होनेके कारण उसके जीवनमें न तो महत्ताका ही अंत है और क्षुद्रताका। यह क्षुद्र होकर भी महान् है और वह महान् होकर भी क्षुद्र है। पाप और पुण्य, अंधकार और प्रकाशकी तरह हम लोगोंको भी अज्ञानकी दिशामें ले जाते हैं और ज्ञानके उषःकालमें। पर उन दोनोंमें जीवनका मूल्य बना रहता है। जीवनके एक एक दिनके लिए हमें वेदना, कष्ट, त्याग और पीड़ाके रूपमें मूल्य देना ही पड़ता है। सुखके लिए हमें दुख सहना ही पड़ता है, प्रभुत्वके लिए सेवा करनी ही पड़ती है, अत्याचारके लिए सद्भाव खोना ही पड़ता है। वासनाके लिए मनुष्यत्वसे हाथ धोना ही पड़ता है, स्वेच्छाचारिता और उच्छृङ्खलताके लिए हमें सामाजिक अधिकारोंको नष्ट करना ही पड़ता है। अतएव उपन्यासके नायकोंके प्रति हमें न सहानुभूति ही होनी चाहिए और न घृणा ही। उनके कृत्योंमें कभी उच्चता

और कभी नीचताका प्रदर्शन देखकर, उनके भाव-वैपरीत्यमें उनके उत्थान-पतनका अनुभवकर उनके दोनों गुणोंपर हमारा अनुराग हो जाता है। हम उनके चरित्रमें मनुष्यत्वका यथार्थ रूप पाकर ही प्रसन्न होते हैं।

मनुष्योंके यथार्थ संसार और आधुनिक कलाकारोंके कल्पित संसारमें सदैव एक भेद रहता है। यथार्थ जगतमें जहाँ कटुता, हीनता और बीभत्सता है वहाँ कलाकारोंके जगतमें एक गौरव है और जहाँ तृप्ति, संतोष और ममत्वके कारण जीवनका गौरव है वहाँ असंतोष और घृणाके कारण हीनता आ गई है। किसी उपन्यासके नायककी तरह हम भी बाल्यकाल और युवावस्था व्यतीत करते हैं। हम लोगोंने भी बाल्यकालकी स्वच्छन्दताका अनुभव किया है। हम भी तारुण्यके उद्दाम प्रवाहमें बहे हैं। हम लोगोंने भी सेवा की है और कष्ट सहा है। हम लोग भी किसीके स्नेहपात्र और किसीके कोपभाजन हुए हैं। हम लोगोंने भी यश-अपयश, मान-अपमान, और सुख-दुखका अनुभव किया है। पर हम लोगोंमें कितनोंने जीवनकी उस गरिमा या हीनताका अनुभव किया है जो हम 'देवदास' 'श्रीकान्त' या 'शेखर' में पाते हैं। बात यह है कि उपन्यासके ये नायक लेखककी जीवनानुभूतिके साथ उदात्त कल्पनाके फल हैं। उनकी उच्चतम भावना, उनकी उच्चतम आकांक्षा और कल्पना तीनोंने मिलकर उनकी सृष्टि की है।

एक बार किसी लेखकने क्षुब्ध होकर यह कहा था कि समालोचक लेखककी आत्माको नहीं पहिचान पाते। परन्तु जो सच्चे लेखक हैं उनकी यथार्थ आत्मा उनकी कृतियोंमें ही विद्यमान रहती है। उन्हींमें उदार या संकीर्ण मनोवृत्तियाँ विकृत या अविकृत वासनाएँ सत अथवा असत भावनाएँ प्रत्यक्ष हो जाती हैं। मनुष्यके जीवनकी जितनी ही विशद स्पष्ट गरिमा उसमें लक्षित होगी उतनी ही उज्ज्वल और मनोमोहक कला होगी। जीवनकी सभी लीलाओंमें मनुष्यकी आत्मा कहाँ छिपी हुई है यह तो लेखक नहीं जान पाते। सत्यका रूप उन्हींकी कृतियोंमें विकृत हो जाता है। कथा-वस्तुकी नवीनता, शैलीकी विशेषता या वर्तमान कालकी समस्यासे ही उपन्यासोंमें कलाका उच्चतम विकास नहीं होता।

कथा-साहित्यपर लोगोंका अनुराग बना रहा है। लौकिक और अलौकिक घटनाओं, जादू, तिलस्म और विज्ञानके चमत्कारों और साधु तथा असाधु क्रिया-कलापोंसे परिपूर्ण कथाओंमें हम केवल अपने मनके मनुष्यको खोजते आए हैं। हमारे मनके उस मनुष्यमें हमारी अपूर्ण लालसा, महत्त्वाकांक्षा और आदर्शकी भावनाएँ लिप्त-सी रहती हैं। वह कल्पना-जगतमें ही आकर पूर्ण हो जाता है। तभी तो हम अपने मनमें अज्ञात देशके राजकुमार बन कर अपने कल्पना-जगतमें उन सभी अवस्थाओंका अतिक्रमण कर, सुख-दुख-का अनुभव करते हैं। कथाका यथार्थ रस यही है। भिन्न भिन्न अवस्थाओंमें अपनी अपनी रुचिके अनुसार भले ही भिन्न कथाएँ पढ़ें पर सभी अवस्थाओंमें हम अपने उसी मनके मनुष्यको खोजते हैं।

४—हिन्दीमें बंगभाषाके उपन्यास

१

हिन्दीके आधुनिक कथा—साहित्यके विकासमें बंगभाषाके श्रेष्ठ उपन्यासोंके अनुवादोंका महत्त्व-पूर्ण स्थान हैं। उसके द्वारा लोक-रुचिका परिष्कार हुआ, कथा-शैलीमें नवीनता आई, भाषामें भी प्रौढ़ता आई और आधुनिक युगकी विचार-धाराका भी प्रसार हुआ। उनमें भी रवीन्द्रबाबू और शरद्बाबूकी कृतियोंका विशेष प्रभाव पड़ा है। यह सच है कि अनुवादोंके उस युगमें परीक्षागुरु, सौन्दर्योपासक और अधखिला फूल आदि मौलिक उपन्यासोंकी रचना हुई है, पर प्रेमचन्दजीके पहले किसी भी कृतिने वशीभूत नहीं किया। देशके सामाजिक और राजनैतिक जीवनमें जो परिवर्तन हो रहे थे उनका भी स्पष्ट चित्र उन कृतियोंमें नहीं है। बंकिमके बाद रवीन्द्र और रवीन्द्रबाबूके बाद शरद्बाबूके उपन्यासोंमें भारतीय जीवनके भीतर प्राचीन आदर्शोंके साथ नए आदर्शोंके संघर्षकी कथा स्पष्ट रूपसे विकसित हुई है। हिन्दीमें उस संघर्षका आभास हमें प्रेमचन्द, जैनेन्द्र और यशपालजीकी कृतियोंमें मिल जाता है। आधुनिक युगकी क्रान्तिको समझनेके लिए शरद्बाबूकी कुछ रचनाओंपर ध्यान देना आवश्यक है। इसी लिए यहाँ उनके सम्बन्धमें कुछ विशेष चर्चा की जाती है।

२

आधुनिक हिन्दी-साहित्यके प्रारम्भकालसे ही हिन्दीमें बंगभाषाके प्रमुख उपन्यासकारोंकी रचनाओंके अनुवाद होते आ रहे हैं। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजीने बंगभाषाकी दो-तीन पुस्तकोंके अनुवाद किए। उनके बाद भी

हिन्दीके श्रेष्ठ लेखकोंने अनुवादका काम किया। हिन्दी भाषा-भाषियोंमें उन अनुवादोंका विशेष प्रचार हुआ। हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय तो बंगभाषाके श्रेष्ठ उपन्यासोंके अनुवादोंके प्रकाशनके कारण विशेष प्रसिद्ध हुआ। रवीन्द्र बाबू, शरद्बाबू और द्विजेन्द्रलाल रायकी रचनाओंके अतिरिक्त अन्य विख्यात लेखकोंकी भी रचनाओंके अनुवाद वहींसे प्रकाशित हुए।

हिन्दी-साहित्य-जगत्में बंगला साहित्यके श्रेष्ठ ग्रंथोंकी विशेष लोकप्रियता देखकर आधुनिक मराठी साहित्यके एक विख्यात लेखक मामा वरेरकरने एक बार एक हिन्दी-प्रेमी सज्जनसे कहा था कि हिन्दीवालोंसे मेरी एक शिकायत है। उन्हें बंगालके सिवाय किसी दूसरे प्रान्तके साहित्यमें दिलचस्पी नहीं है। यदि मैं यह कहूँ कि बंगालके प्रति उनमें हीनभाव है, तो अत्युक्ति नहीं होगी। अब तक बंगलाकी दर्जनों पुस्तकें हिन्दीमें अनूदित हो चुकी हैं। डी० एल० राय, बंकिम, शरत्, रवीन्द्र आदिकी पुस्तकोंके भिन्न-भिन्न अनुवाद हिन्दीमें मिल सकेंगे। एक बार उन्होंने हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालयके स्वामीसे भी पूछा कि क्या कारण है कि जब उन्होंने बंगलाकी इतनी पुस्तकोंका अनुवाद कराया, तो मराठीकी एक भी पुस्तकका अनुवाद उनके यहाँसे प्रकाशित नहीं हुआ। क्या मराठीमें अच्छी पुस्तकें नहीं हैं? हैं, जरूर हैं। परन्तु बंगलाकी धाक हिन्दीवालोंपर इतनी अधिक है कि मराठीकी बात पूछनेके लिए भी समय पाना उनके लिए कठिन है। मामा वरेरकरजीके इस कथनमें सत्यांश अवश्य है।

यह बात नहीं है कि हिन्दीमें मराठीके ग्रन्थोंके अनुवाद हुए ही नहीं। गीता-रहस्य, ज्ञानेश्वरी, दास बोध, मध्ययुगीन भारत, महाभारत-मीमांसाके समान ग्रन्थोंके अतिरिक्त कुछ उपन्यासोंके भी अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। आपटेके उपन्यासोंके अतिरिक्त अन्य दो-तीन विख्यात उपन्यासकारोंके उपन्यासोंके भी अनुवाद किए गए। हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालयसे भी श्रीबालचन्द शाहके 'छत्रसाल' नामक मराठी उपन्यासका अनुवाद निकला है। इसी लेखकके सम्राट् अशोकका अनुवाद भी उल्लेखनीय है। फिर भी यह सच है कि लोकप्रियताकी दृष्टिसे बंगभाषाके ही उपन्यास हिन्दीमें अभी तक अग्रगण्य हैं। यही नहीं, हिन्दीके आधुनिक कथा-साहित्यका जितना प्रभाव पड़ा है, उतना अन्य किसी

प्रान्तीय साहित्यका नहीं पड़ा। कथा-वस्तुके साथ कथा-शैलीके भी विन्यासमें रवीन्द्र बाबूके 'घर-बाहर' और शरत् बाबूके 'श्रीकान्त', 'शेष प्रश्न' तथा 'पथके दावेदार' के विशेष प्रभाव लक्षित होते हैं। हिन्दीके कुछ श्रेष्ठ उपन्यासोंमें उन्हींके विचारोंकी प्रतिध्वनियाँ हैं और उन्हींकी शैलीका अनुकरण भी किया गया है। किसी-किसी उपन्यासकी कथा-वस्तुमें तो उनकी छाया स्पष्ट रूपसे दिखाई पड़ती है। इन सब बातोंसे यह प्रतीत होता है कि हिन्दी भाषा-भाषियोंने बंग-साहित्यके उपन्यासोंमें कथाकी जो सरसता प्राप्त की, वह उन्हें अन्य भाषाओंके उपन्यासोंमें उपलब्ध नहीं हुई। यह भी कहा जा सकता है कि अन्य भाषाओंके उपन्यासोंमें जो कथा-रस है, उसका उपभोग करनेमें हिन्दी-भाषा-भाषी पाठक असमर्थ हैं।

यह तो निःसंदेह कहा जा सकता है कि सभी प्रकारके उपन्यासोंमें कथा-रसकी सच्ची अनुभूतिके लिए सभी पाठकोंमें क्षमता नहीं होती। विशेष उपन्यासोंके लिए एक विशेष बौद्धिक विकास या रुचिकी आवश्यकता होती है। वालपोलने 'वेविट' नामक उपन्यासकी भूमिकामें लिखा है कि इँगलैंडके अधिकांश पाठकोंको उस उपन्यासमें अनायास ही कथा-रसकी अनुभूति नहीं होगी। वही रचनाएँ लोकप्रिय होती हैं, जो पाठकोंके मानसिक विकासके अनुकूल होती हैं। अतएव यह तो स्वीकार करना होगा कि बंग-भाषाके उपन्यास हिन्दी भाषा-भाषी पाठकोंके बौद्धिक विकास या मानसिक क्षमताके अनुकूल हैं।

बंग-भाषाके उपन्यासकारोंमें भी शरत् बाबूकी रचनाएँ कदाचित् सबसे अधिक लोकप्रिय हैं। एक बार पं० बनारसीदास चतुर्वेदीने अपने किसी लेखमें लिखा था कि उनसे किसी हिन्दी सज्जनने पूछा कि आप किस लेखकके उपन्यास पढ़कर करुण रससे कितने अभिभूत हुए और किसके उपन्यासों द्वारा आपको सोचने-समझनेके लिए कितनी अधिक प्रेरणा मिली? उन्होंने उत्तर दिया कि शरत् बाबूके उपन्यासोंको पढ़कर मैं ७५ फीसदी करुण रससे अभिभूत हुआ और २५ फीसदी विचारकी प्रेरणा मुझे हुई। रवीन्द्र बाबूकी कृतियोंमें मुझे ७५ फीसदी विचारकी सामग्री उपलब्ध हुई और २५ फीसदी करुणरसकी अनुभूति हुई। प्रेमचन्दजीके उपन्यासोंमें यदि मुझे पचास फीसदी

सोचने-विचारनेकी प्रेरणा हुई है, तो ५० फीसदी करुण-रसका आविर्भाव हुआ। जैनेन्द्रजीने भी अपने किसी लेखमें कुछ ऐसी ही बात लिखी है। उनका कथन था कि शरत् बाबूने जितना उन्हें रुलाया, उतना अन्य किसी उपन्यासकारने नहीं। साधारण पाठकोंके सम्बन्धमें तो यह बात निश्चित रूपसे कही जा सकती है कि जो रचनाएँ उनके हृदयके सुकोमल भावोंको उत्तेजित करती हैं, उन्हींमें उन्हें रसकी अनुभूति होती है। स्वयं शरत् बाबूने लिखा है कि कहानी पढ़कर आनन्दके अतिरेकसे यदि आँखें गीली न हो जायँ, तो वह कहानी कैसी ?

यह सच है कि उपन्यासोंमें समाजके दोष प्रदर्शित होते हैं और संसारके कष्टों तथा अत्याचारोंका चित्रण होता है। परन्तु इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। साधारणतया सभी पाठक उपन्यासोंको मनकी एक स्वच्छंद स्थितिमें ही पढ़ना पसन्द करते हैं। जब उन्हें अपने कर्त्तव्य-भारकी कोई विशेष चिन्ता नहीं होती, जब वे कर्मक्षेत्रसे विरत होकर मनमें एक क्लान्तिका अनुभव करते हैं, तभी वे विशुद्ध आनन्दकी अनुभूतिके लिए उपन्यास पढ़ते हैं। उस समय वे अपने जीवनकी यथार्थ कटुताको भूलकर कल्पनाके किसी ऐसे लोकमें विहार करना चाहते हैं, जहाँ उन्हें जीवनका सच्चा उल्लास उपलब्ध हो। जीवनकी सभी परिस्थितियोंके वर्णनमें साहित्यकारोंके द्वारा एक विशेष रसकी अवतारणा की जाती है। उनमें प्रेम और वेदना, हास्य और उत्साह, क्रोध और भय, घृणा और आतंक आदि सभी भावोंके द्वारा एक अलौकिक आनन्दकी अनुभूति होती है। उन सभी रसोंके लिए पाठकोंके मनमें एक लालसा होती है। वे उपन्यास-जगत्के पात्रोंके साथ जीवनकी सभी परिस्थितियोंमें जाकर हँसते-रोते, सोचते-विचारते और भिन्न-भिन्न भावोंका अनुभव करते हैं। अपने जीवनमें जिन बातोंको देखकर भी वे नहीं देख पाते, उनकी ओर हठात् उनकी दृष्टि जाती है। कल्पनाके उस मायालोकमें भी वे जीवनकी यथार्थता पाते हैं और उपन्यासके उन कल्पित पात्रोंसे उनका इतना अधिक अनुराग हो जाता है कि उनकी कल्पित समस्याएँ भी उनके लिए अपनी समस्याएँ हो जाती हैं और इसी लिए अन्त तक उनके मनमें यह व्यग्रता रहती है कि उपन्यासकारने किस प्रकार उन समस्याओंका समाधान किया। शरत् बाबूमें

कलाकी वह विशेषता है, जिसके कारण उनकी सभी कथाएँ हृदयके मर्मस्थल-पर आघात करती हैं। उनकी इस विशेषताको समझनेमें उनके इन पत्रोंसे बड़ी सहायता मिलती है। उनके अधिकांश पत्र ऐसे हैं, जिन्हें पढ़कर साधारण पाठक भी कथा-साहित्यकी कितनी ही विशेषताओंको अच्छी तरह समझ सकते हैं। साहित्यकारोंके लिए भी इन पत्रोंके द्वारा विचारकी अच्छी सामग्री मिल जाती है।

हिन्दीमें पत्र-साहित्यका अभाव है। डा० महादेव साहाने अपनी भूमिकामें लिखा है कि भारतीय पत्र-साहित्यमें बंगलाका पत्र-साहित्य आगे बढ़ा हुआ है। उन्नीसवीं और बीसवीं सदीके कितने ही साहित्यकारोंके पत्र-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। हिन्दीमें रवीन्द्र बाबूके पत्रोंके अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। अब शरत् बाबूका पत्र-संग्रह प्रकाशित हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि साहित्यमें व्यक्तिगत पत्रोंका एक विशेष स्थान है। पर पत्रोंका महत्त्व पत्र-लेखकोंके व्यक्तित्वपर निर्भर रहता है। जब कोई पत्र-लेखक किसीको पत्र लिखता है, तब वह उसमें अपने मनके सच्चे भावोंको सच्चे रूपमें ही व्यक्त करता है। उसमें कलाकी कृत्रिम कुशलताके लिए स्थान नहीं रहता। जॉनसनने लिखा है कि पत्रोंमें आत्माका यथार्थ रूप लक्षित होता है। निबंधोंमें भी भावोंकी स्वच्छंद अभिव्यक्ति होती है। परन्तु लेखक निबंधोंको सभी तरहके पाठकोंके लिए लिखता है। उसमें वह उन्हीं भावोंको व्यक्त करता है, जिन्हें वह विश्वके सामने उपस्थित करनेमें जरा भी संकोच नहीं करता; परन्तु पत्र केवल एक विशेष पाठकके लिए लिखे जाते हैं। लेखकके मनमें कभी यह बात नहीं आती कि उसका वह पत्र सार्वजनिक हो जायगा।

पत्र तो सभीको लिखने पड़ते हैं। जैसी आवश्यकता होती है, उसीके अनुसार सभी लोग अपने बन्धु-बान्धव और परिचित जनोंको पत्र लिखते रहते हैं। उनमें कामकी बातें रहती हैं, लड़ाई-झगड़ों और झंझटोंकी भी चर्चा रहती है। जिनसे जितनी अधिक आत्मीयता रहती है, उनके पत्रोंमें उतने ही अधिक भावोंका स्पष्ट चित्रण होता है। परन्तु उन पत्रोंकी गणना तभी पत्र-साहित्यमें होती है, जब लेखकके व्यक्तित्वमें एक विशेष आकर्षण रहता है। जिस व्यक्तिमें जीवनकी जितनी अधिक विशालता रहती है, उसके पत्रोंमें भी उतनी

ही स्पष्ट झलक उन सभी भावोंकी आ जाती है, जिनके कारण उसका जीवन विशाल होता है। शरत् बाबूके पत्रोंमें भी उनके जीवनकी वह विशालता है, जो उपन्यासोंमें विद्यमान है। अनुवादकने ठीक ही लिखा है कि इन पत्रोंको पढ़नेसे पता चलता है कि शरत् बाबू अपने व्यक्तिगत जीवनमें कितने महान् थे। साहित्यके क्षेत्रमें उन्होंने नए-नए कितने साहित्यकारोंको तैयार किया, भिन्नभिन्न पत्रिकाओंके लिए कितने निःस्वार्थ भावसे अथक् परिश्रम किया, तथा जीवन-पथमें आनेवाली विभिन्न कठिनाइयोंका कैसे सामना किया।

यह कहना सचमुच कठिन है कि उपन्यासकार अथवा कविमें जो विशेष उदात्त कल्पना-शक्ति लक्षित होती है, वह उसमें किस प्रकार आ जाती है? क्या आकाशमें विद्युत्की तरह साहित्यकारकी वह प्रतिभा या विलक्षण शक्ति, आपसे-आप चमक उठती है? पर इसमें सन्देह नहीं कि साहित्यकारोंमें कलाकी जो कुशलता आती है, उसके लिए यथेष्ट परिश्रम करना पड़ता है। शरत् बाबूने एक पत्रमें 'लिखा है कि लेखन-कार्यमें जो शिल्प-कौशल और कला है, उसे जरा और यत्नसे आयत्त करना पड़ता है। केवल लिखना ही नहीं, लिखनेकी विद्याको भी सीखना चाहिए, तब उच्छ्वसित हृदय जिस बातको शतमुखसे कहना चाहता है, वही शान्त, संयत होकर जरासे गंभीर इशारेसे सम्पूर्ण होता है। पाठकोंका समूह इतना आलसी है कि शतयोजनकी सीढ़ी पार करके स्वर्ग भी नहीं जाना चाहता, अगर उसे जरा-सी कलाबाजी करके नरक पहुँच जानेका रास्ता मिल जाय। इस बातको याद रखना, रचनाके लिए सबसे बड़ा कौशल है। डायलॉग छोटा होना चाहिए, मीठा होना चाहिए, किसी भी हालतमें यह नहीं लगना चाहिए कि प्रयोजनके अतिरिक्त एक भी अक्षर अधिक कहा है—यही आर्टिस्टिक फार्मका भीतरी रहस्य है। पहले शायद लगे कि सारी बातें नहीं कह सका, मगर यहीं लेखक सबसे बड़ी भूल करता है। यह भी बल्कि अच्छा कि पाठक न समझे, पर अधिक समझानेकी गरज लेखककी ओरसे नहीं प्रकट होनी चाहिए।'

आजकल हिन्दीमें भी यह चर्चा प्रचलित है कि कला कलाके लिए होती है। शरत् बाबूने लिखा है—"मैं उन नारोंको नहीं मानता, जैसे कला कलाके लिए, धर्म धर्मके लिए, सत्य सत्यके लिए। कलाकी उपलब्धि सबकी एक प्रकारकी नहीं होती। वह अन्तरकी वस्तु है। उसकी संज्ञाका निर्देश करते

जाना और उसके बाद ही जोरका झोंका देना अवैध है। धर्म, सत्य आदि केवल बातें ही नहीं हैं। उनसे भी कुछ अधिक है, इस बातको सदा याद रखना चाहिए। कहानीका उद्देश्य अगर चित्तका रंजन करना ही है, तो भी यह तथ्य रह जाता है कि वह दो शब्दोंका समावेश है—चित्त और रंजन। एकका चित्त जिस बातसे खुशीसे फूला नहीं समाता, हो सकता है कि दूसरेको उससे कोई आनन्द न मिले। एक बहुत शिक्षित व्यक्तिको देखा है, जो 'दो-धारा' के १५-२० पृष्ठोंसे अधिक नहीं पढ़ सका। मगर मैं किस तरह पुस्तक समाप्त कर गया, यह समझ ही न सका। कहानी लिखनेके नियमक उसमें कहाँ तक उल्लंघन किया गया है, यह मैं नहीं जानता और न जाननेकी इच्छा भी है। मैं प्रसन्न हुआ था, तृप्ति पाई थी, यह एक तथ्य है। फिर भी यदि तर्क किया जाय कि कला क्या है, तो उसे मैं नहीं जानता, नहीं समझता, अवश्य ही चुप रह जाऊँगा। लेकिन इस ५६ सालकी उम्रवाले मनको किसी तरह राजी न कर सकूँगा।"

प्रायः सभी साहित्यकारोंकी प्रतिभा उनके बाल्यकालकी रचनाओंमें लक्षित हो जाती है। शरत् बाबूने बाल्य-कालमें कितनी ही रचनाएँ की थीं। उनका 'काशीनाथ' नामक उपन्यास बाल्य-कालकी रचना है। उनकी एक कहानी 'बोझा' भी बाल्यकालमें लिखी गई थी। बोझाके प्रकाशनके बाद उन्होंने अपने बाल्यकालकी उन रचनाओंके सम्बन्धमें लिखा है—"काशीनाथकी कथा बचपनमें अभ्यासके लिए लिखी गई कहानी है। छपवाना तो दूर रहा, लोगोंको दिखाना भी उचित नहीं। मेरी हार्दिक इच्छा है कि वह न छपे और मेरे नामको मिट्टीमें न मिलाया जाए। अकेला 'बोझा' ही काफी हो गया है। अगर वह छाप दिया जायगा, तो लज्जासे मैं गड़ जाऊँगा।"

शरत् बाबू यह नहीं चाहते थे कि उनका 'चन्द्रनाथ' नामक उपन्यास भी जैसा है, वैसा ही छपे। वे उसमें विशेष संशोधन और परिवर्त्तन करनेके बाद उसे छपाना चाहते थे। वे उसे बिलकुल नये साँचेमें ढाल देना चाहते थे। इसमें संदेह नहीं कि कोई भी उपन्यास प्रतिभाकी स्फूर्तिका फल नहीं होता। कथावस्तु सोच लेनेके बाद भी उसका उचित विकास करनेके लिए

यथेष्ट परिश्रम करना पड़ता है। शरत् बाबूके पत्रोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे एक कलाकारकी तरह अपनी कहानियोंकी रचना करते थे। उनकी सभी कथाएँ खूब परिश्रमके साथ लिखी गई हैं। कहा गया है कि कलाकी सच्ची विशेषता यह है कि उसमें जितना ही अधिक परिश्रम किया जाता है, उतना ही उसका एक ऐसा रूप निखर आता है कि पाठकोंको ऐसा जान पड़ता है, मानो वह अनायास ही निर्मित हो गया है।

कथा-साहित्यके लिए जो बात सबसे बड़ी आवश्यक है, वह है आत्मानुभूति। शरत् बाबूने एक स्थानमें लिखा है कि "जीवनमें जिसने प्यार नहीं किया, कलंक मोल नहीं लिया, दुःखका बोझ नहीं ढोया, सच्ची अनुभूतिका अपहरण नहीं किया, उसकी दूसरेके मुँहसे लिये गए स्वाद-सी कल्पना सच्चे साहित्यकी सामग्री कब-तक बनेगी? नाक दबाए प्राणायामके योगबलसे और कुछ भी क्यों न हो, यह वस्तु नहीं हो सकती। जिसका अपना ही जीवन नीरस है, बंगालकी बाल-विधवाकी तरह पवित्र है, वह प्रथम जीवनके आवेगसे जितना भी करे, दो दिनमें सब कुछ मरुभूमिकी तरह शुष्क, श्रीहीन हो उठेगा। सबसे जिन्दा रचना वही है, जिसे पढ़नेसे लगे कि ग्रन्थकार अपने अन्तरसे सब-कुछको बाहर फूलकी भाँति खिला रहा है। मेरी सारी पुस्तकोंके नायक-नायिकाओंको लोग समझते हैं कि शायद वही ग्रन्थकारका अपना जीवन है।"

अपनी एक शिष्याके पत्रके उत्तरमें उन्होंने लिखा था कि 'राजलक्ष्मी कहाँ मिलेगी? वह तो सारी मनगढ़न्त कहानी है। श्रीकान्त उपन्यासके सिवाय और कुछ नहीं है।' कहानी क्या सच है? यह ठीक है कि कहानीमें पात्र कल्पनाकी ही सृष्टि होते हैं। परन्तु उसके भीतर जीवनकी जो सच्ची अनुभूति रहती है, उसीके कारण उसमें यथार्थता आती है। जीवनके प्रारम्भिक कालमें कल्पना-शक्ति विशेष तीव्र होती है, इसी लिए शरत् बाबूने एक स्थानमें यह राय दी कि "कम उम्रमें कहानी लिखना अच्छा है, कविता लिखना और भी अच्छा है। जीवनमें उम्रके साथ-साथ जो वस्तु मिलती है, उसका नाम है अनुभव। केवल पुस्तकें पढ़कर इसे नहीं पाया जा सकता। और न पाने तक इसका मूल्य नहीं मालूम होता। परन्तु अनुभव और दूरदर्शिता आदि केवल

शक्ति ही प्रदान नहीं करते, शक्तिका हरण भी करते हैं। इसी लिए कम उम्र रहते ही कुछ कामोंको समाप्त कर देना चाहिए, जैसे कहानी लिखना। उम्रके साथ-साथ आलोचक बढ़ता जाता है। इसी लिए अधिक उम्रमें जब लेखक लिखने बैठता है, तब आलोचक पग-पगपर उसका हाथ पकड़ लेता है। वह रचना ज्ञान तथा विद्या-बुद्धिकी दृष्टिसे कितनी ही बड़ी क्यों न हो जाय, रसकी दृष्टिसे उसमें त्रुटि होती है। जवानीको पारकर जो व्यक्ति रस-सृजनका आयोजन करता है, वह भूल करता है। मनुष्यकी एक उम्र है, जिसके बाद काव्य हो या उपन्यास, लिखना उचित नहीं है।"

शरत्बाबूके उपन्यासोंसे बंगला-साहित्यमें यथेष्ट हलचल हुई थी। रवीन्द्रनाथ ने 'पत्र-साहित्यकी महत्ता' शीर्षक एक पत्र लिखा था। उसमें कविने जिन लोगोंके बारेमें आलोचना की थी, उनमें एक शरत् बाबू भी थे। कम-से-कम कुछ लोगोंको सन्देह हुआ कि उन साहित्यकारोंमें एक शरत् बाबू भी हैं। कविकी शिकायतका विषय था कि वे मतवाले हाथी हैं, वे बकवास करते हैं, पहलवानी करते हैं, कसरत-करामात दिखाते हैं, प्रॉब्लेम साल्व करते हैं। शरत् बाबूने उसके सम्बन्धमें लिखा कि "ये बातें जिस किसीको क्यों न कही जायँ, सुन्दर भी नहीं हैं और कानोंको प्रिय भी नहीं हैं। उपन्यासमें कितने ही प्रकारके प्रॉब्लेम रहते हैं—व्यक्तिगत, नीतिगत, सामाजिक, सांसारिक। इसके अलावा कहानीका अपना प्रॉब्लेम है, जो प्लाटसे सम्बन्ध रखता है, इसीकी गाँठ सबसे कठिन होती है। कुमारसंभवका प्रॉब्लेम, उत्तरकाण्डमें रामचन्द्रका प्रॉब्लेम, डाल्स हाउसमें नोराका प्रॉब्लेम तथा 'योगायोग'में कुमुदका प्रॉब्लेम एक ही जातिके नहीं हैं। जब 'योगायोग' विचित्रामें प्रकाशित हो रहा था और अध्यायके बाद अध्याय कुमुने जो हंगामा खड़ा किया था, मैं तो समझ ही नहीं पाता था कि उस दुर्द्धर्ष प्रबल पराक्रान्त मधुसूदनसे उसकी रस्साकसी समाप्त कैसे होगी। लेकिन कौन जानता था कि समस्या इतनी सहज थी कि एक लेडी डाक्टर आकर उसका क्षणभरमें फैसला कर देगी। हमारे जलधर दादा भी प्रॉब्लेम बर्दाश्त नहीं कर पाते, बड़े खफा रहते हैं। उनकी एक पुस्तकमें इसी तरहके एक आदमीने बड़ी समस्या पैदा कर दी थी, लेकिन उसका फैसला दूसरी

तरहसे हो गया। फुफकारकर एक जहरीला साँप निकला और उसे काट लिया। दादासे पूछा था, यह क्या हुआ ? उन्होंने उत्तर दिया था कि क्यों, क्या साँप किसीको नहीं काटता ?"

सभी उपन्यासकार एक निश्चित उद्देश्यसे अपने उपन्यास-जगत्की रचना करते हैं। वे अपने पात्रोंके भाग्य-विधाता होते हैं। अपने निश्चित उद्देश्यकी पूर्तिके ही लिए वे अपने पात्रोंको जीवित रखते हैं। उनके जीवन और मृत्यु—दोनोंपर उन्हींका अधिकार रहता है। यह सच है, कि यथार्थ जीवनमें मनुष्योंका अन्त अनिश्चित रहता है। न जाने कब किसे मृत्यु अपने अनन्त रहस्यमय लोकमें ले जाय। विश्वके कर्म-क्षेत्रमें हम लोग प्रतिक्षण जीवनकी अस्थिरता और क्षणभंगुरताका अनुभव करते हैं। मृत्यु किसीकी प्रतीक्षा नहीं करती। यह सर्वथा सम्भव है कि जब कोई व्यक्ति कितने ही विघ्नोंका अतिक्रमण कर सफलताके पथपर पहुँचा हो, तभी सहसा उसे मृत्यु ले जाय। इसी लिए संसारमें कितने ही कार्य विफल हो जाते हैं, कितनी ही आशाएँ विलुप्त हो जाती हैं। कितनी ही ऐसी घटनाएँ हो जाती हैं, जिनके सम्बन्धमें हम कुछ सोचते भी नहीं। विधिके किस विधानके द्वारा संसारमें जीवन और मृत्युका कार्य निश्चित होता है, यह सभीके लिए अज्ञात रहता है। इसी लिए कुछ उपन्यासकारोंने भी अपने उपन्यास-जगत्में जीवन पर किसी अदृष्ट शक्तिका विशेष प्रभाव प्रदर्शित किया है। उनसे ऐसा प्रतीत होता है, मानो मनुष्योंकी अपनी कुछ इच्छा नहीं है, अपनी कोई शक्ति नहीं है, मानो सब किसी अज्ञात शक्तिकी प्रेरणासे एक निर्दिष्ट पथपर विवश होकर गमन करते हैं और कभी हीनताके गर्त्तमें गिर जाते हैं और कभी गौरवके उच्च शिखरपर पहुँच जाते हैं।

उपन्यासोंमें किसी एक व्यक्तिकी कथा रहती है। संयोग-वश उसके जीवनमें भी कुछ ऐसी घटनाएँ हो जाती हैं, जिनके कारण उसके जीवनकी गति एक विशेष दिशाकी ओर निर्दिष्ट हो जाती है। शरत् बाबूके उपन्यासोंकी एक विशेषता यह है कि उनमें संयोगवश कोई ऐसी घटना नहीं होती। सुख अथवा दुःखकी जो बातें पात्रोंके जीवनमें होती हैं, उनका एकमात्र कारण उन पात्रोंकी अपनी चरित्रगत विशेषता है। उनकी समस्याएँ उनके अन्तर्जगत्के

समस्याएँ हैं। उनमें प्रेमके मान और अभिमानकी प्रधानता है। प्रेमके त्याग और स्नेहकी सहिष्णुताके कारण बहिर्जगत्‌की प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी अनुकूल हो जाती हैं। उसी प्रकार प्रेमके अभिमानके कारण जीवनमें दुर्लंघ्य व्यवधान निर्मित हो जाता है। यह एक संयोगकी बात थी कि रवीन्द्र बाबूके 'नौका-डूबी' नामक उपन्यासमें उसी दिन दूसरी बारात भी लौट रही थी, जिस दिन नायक अपनी नव विवाहिता स्त्रीको लेकर लौट रहा था। यह भी एक संयोगकी बात है कि जिस प्रकार उसने अपनी स्त्रीको विवाह-मंडपमें नहीं देखा, उसी प्रकार कमलाने भी अपने पतिको नहीं देखा था। इसी लिए नौका डूब जानेके बाद जब कमलासे उसकी भेंट हुई, तब उसने कमलाको अपनी स्त्री समझ लिया और कमलाने भी उसको अपना पति मान लिया। ऐसी घटनाएँ सम्भव नहीं हैं। परन्तु जब संयोगवश कोई बात होती है, तब सभी तरहकी घटनाएँ सम्भव हो जाती हैं।

पाश्चात्य देशोंमें तो प्रेम-विवाह होता है, फिर भी वहाँ एक ऐसी ही कथा प्रसिद्ध है, जिसमें पतिके लिए पत्नी और पत्नीके लिए पति दोनों ही अज्ञात थे। एक युवती किसी युवकसे प्रेम करती थी, परन्तु उसका पिता उस विवाहका विरोधी था। वह नहीं चाहता था कि उसकी लड़की उस युवकसे मिले। वह युवक दूसरे गाँवमें रहता था। दोनोंने मिलकर यह निश्चय किया कि किसी तीसरे गाँवके गिरजाघरमें जाकर वे गुप्त रूपसे विवाह कर लेंगे। विवाहको गुप्त रखनेके लिए उन्होंने सब तरहसे प्रबंध कर लिया था। निश्चित दिनमें युवती अपने घरसे छिपकर निकल पड़ी। उस दिन खूब आँधी आई। हिमकी भयानक वर्षा हुई। उसके कारण अर्ध-चेतनाकी अवस्थामें वह युवती गिरजाघर पहुँची। परन्तु उसका प्रेमी युवक नहीं आया था। एक-एक क्षणका विलम्ब युवतीके लिए असह्य हो रहा था। उसी समय उस आँधीमें एक व्यक्ति आता दिखाई पड़ा। उसकी भी बड़ी बुरी अवस्था थी। ज्यों ही वह लड़खड़ाता हुआ गिरजाघरके भीतर घुसा, त्यों ही पादरीने उसे पकड़कर उसकी अर्धमूर्च्छित अवस्थामें उस युवतीसे उसका विवाह करा दिया। विवाहकी विधि सम्पन्न हो जानेके बाद वह युवती तुरन्त ही अपने घर लौट गई। दूसरे दिन उसे घरमें अपने प्रेमीका पत्र मिला। उसमें उसने गिरजाघर न आनेके

लिए खेद प्रकट किया था और लिखा था कि परिस्थितिके कारण उसे बाहर चले जाना पड़ा। उस पत्रको पढ़कर वह युवती अवाक् रह गई। वह समझ नहीं सकी कि किससे उसने विवाह कर लिया। गिरजाघर जाकर उसने रजिस्टरको देखा, पर उस रजिस्टरमें उसके पतिके हस्ताक्षर इतने अस्पष्ट थे कि वह उसका नाम तक न जान सकी। वह हताश हो गई। कितने ही वर्षोंके बाद एक दूसरे युवकसे उसका परिचय हुआ। उस परिचयने प्रेमका रूप धारण कर लिया, परन्तु वह युवती विवाहकी बात भी नहीं सोच सकती थी, क्योंकि वह अपने पूर्व-विवाहकी बात भी नहीं बतला सकती थी। एक दिन उस युवकने उसको बतलाया कि एक विचित्र परिस्थितिमें उसका विवाह किसी अपरिचित युवतीसे हो गया है, यद्यपि वह उसे विवाह ही नहीं समझता। उसने सारी घटनाका वर्णन किया। तब वह युवती चौंक पड़ी, क्योंकि वह तो उसीके विवाहका वर्णन था। संयोगवश उसी युवकसे युवतीको मिलाकर कथाकारने उनकी वैवाहिक समस्याको हल कर दिया। इसी प्रकार अधिकांश उपन्यासकार अपने कल्पित नायकोंकी कल्पित समस्याओंका हल कर देते हैं। कभी-कभी जब प्रेमकी समस्या अत्यन्त जटिल हो जाती है, तब मृत्यु ही नायक या नायिकाकी समस्याका हल कर देती है।

३

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालयद्वारा प्रकाशित शरत्-साहित्यके अन्तर्गत शरत् बाबूके चार अपूर्ण उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। उनके नाम हैं जागरण, आनेकी आशामें, आगामी काल और भला-बुरा। इनके अतिरिक्त रसचक्र नामक एक पंचायती उपन्यासका प्रारम्भिक अध्याय भी है। शरत् बाबूकी कितनी ही पूर्ण रचनाएँ पढ़ लेनेके बाद उनकी इन असम्पूर्ण रचनाओंके प्रति भी पाठकोंके लिए एक आकर्षण है। उनकी कल्पना-शक्तिको एक विशेष उत्तेजना मिलती है और कुछ सोचने और विचार करनेकी भी सामग्री प्राप्त हो जाती है। उपन्यासोंमें देश और कालकी परिस्थितियोंके भीतर किसी एक व्यक्तिके चरित्रका विकास प्रदर्शित होता है। आख्यायिकाओंमें केवल एक भाव अथवा एक घटनाके द्वारा व्यक्तिके चरित्रकी झलक स्पष्ट रूपसे

दिखा दी जाती है। 'जागरण' और 'आगामी काल' को छोड़कर 'आनेकी आशामें' और 'भला-बुरा' में उपन्यासकी अपूर्णता रहनेपर भी आख्यायिकाका एक रस विद्यमान है। 'आनेकी आशामें' नामक रचनामें भावका ऐसा सुन्दर विश्लेषण हुआ है कि वह अपूर्ण नहीं प्रतीत होती। 'भला-बुरा' को पढ़कर प्रेमचन्दजीकी उस कहानीका स्मरण हो आता है, जिसमें उस इंजीनियरका चरित्र अंकित किया गया है, जिसने ठेकेदारोंसे कभी रिश्वत नहीं ली और अपनी इसी ईमानदारीके कारण जिसको अपने पदसे हटना पड़ा। 'जागरण' और 'आगामी काल' में कथाकी अपूर्णता अवश्य है परन्तु इन दोनोंको पढ़नेके बाद पाठकोंके हृदयमें यह कौतूहल अवश्य उत्पन्न होता है कि इन उपन्यासोंका अन्त किस प्रकार किया जाता।

विश्व-साहित्यमें कुछ ऐसे भी उपन्यास प्रकाशित हुए हैं, जो किसी एक लेखककी अपूर्ण रचना होने पर किसी अन्य लेखकके द्वारा पूर्ण किए गए हैं। अँगरेजीके एक सुप्रसिद्ध उपन्यास-लेखक स्टीवेन्सन साहबके एक अधूरे उपन्यासको एक दूसरे विख्यात लेखकने पूर्ण किया। संस्कृत-साहित्यके एक प्रसिद्ध ग्रंथ 'कादम्बरी'के सम्बन्धमे भी यह बात प्रसिद्ध है कि बाण भट्ट उसे अधूरा छोड़ गए थे और उसको पूर्ण किया उनके पुत्रने। हिन्दीमें देवकीनन्दन खत्रीके 'भूतनाथ' नामक अपूर्ण उपन्यासको उनके पुत्रने पूरा किया। घटना-प्रधान उपन्यासोंमें कल्पना-शक्तिकी ही विशेष आवश्यकता होती है। यदि घटना-प्रधान उपन्यास अपूर्ण रह गए, तो कोई भी निपुण उपन्यासकार अपनी कल्पना-शक्तिसे उसे पूर्ण कर सकता है। परन्तु जिन उपन्यासोंमें जीवनकी समस्याएँ रहती हैं और जिनमें चरित्रकी विशेषताके साथ भावकी असाधारणता होती है, उन्हें सभी लेखक समान रूपसे व्यक्त नहीं कर सकते। यह सम्भव नहीं है कि 'जागरण' और 'आगामी काल' को कोई दूसरा लेखक पूर्ण कर सके। उपन्यासोंमें कुछ सच होता है और कुछ झूठ। जो सच रहता है, वह एकमात्र लेखककी अपनी अनुभूतिपर निर्भर रहता है। शरत् बाबूने अपने एक पत्रमें लिखा है—"आचार्योंने कहा है कि कलाकी साधनाका मूल सूत्र है सत्य, शिव और सुन्दर। अर्थात् साधना सत्यपर आधारित हो, सुन्दरपर आधारित हो और उसका फल कल्याणमय

हो। जो विज्ञानके साधक हैं, उनका एकमात्र मंत्र है सत्य। साधनाका फल सुन्दर हो या असुन्दर, कल्याणकर हो अथवा अकल्याणकर—इसमें उनकी आसक्ति नहीं रहती। लेकिन साहित्य-सेवामें बहुत दिनोंसे व्रती रहकर मैं निरन्तर अनुभव करता हूँ कि यहाँ सत्य और सुन्दरमें पग-पगपर विरोध उठ खड़ा होता है। संसारमें जो घटनाका सत्य है, वह साहित्यमें सुन्दर नहीं भी हो सकता और जो सुन्दर है, वह, हो सकता है, साहित्यमें सोलहों आने मिथ्या हो। जिसे सत्यके रूपमें जानता हूँ, उसे साकार मूर्त्तरूप देने जाकर देखता हूँ कि वह बीभत्स कदाकार हो जाता है। दूसरी ओर असत्यका वर्जन करनेपर भी सुन्दरका रूप नहीं मिलता।" जागरण और आगामी कालमें शरत् बाबूने भारतकी वर्तमान समस्याओंपर विचारकर भविष्यकी ओर इंगित किया है। केवल भारतमें ही नहीं, समस्त विश्वमें क्रान्तिकी जो एक नव भावना फैल रही है, उसके कारण जीवनके सभी क्षेत्रोंमें एक हलचल मच गई है। संसारके कर्मक्षेत्रमें एक नव-आदर्शके निर्माणके लिए जो व्यग्रता देखी जाती है, उसका साहित्यके क्षेत्रपर भी प्रभाव पड़ रहा है। आधुनिक साहित्यमें इतना अधिक परिवर्त्तन हो रहा है कि अब अति आधुनिक साहित्यकी भी एक सृष्टि होने लगी है। समाजकी रीति-नीतिकी व्यवस्थाको लेकर कितने ही ऐसे उपन्यास लिखे जा रहे हैं, जिनमें प्रचलित नैतिक व्यवस्थाके प्रति उग्र विद्रोहका भाव प्रदर्शित हो रहा है। राजनीतिके क्षेत्रमें भी एक विप्लवकी भावना देखी जा रही है। इस विप्लव और विद्रोहके सम्बन्धमें शरत् बाबूने लिखा है कि विप्लव और विद्रोह एक वस्तु नहीं है। क्या कहीं देखा है कि विप्लवसे पराधीन देश स्वाधीन हुआ है? इतिहासमें कहीं नजीर है? विप्लवके अन्दरसे स्वतन्त्र देशमें ही सरकारका रूप अथवा सामाजिक नीति परिवर्तित की जा सकती है। मैं नहीं समझता कि विप्लवसे पराधीन देश स्वाधीन किया जा सकता है। विप्लवमें वर्गयुद्ध है, गृहयुद्ध है, आत्मकलह और गृहविच्छेद है। विप्लव एकताका विरोधी है। इस विप्लव और विद्रोहसे शरत् बाबूका चाहे जो अभिप्राय रहा हो; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनके कितने ही औपन्यासिक पात्रोंमें विद्रोहकी एक प्रबल भावना लक्षित होती है। वह विद्रोह-भावना समाजकी प्रचलित नीति-व्यवस्थाके प्रति है और शासनकी व्यवस्थाके

प्रति भी है। उनके 'चरित्रहीन' तथा अन्य उपन्यासोंसे साहित्यके क्षेत्रमें काफी हलचल हुई। 'चरित्रहीन' के सम्बन्धमें यह कहा गया कि वह इतना अनैतिक है कि वह किसी पत्रिकामें प्रकाशित नहीं हो सकता। परन्तु शरत् बाबूको अपनी उस कृतिके सम्बन्धमें पूर्ण विश्वास था। उन्होंने अपने एक पत्रमें लिखा है कि केवल नाम और प्रारम्भको देखकर ही 'चरित्रहीन' को चरित्रहीन नहीं समझ लेना चाहिए। मैं नीति-शास्त्रका एक विद्यार्थी हूँ, सच्चा विद्यार्थी हूँ। नीति-शास्त्र समझता हूँ और किसीसे कम समझता हूँ, मेरा ऐसा खयाल नहीं है। फिर भी यह सच है कि शरत् बाबू लोगोंके संकीर्ण विचारोंसे विक्षुब्ध हो गए थे। उन्होंने लिखा है कि दिन-दिन हमारा साहित्य मानो एक ही साँचेमें ढला-सा होता जा रहा है; प्रतिदिन संकीर्णसे संकीर्णतर हो रहा है। इसी लिए कभी-कभी मुझे लगता है कि उच्छृङ्खल रचनाएँ शुरू कर दूँ। केवल गुस्सेमें आकर जैसा तैसा लिखा करूँ! किन्तु शरत् बाबूको अपने युगके नव-साहित्यसे सन्तोष नहीं था। उन्होंने एक जगह लिखा है कि आजकल मासिक पत्रोंमें जो कहानियाँ प्रकाशित होती हैं, वे न तो कहानियाँ हैं और न साहित्य ही। किसीमें तत्त्व नहीं, भाव नहीं, केवल शब्दोंका आडम्बर, घटनाओंका समावेश और जबरदस्ती 'पेथास'। बूढ़ी वेश्याको युवती सजाकर लोगोंको भुलावेमें डालनेकी चेष्टा देखनेसे मनमें एक वितृष्णा, लज्जा अथवा करुणा होती है। शरत् बाबूको यह आशंका होने लगी थी कि उनके बाद बंगला-उपन्यास-साहित्यका स्थान शायद कुछ नीचे चला जायगा। आधुनिक साहित्यके सम्बन्धमें वे एक संकेत छोड़ जाना चाहते थे। उन्होंने 'शेष प्रश्न' नामका जो उपन्यास लिखा है, उसके सम्बन्धमें उनका स्वयं कथन था कि 'शेष प्रश्न' में अति आधुनिक साहित्य कैसा होना चाहिए, इसीका कुछ आभास देनेकी चेष्टा की गई है। 'खूब करूँगा, गर्जन करके गंदी बातें ही लिखूँगा'—यही मनोभाव अति-आधुनिक साहित्यका केन्द्रीय आधार नहीं है। 'शेष प्रश्न' बहुतेरे आधुनिक प्रश्नोंकी आलोचना है। आगामी कालके युवकोंको शायद इसका आभास मिल जायगा कि गंदा किए बगैर ही अति आधुनिक साहित्य लिखा जा सकता है। केवल कोमल पेलव रसानुभूति ही

नहीं, बुद्धिके लिए बलकारक भोजन उपस्थित करना भी अति आधुनिक साहित्यका एक बड़ा काम है।

'जागरण' को पढ़ते समय हिन्दीके पाठकोंको प्रेमचन्दजीकी 'कर्मभूमि' नामक रचनाका स्मरण हो आता है। कथावस्तुमें भिन्नता होने पर भी दोनोंमें एक समता लक्षित होती है। शरत् बाबूकी तुलना गार्ल्सवर्दीसे की गई है। प्रेमचन्दकी तुलना भी किसी किसीने गोर्कीसे की है। इतनी बात अवश्य कही जा सकती है कि शरत् बाबूने उच्च मध्यम श्रेणीके लोगोंका विशेष चित्रण, गार्ल्सवर्दीकी तरह किया है और प्रेमचन्दजीने दलित वर्गका मनोभाव गोर्कीकी तरह व्यक्त किया है। 'जागरण' और 'कर्मभूमि' में महात्मा गाँधीके असहयोग आन्दोलनका चित्र अंकित हुआ है। शरत् बाबूने लिखा है कि "जब असहयोग आन्दोलनकी तरंगे दुर्निवार होकर आस-पासको छूने लगीं, तब ऐसा लगता था कि निर्भय निरातंक शुद्ध शान्त तपस्वीकी लम्बी तपस्यासे जो यह द्रोहहीन असहयोग आविर्भूत हुआ है, उसकी उद्दाम गतिको रोकनेका सामर्थ्य किसीमें नहीं है। जहाँ कहीं जितना भी कुछ दुःख-दैन्य है, अन्याय, अत्याचार और लोभ-मोहका कूड़ा-कचरा युग-युगसे जहाँ जितना कुछ संचित होता रहा है, आन्दोलनकी यह प्रबलधारा सबको बहा ले जायगी, अभद्र एवं अकल्याणकर कोई भी वस्तु बच नहीं रहेगी।" 'कर्मभूमि' में डाक्टर शान्तिकुमारने असहयोग आन्दोलनके सम्बन्धमें कहा है कि हमारा किसीसे बैर नहीं है। जिस समाजमें गरीबोंके लिए स्थान नहीं है, वह उस घरकी तरह है, जिसकी बुनियाद न हो। यह न्याय नहीं है कि एक भाई बँगलेमें रहे और दूसरेको झोपड़ी भी नसीब न हो। समता जीवनका तत्त्व है। आधुनिक सभ्यता और शिक्षाके संस्कारोंसे हीन होने पर भी कर्मभूमिकी सुखदाने अभाव कभी नहीं दिखाया। भोग और विलासको वह जीवनकी सबसे मूल्यवान् वस्तु समझती थी। पर विलासिनी सुखदा अवसर पड़नेपर कष्ट झेलनेकी शक्ति रखती थी। यह बात उसने जीवनमें प्रकट भी कर दी। कुछ अंश तक 'कर्मभूमि' की सुखदाकी तुलना 'जागरण' की आलेख्य रायसे की जा सकती है। आलेख्य राय सुशिक्षिता थी, वह बेशुमार चाय-पार्टियों और डिनरोंमें शामिल हो चुकी थी। गाना-बजाना, दौड़-धूप, खेल, सभा-

सोसायटीके तौर-तरीके सब उसे मालूम थे। वह जानती थी कि देहातमें कोई ऐसा गाँव है, जो उनका कल्पवृक्ष है। न पानीकी जरूरत न देख-भालकी, बस जरा-सा हिला-डुला भर दो कि उसकी डालोंसे सोना, चाँदी झर-झर बरसने लगता है। जब वह अपने गाँवमें पहुँची, तब उसने अपने पितासे कहा कि फर्नीचर सारेके सारे बेकार हो गए हैं। उसने तय कर लिया कि चार-पाँच हजार रुपए खर्च कर वह नये फर्नीचर मँगवायगी। गद्दीकी मरम्मत कराना, कार्पेट खरीदना, चाय और डिनरसेट मँगवाना, उसने अत्यन्त आवश्यक समझा। परन्तु वह गाँवकी फिजूलखर्चीको बर्दाश्त नहीं कर सकी। उसने देखा कि गाँवमें कितने ही लोग बैठे-ठाले खा रहे हैं। उसने निश्चय किया कि वह सबको बर्खास्त कर देगी। उसने नयन गांगुली नामक एक कर्मचारीको बर्खास्त कर दिया, जो केवल १३ रु० मासिकपर अपना जीवन-निर्वाह कर रहा था। गांगुलीकी बर्खास्तगीका परिणाम यह हुआ कि अपने घरकी दुरवस्था देखकर उसने आत्महत्या कर डाली। १३ रु० कोई चीज नहीं है, परन्तु उन्हीं तेरह रुपयोंपर एक दरिद्र परिवारका खाना-पीना, आशा-आकांक्षा आनन्दविलास सब कुछ निर्भर है। जूतोंके जो बेशुमार जोड़े आलेख्यके पास पड़े थे, उनमेंसे एक भी जोड़ा उतनी छोटी रकममें खरीदा नहीं जा सकता था। आलेख्यको नयन गांगुली अपनी जान देकर उस तुच्छ रकमका यथार्थ मूल्य बता गया। यह बात नहीं है कि इस घटनाका प्रभाव आलेख्यपर नहीं पड़ा, फिर भी जब बूढ़े निमाईने उस बातकी चर्चा कर आलेख्यसे कहा कि इस दुर्घटनासे तुम्हें भी चोट पहुँची है, तब आलेख्यने उत्तर दिया—मैंने तो अपने कर्त्तव्यका पालन-मात्र किया है। निमाईने उसको समझाया कि तुम्हारा खर्च भारी है—कपड़े-लत्ते, जूते-मोजे, आईना-कंघी, साबुन-तेल, स्नो-क्रीम, पावडर-लिपिस्टिक आदि चीजोंपर भारी रकम उठ जाती है। एक आदमीकी रोटी-कपड़ेकी जरूरतसे अपनी इस विलास-सामग्रीकी जरूरतको बड़ी समझनेकी सुशिक्षा यदि कहीं तुम्हें मिली हो, तो उसे आज भुला देना ही बेहतर होगा। मानवताके न्यायालयमें जमींदारीके जोरसे ही किसीकी कोई दलील संगत एवं सच्ची नहीं मान ली जायगी। समझदार लोगोंने अफीम खिलाकर आज तक

जिन लोगोंको सुला रक्खा था, आज भूखकी आगसे उनकी नींद टूट गई है।' आलेख्यको अपने कृत्यके लिए पश्चात्ताप हुआ। उसने अपने पितासे कहा—"जो सभ्यता गरीबोंके मुँहका कौर, जन-साधारणका जीवन, अपनी मुट्ठीमें करके उन्हें मरनेको लाचार बना दे, वह राक्षसी नहीं तो और क्या कहलाएगी? मेरे जूते-कपड़े और दूसरे सामान अपने अन्दर न जाने कितने गांगुलियोंकी जीवन-यात्राको दबोचे हुए हैं। परन्तु जब इन्दुमती, जो आलेख्यके बचपनकी सहेली थी, अपने भाई कमलकिरणके साथ आई, तब उनके लिए रात्रि-भोजनका असाधारण आयोजन किया गया। ठाट-बाट, साज-सज्जा, ड्रेस-पोशाक, बातचीत, हँसी-खुशी—इस सबको देखकर ऐसा लगता था कि दुख-दर्दका भूत इस मकानको छोड़कर कहीं भाग गया है। उसी समय गाँवमें असहयोग-आन्दोलनका कार्यकर्त्ता अमरनाथ आ पहुँचा। भुक्कड़ोंकी इस बस्तीके बीच खान-पानका ऐसा विराट् आयोजन उसे मानव-समाजकी साकार हृदयहीनता मालूम हुआ। आलेख्यने कहा—'अँगरेजीमें एक लफ्ज है बिजी बाड़ी। दुर्भाग्यकी बात है कि संसारमें ऐसे जीव ज्यादा तादादमें मिलते हैं। इन्हीं जीवोंकी कृपासे बाबाको दौड़कर अपनी जमींदारीपर आना पड़ा। यह कैसी हवा चल पड़ी है इस देशमें? ये कुलपुत्र अपने अपने काम-धाम छोड़कर निस्स्वार्थ परोपकारमें लग पड़े हैं। बुद्ध और ईसाकी भूमिका धारण कर ली है इन्होंने। एक गालपर तमाचा खाकर दूसरा गाल आगे कर देनेको तैयार। गाल उनका अपना ठहरा, सहनशीलताकी बलिहारी, आगे कर दें—हमारा क्या आता-जाता है इसमें? परन्तु इसी बिनापर वे औरोंकी जमीन-जायदादके साथ खिलवाड़ करते फिरेंगे? अमरनाथसे झड़प होनेके बाद आलेख्यमें पहले जो कुछ लज्जा या ग्लानि उसके मनको कुंठित बना रही थी, उसका अन्त हो गया। आलेख्यको रत्ती-भर सन्देह नहीं रह गया कि वह औरोंकी संपत्तिकी अकारण हानि करनेवालोंका दलका आदमी है। वह अपनी जमींदारीका मुआइना करनेके लिए कमलकिरणकी मददसे एक नकशा बनानेमें व्यस्त हो गई। 'जागरण'में यहीं तक आलेख्यकी जीवन-कथा वर्णित है। कमलकिरणके साथ उसके विवाहकी बातचीत पक्की हो चुकी है। कमलकिरणका भी विश्वास है कि जमींदारों और रैयतोंमें विरोध पैदा करा

देना कुछ देशभक्तोंका धंधा हो गया है। उसका यह भी विश्वास था कि बोल्शेविक प्रोपेगण्डा और उनसे मिली रकम ही इसके पीछे काम कर रही है। इसीलिए बड़ी होशियारीकी जरूरत है। गाफिल रहनेपर जायदादसे हाथ धोना पड़ सकता है। इसीलिए उसने आलेख्यको नकशा बनानेमें पूरी मदद दी।

आलेख्यके स्वभावके विपरीत उसकी सहेली इन्दुका चरित्र अंकित किया गया है। आलेख्य देहाती दुनियाका जीवन नहीं अपना सकती, परन्तु इन्दु स्वयं उस जीवनको स्पृहणीय समझती है। उसकी दृष्टिमें ग्रामीण लोगोंका जीवन सुखी है। वह अमरनाथके यहाँ गई। उस घरके वातावरणसे वह मुग्ध हो गई। अमरनाथकी माताके स्नेहमय व्यवहारसे उसका अन्तःकरण परितृप्त हो गया। उसने सोचा कि इतना अधिक स्नेह और आदर उसे पहले कभी नहीं मिला था। अमरनाथकी उस शुद्ध आचरणवाली विधवा माताके समक्ष उसको एक संकोच-सा हो आया। उसने पहले कभी जात-पाँतका खयाल नहीं किया था। उसने कहा, आप लोग ठहरे ब्राह्मण और मैं हूँ कायस्थकी लड़की। अपने हाथोंसे आपने क्यों मेरे लिए आसनी डाली? उत्तरमें माँने कहा—"लक्ष्मी मेरी, सन्ध्याके समय तुम हमारे घर आई हो। देवताकी जाति नहीं हुआ करती। तुम सभी जातियोंसे ऊँची हो।" जब इन्दु लौटने लगी, तब उसने अमरनाथसे कहा—"बड़ी इच्छा हो रही है, कि आलेख्यका मकान छोड़कर कुछ दिन यहीं माँके पास आकर रहूँ।" अमरनाथ पल-भर इन्दुकी ओर देखता रहा और फिर आहिस्तेसे बोला—अभी मैं ऐसे सौभाग्यकी कल्पना तकका साहस नहीं कर पा रहा हूँ।

'जागरण' की कथा यहीं तक है। उसके नामसे सूचित होता है कि उसमें भारतके नव-जागरणकी कथा वर्णित हुई है। ऐसा जान पड़ता है कि आलेख्य और कमलकिरण जिस मोह-निद्रामें निमग्न थे, उससे उनका जागरण लेखकको अभीष्ट रहा होगा। शरत् बाबूने आलेख्यके पिताके साहबसे कहलाया है कि प्रजाकी मनःस्थितिमें भारी परिवर्तन आ गया है। जनता अब जमींदारी-प्रथाका नाश चाहती है। यह जमींदारी मिटेगी जरूर, पर एकमात्र जमींदारी-प्रथाके विनाशके आधार पर जागरणका निर्माण नहीं किया गया है। उसीके साथ पाश्चात्य संस्कारोंका जो कुफल प्रदर्शित हो रहा है, उसके कारण

भी शिक्षित समाजमें एक मोहावस्था आ गई है। एक ओर प्राचीन सभ्यताके पक्षपातियोंमें रूढ़ियोंकी कठोर परम्परा है, जिसमें मानवीय भावोंकी उपेक्षा की जाती है। उसी प्रकार नव-शिक्षित समाजमें भी ऐसी नवरूढ़ियोंका प्रचार बढ़ रहा है, जिसमें सच्ची सहृदयताका लोप हो रहा है। सच्ची मानवताके आधार-पर देशमें नव-जागरण हो, इसी उद्देश्यसे कदाचित् शरत् बाबूने अपना यह उपन्यास आरम्भ किया था।

'आगामी काल' में नारी-जीवनकी समस्याका वर्णन है। कल्याण-संघके संस्थापक एककौड़ीने अपने आफिसका काम चलानेका भार मणिमाला नामक एक तरुणीपर डाल दिया था। वह अपने काममें खूब मुस्तैद भी थी। देखनेमें वह खूबसूरत नहीं थी, परन्तु अँगरेजी और बंगला लिखनेमें वह पटु थी। एककौड़ी बाबू उससे बहुत प्रसन्न थे। उनका कथन था कि उसमें जैसी विद्या-बुद्धि है, वैसी ही उसमें चरित्रकी निर्मलता और साहस भी है। परन्तु संघके सेक्रेटरी जलधि बाबूने उनको बतलाया कि वह उसके मकानपर गया था। वहाँ उसने जाकर देखा कि मणिमाला बिस्तरपर लेटी हुई है और उसका एक मित्र सिरहाने बैठा उसका सिर दबा रहा है। पूछनेपर मणिने बतलाया कि कल गंगाके किनारे एक बड़के झाड़के नीचे मैं इसी रमेनके साथ रातभर बैठी रही। समय कैसे बीत गया, यह हममेंसे किसीको मालूम नहीं हुआ। यह बात कहनेमें मणिको लज्जा नहीं आई। जब जलधि बाबूने उससे कहा कि एककौड़ी दादा यह सुनकर उसे एप्रिशिएट नहीं करेंगे,—शायद नाराज ही होंगे, तब मणिने जवाब दिया कि उनके नाराज होनेका तो कोई कारण नहीं है। मैं बच्ची नहीं हूँ। जब एककौड़ी मणिमालाके यहाँ पहुंचे, तब रमेनने उनको बताया कि मैं मणिको पढ़ानेके लिए नियुक्त हुआ; परन्तु दो-तीन दिन पढ़ानेके बाद मैं समझ गया कि मैं उसको पढ़ाऊँगा सही, पर वह भी मुझको पढ़ा सकती है। इसलिए मैं उससे गप्प करके समय काट देता था। जब मणि परीक्षामें प्रथम आई, तब मणिके पिता उसको कालेजका आधा खर्च देने लगे। मैट्रिकुलेशनकी परीक्षा पास कर लेनेके बाद जब मणिको वजीफा मिला, तो उसका भी यश रमेनको मिला। एककौड़ीने बतलाया कि अब मणिको संघका काम नहीं चलाना पड़ेगा। मणिने कहा—मैं तो आपसे

एक हजार रुपए उधार लेना चाहती थी। एककौड़ीने कहा—मैं रुपए दे दूँगा। एककौड़ीने मणिकी जगहमें अजय नामक अर्थनीतिके एक एम० ए० पास युवकको नियुक्त कर दिया। जलधि बाबूने कहा कि उसे सिर्फ चेतावनी देकर मामलेको खतम करना चाहिए। एककौड़ीने कहा—हम उसके आचरणका अनुमोदन नहीं करते। इस तरहका स्वेच्छाचार हमें अच्छा नहीं लगता। इसलिए नौकरीसे अलग कर देनेकी बातको मणि अनायास ही समझ जायगी; परन्तु आँखें तरेरकर धमकी देनेको वह नहीं समझेगी। इसके बाद नारी-समितिकी ओरसे मणिकी चार सखियोंने आकर अनुरोध किया कि नारी-समितिके अगले अधिवेशनमें मणिमालाको एक प्रस्ताव रखना होगा, उसमें विवाह-विच्छेदसे लेकर नौकरी-चाकरीमें नर-नारियोंको बराबर वेतन तककी सारी माँगें काफी कड़े शब्दोंमें रहेंगी। परन्तु मणिने उनके अनुरोधको स्वीकार नहीं किया। रमेनसे विवाद होने पर मणिने कहा—मनुष्यको रखनेकी जिम्मेदारी पुरुषों पर नहीं है, वह किसी औरपर है। इसीलिए तो देखती हूँ कि नर-नारी कितने दिनोंसे एक साथ रहने पर भी आज तक संधिके लिए एक सूत्र नहीं खोज पाए। किस उपायसे दुख समाप्त होगा, इस दिशाको वे देख ही नहीं पाए। उसने यह भी कहा कि मेरे अन्तरकी सच्ची अनुभूति ही मेरा पथ-प्रदर्शन करेगी। यहीं मणिमालाकी जीवन-कथा समाप्त हो गई है।

'जागरण'में वर्त्तमान भारतकी आर्थिक विषमताकी समस्या है। 'कर्मभूमि'की भी वही समस्या है। यह संयोगकी बात है कि 'कर्मभूमि' में असहयोग आन्दोलनके मुख्य कार्यकर्त्ताका भी नाम अमर है। जब अमरका असहयोग आन्दोलन सफलतापूर्वक समाप्त हो गया और सारी दुखद घटनाओंका अन्त सुखद हो गया, तब सेठ धनीरामजीने कहा कि जब मैं अपने चारों ओर फैले हुए अन्धकारको देखता हूँ, तो मुझे सूर्योदयके सिवाय उसको हटानेका कोई दूसरा उपाय नहीं सूझता। किसी दफ्तरमें जाओ, बिना रिश्वतके काम नहीं हो सकता। किसी घरमें जाओ, वहाँ द्वेषका साज्य देखोगे। स्वार्थ, अज्ञान और आलस्यने हमें जकड़ रक्खा है। मैं नहीं मान सकता कि आज आधी मालगुजारी होते ही प्रजा सुखके शिखरपर पहुँच जायगी। उसमें सामाजिक

और मानसिक ऐसे कितने ही दोष हैं कि आधी तो क्या, पूरी मालगुजारी भी छोड़ दी जाय, तब भी उसकी दशामें कोई अन्तर नहीं होगा। अमरने भी यह अनुभव किया कि मेरे हाथों इतने जान-मालकी क्षति अकारण हुई। तब सुखदाने कहा—"हमें जो कुछ बलिदान करना पड़ा, वह उस जागृतिके देखते हुए कुछ भी नहीं है, जो जनतामें अंकुरित हो गई है। बलिदानोंके बिना जागरण नहीं आ सकता।" कर्मभूमिकी कथा इस जागरणमें समाप्त हो गई है। कहा नहीं जा सकता कि शरत् बाबूका जागरण किसके बलिदानमें समाप्त होता।

'जागरण'की समस्या 'आगामी काल'की समस्या नहीं है। 'आगामी काल' में मणिमालाके रूपमें शरत् बाबूने एक अपूर्व नायिकाकी सृष्टि की है। वह 'शेष प्रश्न'की कमल नहीं है। कमलमें रूपकी असाधारणता थी। मणिमाला बिलकुल रूपहीन है। उसके चेहरेपर एक प्रकारका पौरुष भाव बना रहता है; कान्ति साँवली-सी, गठन लम्बी, चर्बी या मांसकी बहुलता नहीं—यह देह कर्मठ एवं कष्टसहिष्णु है, सो देखते ही मालूम हो जाता है। रमेनने कहा कि तुम भीमा हो, भयंकरी हो। तुम्हारा मुँह मगरकी तरह है। शरीरका रंग अमावास्याकी रातसे गहरा है, पर तुम आश्चर्यजनक हो। जिस लड़कीके शरीरमें रूप है, उसे बाहरसे परीक्षा कर लेनेके लिए लोगोंकी कमी नहीं होती। लेकिन जिसकी सम्पदा हृदयमें छिपी हुई है, उसके लिए मेरे जैसे निष्कपट भक्तके बगैर काम नहीं चल सकता। अधिकांश उपन्यासोंकी नायिकाएँ रूपवती ही होती हैं। रवीन्द्रबाबूके 'घर-बाहर' नामक उपन्यासकी नायिका विमला रूपवती नहीं थी; परन्तु वह कुरूपा भी नहीं थी। बंकिम बाबूके 'कमलाकान्तके दानपत्र' नामक उपन्यासकी नायिका भ्रमर काली अवश्य थी; पर उसमें भी सौन्दर्य था। शरत् बाबूकी भी सभी नायिकाएँ रूपवती हैं केवल 'अरक्षणीया'में ज्ञानदा रूपहीन थी। अरक्षणीयाके नायक अतुलने अनुभव किया, भाड़में जाय रूप। रूपका यदि इतना दाम है, तो तीन वर्ष पहले रूपके बाजारमें वह स्वयं भी रोगके कारण दिवालिया हो गया था। उन दिनों घनिष्ठसे भी घनिष्ठ सम्बन्धी घृणासे उसके मुँहकी ओर नहीं देख सकते थे। उस दिन जब अतुल भीषण बीमारीसे मरणासन्न हो गया था, तब उसने

ज्ञानदाके मुखको प्यार किया था। उस प्यारमें आँखोंका नशा नहीं था, कृतज्ञताका उच्छ्वास नहीं था। उसने निष्कपट भावसे समस्त हृदय उँड़ेलकर ही प्यार किया था। उसने उपन्यासके अन्तमें ज्ञानदाको अपना लिया। फिर उसके बाद उन दोनोंके जीवनमें प्रेमका कैसा विकास हुआ, इसे जाननेकी कदाचित् पाठकोंकी भी इच्छा नहीं होती। परन्तु यह सच है कि मणिमालाके सम्बन्धमें उनके हृदयमें एक औत्सुक्य तीव्र रूपसे होता है। यह जाननेके लिए सचमुच इच्छा होती है कि रमेनने मणिमालाके समान दुर्दान्त और कुरूप लड़कीको लेकर क्या किया होगा।

किसी भी स्थितिमें जीवनकी कथा पूर्ण नहीं हो पाती। वह तो सदैव अधूरी बनी रहती है। रवीन्द्र बाबूके प्रसिद्ध उपन्यास 'आँखकी किरकिरी' में करुणा और रमेशके पुनर्मिलनपर पाठकोंको एक तृप्ति भले ही हो जाय; परन्तु माया और बिहारीके जीवनके प्रति उनके मनमें एक अतृप्ति बनी ही रहती है। शरत् बाबूके जो उपन्यास पूर्ण हैं, उनमें भी पाठकोंको उनके कितने ही पात्रोंके सम्बन्धमें यह कौतूहल बना ही रहता है। देवदासकी कथा समाप्त करनेके बाद लेखकने लिखा है—'इधर इतने दिनोंमें पार्वतीका क्या हाल हुआ और वह किस तरह है, सो नहीं मालूम, जाननेकी इच्छा भी नहीं होती।' परन्तु क्या पाठकोंके हृदयमें उस चन्द्रमुखीके सम्बन्धमें भी कुछ जाननेकी इच्छा नहीं होती, जो पार्वतीके साथ देवदासके हृदय-राज्यमें निवास करती थी? 'गृहदाह'में भी क्या अचला और महिमकी जीवन-कथा वहीं समाप्त हो जाती है, जहाँ लेखकने अपने उपन्यासका अन्त कर दिया है? सच्ची बात यह है कि न तो जीवनकी कथाका अन्त है और न जीवनकी समस्याओंका। युग बदलता है, आदर्श बदलते हैं, जीवनकी समस्याएँ भी बदलती हैं; परन्तु उनका अन्त नहीं होता। किसी भी स्थितिमें जीवनकी पूर्णावस्था लक्षित नहीं होती। इसीलिए जीवनकी सभी कथाएँ अधूरी ही रह जाती हैं।

५–प्रेमचन्द और सामाजिक समस्या

१

आधुनिक कथा-साहित्यका प्रारम्भ प्रेमचन्दजीके 'प्रमाश्रम' और 'सेवा-सदन' से प्रारम्भ होता है। 'प्रेमाश्रम' और 'सेवासदन' दोनोंमें सामाजिक दोषोंके सुधारोंकी चर्चा है। समाजके दोषोंकी ओर उनकी दृष्टि जाना स्वाभाविक ही था। सभी शिक्षित जन उन सामाजिक आन्दोलनोंसे प्रभावित हो चुके थे, जिनके प्रवर्त्तक राजा राममोहनराय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और स्वामी दयानन्द सरस्वती थे। उस समय सभी लोगोंकी दृष्टि पारिवारिक जीवनकी उन समस्याओंकी ओर आकृष्ट होनी ही चाहिए, जिनके कारण हिन्दू-समाजके बन्धन अत्याचार प्रतीत होते थे। किन्तु समाजकी समस्याओंकी विवेचना करना एक बात है और विशेष सामाजिक स्थितिमें उत्पन्न व्यक्तिके जीवनकी समस्याओंका समाधान करना दूसरी बात है। सेवासदनमें सुमन और उसके स्वामी गजाधर दोनोंने अपने पारिवारिक जीवनके नष्ट हो जानेके बाद सेवाका मार्ग ग्रहण किया, तब सेवा-सदनका निर्माण हुआ। सुमनको शान्ति मिली और गजाधरको भी। परन्तु इससे क्या उनके जीवनकी उस सामाजिक समस्याका समाधान हुआ, जिसके कारण उनका पारिवारिक जीवन नष्ट हो गया था? क्या उनकी उस शान्तिमें विवशता नहीं थी? कितनी स्त्रियाँ कितने ही कारणोंसे पतित हो जाती हैं। क्या अपनी कामनाओंको दलितकर सभी स्त्रियाँ सुमनकी तरह शान्ति पा सकती हैं? सच्ची बात यह है कि व्यक्तिको सभी अवस्थाओंमें अपनी परिस्थितिके अनुकूल अपनेको बनाना ही पड़ता है। समाज या देशकी चाहे जो स्थिति या समस्या हो, व्यक्तिको अपने क्षुद्र जीवनकी ही चिन्ता करनी पड़ती है। कोई भी एक ऐसी व्यवस्था

निर्मित नहीं की जा सकती जिसमें व्यक्तिके अपने जीवनके दुख या कष्ट दूर हो जायँ। जीवनका भार दुर्वह होने पर उसीको अपनी शक्तिके अनुसार उस भारको वहन करना पड़ता है। उसे अपने जीवनकी समस्याओंका समाधान स्वयं किसी न किसी प्रकार करना पड़ता है। जहाँ हिन्दू-समाजके विधि-विधान प्रचलित नहीं हैं, वहाँ भी व्यक्तिकी अपनी समस्याएँ होती हैं। इंग्लैंडमें अपनी इच्छाके अनुसार विवाह और प्रेम करनेकी स्वतंत्रता रहने पर भी 'टेस' का जीवन क्यों दुःखमय हुआ और उसीकी तरह अन्य पात्रोंका जीवन क्यों दुखमय हुआ?

प्रेमचन्दजीके सभी उपन्यासोंमें सभी तरहके पात्र हैं और उनकी सभी तरहकी समस्याएँ हैं। उनमें शिक्षितों और अशिक्षितोंकी अपनी-अपनी रीति-नीति और अपनी-अपनी रुचि और अपनी-अपनी लालसाएँ हैं। यही कारण है कि सबकी अपनी अपनी कठिनाइयाँ हैं। उनमें किसानों और जमींदारोंकी चर्चा है, उनकी सम्पत्ति और विपत्ति, विलास और त्याग, उत्पीड़न और उदारताका वर्णन है। उनमें सेवाकी महत्ता और क्रान्तिके विद्रोहका भाव भी है। पर उपन्यास पढ़ लेनेके बाद देश और समाजकी समस्याएँ समस्याएँ ही बनी रह जाती हैं। 'सेवा सदन' में जैसे समाजकी समस्याका अन्त सेवा-सदनके निर्माणमें हुआ है, उसी प्रकार 'प्रेमाश्रम' के द्वारा किसानोंकी दुरवस्थाका अन्त कराया गया है। किसानोंकी दुरवस्थाका तो अन्त हो गया, किन्तु व्यक्तियोंके जीवनकी दुरवस्थाका तो कहीं अन्त ही नहीं है। उपन्यासके प्रमुख पात्र ज्ञानशंकरके जीवनका अन्त प्रेमाश्रमके द्वारा नहीं हुआ। उसके पुत्रमें सेवा और उदारताकी गरिमा थी, पर स्वयं उसने वैभवकी लालसासे प्रेरित होकर उसकी बलिवेदीपर अपना धर्म और अपनी आत्मा तक भेंट कर दी थी। उसने वैभव पानेके लिए अपना मन, वचन, कर्म सबकी आहुति दे दी। पर उसे केवल कलंककी ही कालिमा मिली। तब उसे यह ज्ञान हुआ कि वह केवल विधाताके हाथोंका एक खिलौना ही था। उसे अपना वैभवहीन जीवन निरर्थक ही प्रतीत हुआ। वह अपने त्यागी पुत्रका धर्मज्ञ पिता नहीं बनना चाहता था। उसने तो सोचा था कि अपने पुत्रको गायित्रीकी रियासतका स्वामी बनाकर वह स्वयं स्वच्छन्द हो जायगा। फिर उसके आनन्द

और विहारके दिन आवेंगे। वह स्वयं कृष्ण होगा और गायित्री राधा। वह अपनी प्यारी राधाके गलेमें प्रेमका हार डालेगा और उसे प्रेमके राग सुनावेगा। संसारकी कोई चिन्ता, कोई उलझन, कोई झोंका उसकी शान्तिमें बाधा न डाल सकेगा। परन्तु उसके पुत्रके त्यागने उसके मनोरथ नष्ट कर डाले। उसकी स्त्रीने पहले ही प्राण छोड़ दिये थे। अब उसने आत्महत्या की। फिर गायित्रीने भी आत्महत्या कर ली। इस प्रकार विधाताके हाथके खिलौने होनेके कारण अथवा नियतिके इंगित पर आत्महत्यामें ही व्यक्तिगत जीवनकी उन समस्याओंका अन्त हो गया।

इसी प्रकार 'रंगभूमि' में भी विनयकी हत्यासे उसके व्यक्तिगत जीवनकी लालसा और समस्याका अन्त हुआ। यह सच है कि ये समस्याएँ पात्रोंकी अपनी अपनी समस्याएँ थीं और उनको उन लोगोंने अपने अपने ढंगसे हल करनेका प्रयत्न किया। आत्महत्या भी एक उपाय है। वैसे तो संसारमें कलंक और अपयशका भार लेकर भी लोग अपना जीवन-यापन करते हैं। सैकड़ोंको अपनी महत्वाकांक्षाकी अग्निमें दग्धकर कितने ही लोग उच्च पद पर आसीन हो जाते हैं और ऐश्वर्यका उपभोग करते हैं। कौन आत्महत्यामें ही अपने जीवनकी सार्थकता समझता है!

यह हर्षकी बात है कि 'गोदान' में आत्महत्याएँ नहीं हुईं, जीवनके प्रश्नोंको सुलझानेके लिए उसमें सभी पात्रोंने अपनी अपनी परिस्थितियोंसे संघर्ष किया। उसमें होरी और धनिया, गोबर और झुनिया, मातादीन और सुभिया, मेहता और मालती, भोला और नोहरी, ओंकारनाथ और गोमती तथा खन्ना और गोविन्दीके दाम्पत्य प्रेम और पारिवारिक जीवनकी अपनी अपनी कठिनाइयाँ और उलझने हैं। उन सबकी अपनी अपनी कथाएँ हैं। ये कथाएँ पृथक्-पृथक् होकर भी एक दूसरेसे सम्बद्ध हो गई। सभीमें जहाँ एक ओर वासनाओं और लालसाओंका विस्फोट हुआ है, वहाँ दूसरी ओर प्रेमका त्याग भी प्रदर्शित हुआ है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें उन लोगोंकी भाग्यलक्ष्मीका कभी उत्थान हुआ है और कभी पतन। उसमें एक ओर कहीं पाखण्ड, कपट और धूर्तता है और दूसरी ओर सरलता, विश्वास और सत्यता है। एक ओर विलासका उन्माद है और दूसरी ओर दरिद्रताकी विवशता है।

एक ओर प्रेमिकाका प्रेमोन्माद है और दूसरी ओर मातृत्वकी गरिमा है। इसी गरिमाको प्रेमचन्दजीने सबसे अधिक प्रधानता दी है। नारी केवल माता है, इसके बाद वह जो कुछ है, सब मातृत्वका उपक्रम मात्र है। मातृत्व संसारकी सबसे बड़ी साधना, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान् विजय है। मालती पहले नवयुगकी साक्षात् प्रतिमा थी—गात कोमल, चपलता कूट-कूटकर भरी हुई थी, झिझक और सकोचका कहीं नाम नहीं, पुरुष मनोविज्ञानकी अच्छी जानकार, आमोद प्रमोदको जीवनका तत्त्व समझनेवाली, लुभाने और रिझानेकी कलामें निपुण, जहाँ आत्माका स्थान है वहाँ प्रदर्शन, जहाँ हृदयका भाव है, वहाँ हाव-भाव, मनोद्‌गारोंपर कठोर निग्रह, जिसमें इच्छा अथवा अभिलाषाका लोप-सा हो गया था; पर वही मालती नारीके आदर्शपर पहुँच गई, जहाँ वह आकाशके नक्षत्र-सी नजर आती थी। तब वह प्रेमकी नहीं, श्रद्धाकी वस्तु हो गई। प्रेम तो अधिकार चाहता है, पर श्रद्धाका चरम आनन्द आत्मसमर्पण है।

(प्रेमचन्दजीका कथा-साहित्य इतना विस्तृत है कि उसमें भारतीय जीवनका कोई भी अंश नहीं छूटा है। नगर और देहातके सभी वर्गोंके मनुष्योंके चित्रण और सभी स्थितियोंके वर्णन उसमें हैं और उनके उन समस्त चित्रों और वर्णनों में कथा-रस का ऐसा विकास हुआ है कि पाठक तन्मय हो जाते हैं।) उन्होंने चरित्रगत विशेषताको परिस्फुट करनेके लिए विभिन्न भावोंके घात-प्रतिघातके साथ जीवनकी घटनाओंका ऐसा अच्छा मेल कराया है कि यह नहीं जान पड़ता कि उनके उपन्यासोंमें घटना प्रधान है या चरित्र। यह बिल्कुल ठीक है कि भिन्न भिन्न पात्रोंके चरित्र-चित्रणमें उन्हें ऐसी सफलता प्राप्त हुई है कि हम लोग यही समझते है कि उनके पात्र हमारे ही समाजके व्यक्ति हैं। यही नहीं, उनकी कथाओंमें हमारे ही घरोंके चित्र अंकित हुए हैं और उनकी समस्याएँ हम लोगोंकी ही समस्याएँ है। उनमें मानव-जीवनकी सभी दुर्बलताएँ है। काम, क्रोध, मोह और लोभकी जो लीलाएँ हम लोगोंके दैनिक जीवनमें प्रकट होती हैं, वह उनमें भी व्यक्त हुई हैं। इसीसे उन दुर्बलताओंके प्रति सभी पाठकोंकी सहानुभूति बनी रहती है। समाजका यथार्थ चित्रण होनेपर भी उसमें उसकी असंयत अवस्थाका वर्णन

नहीं है, झलक-मात्र है। इसीसे पाठकोंके मनमें उनके वर्णनसे कभी ग्लानि नहीं होती। उनमें वासना है, पर वह उतनी प्रचण्ड नहीं हुई है कि उनमें हम एकमात्र पाशविकताका उन्माद देखें। उनमें लालसा है, पर वह उतनी उद्दाम नहीं हुई है कि उसमें लोक-लज्जा और मर्यादाका सर्वथा तिरस्कार हो जाय। उनमें अंतर्द्वन्द्व है, पर मनोविज्ञानके नामसे विकृत भावोंका वह चित्रण नहीं है, जिसमें बीभत्सता रहती है। वहाँ तो सर्वत्र एक संयम है। इसीसे उनके उपन्यासोंके द्वारा पाठकोंकी चित्तवृत्तिपर कहीं भी आघात नहीं होता।

मुझे उनके उपन्यासोंसे केवल एक ही स्थानसे विरक्ति हुई है। प्रेमाश्रममें तांत्रिक क्रियाओंके कारण तेजशंकर और पद्मशंकरकी हत्याओंका जो वर्णन है, यह मेरी समझमें उपन्यासके लिए अनावश्यक ही नहीं, विरक्ति-जनक भी है। इसीलिए एक स्थानको छोड़कर मुझे उनके औपन्यासिक जीवनमें विचरण करनेमें कभी भी शिथिलताका अनुभव नहीं हुआ।

२

गत ५३ वर्षोंके भीतर देशकी परिस्थितिमें विशेष परिवर्त्तन हुआ। उसीके साथ साहित्यमें भी बड़ा परिवर्त्तन हो गया है। हिन्दी-साहित्यकी अब वह अवस्था नहीं है, जो ५३ वर्ष पहले थी। हिन्दी साहित्यका कार्यक्षेत्र अब विशेष विस्तृत हो गया है। हिन्दी-भाषा भी अब विशेष परिष्कृत हो गई है। उसमें अब अधिक क्षमता भी आ गई है। फिर भी भारतकी अन्य प्रान्तीय भाषाओंके साहित्यकी जो उन्नतावस्था है, उसकी तुलनामें हिन्दी-साहित्यकी एक हीनावस्था ही लक्षित होती है।

जबसे हिन्दी भाषा राष्ट्र-भाषाके पदपर अभिषिक्त हुई है, तबसे उसकी गौरव-वृद्धिके लिए कुछ विज्ञ विशेष व्यग्र हो रहे हैं। यह सच है कि एकमात्र अपने साहित्यके ऐश्वर्यके बलपर हिन्दी राष्ट्र-भाषा नहीं हुई है। हिन्दी जनताकी भाषा थी। उसमें जन-वाणीकी शक्ति अवश्य है; परन्तु वह भारतके पराधीनता-कालमें न तो विज्ञोंकी भाषा थी और न शासकोंकी। इसीसे उसके

साहित्यमें न तो ज्ञानका गौरव था और न शासनकी क्षमता थी। हिन्दी भाषामें जो साहित्य निर्मित हुआ, वह जनताका साहित्य था। उसीसे जनताका मानसिक विकास हुआ और उसमें राष्ट्रीयताकी उदार भावना भी प्रबुद्ध रही। भारतीय संस्कृतिका यथार्थ रूप जनतामें उसीके द्वारा सुरक्षित बना रहा। परन्तु अब राष्ट्र-भाषा हो जानेसे राष्ट्रकी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए उसमें अधिक क्षमता उत्पन्न करनेकी योजना होनी ही चाहिए। उच्च शिक्षाका माध्यम हो जानेसे उसके शब्द-कोषकी भी वृद्धि होनी चाहिए। परन्तु कोषमें संचयके साथ जनताके जीवनमें उस शब्द-निधिके निरन्तर उपयोगमें उसका मूल्य है। इसीलिए नव-साहित्यकी भी रचना आवश्यक है।

आधुनिक युगमें क्रान्तिकी जो भावना फैल रही है, उसके मूलमें आदर्शोंका संघर्ष ही काम कर रहा है। भिन्न-भिन्न युगोंमें नये-नये आदर्शोंका निर्माण होता ही है। उन्हीं आदर्शोंके द्वारा जातीय जीवनके स्वच्छन्द विकासमें अवरोधोंको दूर करनेका प्रयास किया जाता है। आदर्शोंमें मनुष्यत्वका चरम उत्कर्ष प्रदर्शित होता है। ज्यों ही जातिके भीतर उत्कर्षकी यह भावना निश्चेष्ट हो जाती है, त्यों ही जनतामें क्रान्तिकी भावना उत्पन्न हो जाती है। जनताकी वह क्रान्ति जनताकी ही भाषामें प्रकट होती है। जनताके जीवनसे उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। क्रान्तिकी इस भावनामें एकमात्र आर्थिक दुरवस्था अथवा विषम परिस्थिति काम नहीं करती। एकमात्र कष्टों अथवा अत्याचारोंसे भी जनताके हृदयमें क्रान्तिकी कामना उत्पन्न नहीं होती। उसमें यह भावना तभी प्रबल होती है, जब वह यह अनुभव करती है कि अब वह जीवनकी सारी गरिमाको ही खो रही है; वह अपना सच्चा पथ भूलकर भटक रही है; जीवन उसके लिए दूभर हो रहा है।

हिन्दी-साहित्यका जन्म ही एक क्रान्तिकी भावनाको लेकर हुआ है। विदेशियोंके आक्रमणसे भारतवर्षकी राजनीतिक स्थितिमें अव्यवस्था अवश्य आ गई। पर जिस क्रान्तिकी भावनाने भारतीय सन्तों और भक्त कवियोंको उत्पन्न किया, उसका सम्बन्ध राजनीति नहीं, जननीतिसे था। सन्तोंने सबसे पहले जनभाषाका महत्त्व स्थापित किया। ज्ञानका जो वैभव और कलाका जो सौष्ठव संस्कृत भाषामें था, उसके कारण

संस्कृत भाषा देवोंकी भाषा मानी जाती थी। परन्तु संतोंने सबसे पहले उस देववाणीके महत्त्वपर ही आघात किया। उसका कारण यही था कि जातीय जीवनके विकासमें जनभाषाका ही महत्व हो सकता है। जनताके जीवनसे जिस साहित्यका कोई सम्पर्क नहीं, उसके द्वारा जनतामें न सच्ची कर्तृत्व-शक्ति आ सकती है और न जीवनके प्रति गौरवकी कोई कामना उत्पन्न हो सकती है। जो कला जनताके जीवनमें नव-प्रेरणा नहीं दे सकती, वह चिरंतन सौन्दर्यकी निष्प्राण प्रतिमाकी तरह व्यर्थ रहती है। तत्कालीन संस्कृत-साहित्यमें विज्ञोंके बौद्धिक विकासके लिए यथेष्ट साधन थे। परन्तु जनताके बौद्धिक विकासके लिए उसमें क्षमता नहीं थी। जनतामें नव-शक्ति लानेके लिए जिस नव विचार-धाराकी आवश्यकता थी, वह संतों और भक्तोंकी वाणीमें परिस्फुट हुई। उनके द्वारा जिस जन-साहित्यका निर्माण हुआ, उसके भाव-सौंदर्यको जनताने अनायास ही स्वीकार कर लिया। वही साहित्य अभी तक जनतामें प्रचलित है।

पाश्चात्य सभ्यताके संघर्षसे भारतमें जो नवीन विचारधारा प्रवर्तित हुई, वह केवल विज्ञोंके ही समाजमें बद्ध रही। उसने जनताके जीवनमें स्थान नहीं पाया। यही नहीं, उसने शिक्षित जनोंके हृदयमें अपने ही प्रति एक हीनताका भाव ला दिया। उनके शरीरमें ही नहीं, मन और आत्मामें भी दासत्व आ गया। उनमें पाश्चात्य आदर्शोंके प्रति अन्ध-भक्ति उत्पन्न हो गई। पाश्चात्य शिक्षाका जितना अधिक प्रभाव जिस प्रान्तपर पड़ा, वहाँ पाश्चात्य साहित्यके आधारपर नव साहित्यका निर्माण हुआ। अन्य प्रान्तोंकी भाषाओंमें एक ऐसी विशेषता थी, जो उस समय हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तोंमें नहीं थी। मातृ-भाषाके गौरवको अन्य प्रान्तोंके विज्ञोंने जितना अनुभव किया, उतना हिन्दी भाषा-भाषी विज्ञोंने नहीं किया। हिन्दीमें आधुनिक साहित्यका निर्माण-भार उनपर था, जिनमें मातृ-भाषाके प्रति असाधारण अनुराग था; पर जिनमें असाधारण प्रतिभा नहीं थी। यही कारण है कि विज्ञोंद्वारा उपेक्षणीय होने पर हिन्दी-साहित्यमें न बंकिम बाबू हुए और न रमेश बाबू। भारतेन्दुजीके युगसे लेकर द्विवेदी युग तक अनुवाद-ग्रन्थोंकी ही प्रचुरता थी। मौलिकताका अभाव होने पर भी जनताके मानसिक विकासके लिए हिन्दी-

निर्माताओंने कम प्रयत्न नहीं किए। उन्हींके प्रयत्नोंसे लोकशिक्षाका प्रचार हुआ और लोकरुचि भी परिवर्तित हुई। गत ३५ वर्षोंसे हिन्दीमें मौलिक साहित्यकी रचना हो रही है। पर यह मौलिकता भावके ही क्षेत्रमें लक्षित होती है, ज्ञानके क्षेत्रमें अभी तक मौलिक चिन्तनका अभाव-सा ही है।

प्रेमचन्द और उनके बाद अन्य कितने ही ऐसे साहित्यकार हिन्दी-साहित्यके क्षेत्रमें अवतीर्ण हुए, जिन्होंने हिन्दीके कथा-साहित्यको विशेष समुन्नत किया। फिर भी हिन्दीकी अन्य प्रान्तीय भाषाओंके श्रेष्ठ साहित्यकारों-की जितनी ख्याति है, उतनी ख्याति हिन्दीके प्रसिद्ध साहित्यकारोंकी नहीं है। ख्याति गौरवपर निर्भर करती है। जिसमें जितना ही अधिक गौरव रहता है, उसकी उतनी ही अधिक ख्याति होती है अथवा होनी चाहिए। संसारके अन्य कर्मक्षेत्रोंकी तरह साहित्यके क्षेत्रमें भी जो महत्त्वाकांक्षा लोगोंको प्रेरणा देती है, उसमें ख्यातिकी इच्छा अवश्य रहती है। हिन्दीके कुछ आलोचकोंने हिन्दीके कुछ आधुनिक साहिकारोंकी तुलना पाश्चात्य देशोंके श्रेष्ठ साहित्य-कारोंसे कर उनके गौरवका प्रतिपादन किया। फिर भी यह बात सच है कि भारतके अन्य प्रान्तोंमें उनकी प्रतिभाकी ज्योतिका प्रसार नहीं हुआ। कुछ विज्ञोंकी यह सम्मति है कि हिन्दी-साहित्यके श्रेष्ठ कलाकारोंकी ख्यातिको बढ़ानेके लिए उनके गौरव-ग्रन्थोंका अनुवाद अन्य भाषाओंमें होना चाहिए। इसी बातसे क्षुब्ध होकर हिन्दीके एक पत्रमें एक लेखकने लिखा है कि हिन्दीमें गौरव-ग्रन्थ हैं ही नहीं, यह कहना तो हिमाकत होगी; परन्तु बहुत कम हैं, इस बातपर दो रायें नहीं हो सकतीं। हिन्दीके आजके निर्माणको देखनेसे बड़ी निराशा होती है। ऐसा कौन-सा उपन्यास है, जिसे लेकर आप कह सकते हैं कि यह हमारी प्रतिनिधि चीज दुनियाके अन्य प्रतिनिधि उप-न्यासोंके बीच रखी जा सकती है और उसपर हम गर्व करते हैं। यही बात कविता, नाटक, आलोचना आदि साहित्यिक अंगों पर लागू होती है। हिन्दीके बहुतसे लोगोंको पता नहीं है कि कहानियोंकी एक अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिता हुई थी, जिसमें तेलगूकी एक कहानीको पुरस्कार मिला था। राष्ट्र-भाषा हिन्दीकी किसी कहानीकी गिनती ही नहीं हुई।

प्रतिभा दुर्लभ होती है। कितने ही लोगोंका यह विश्वास है कि

प्रतिभा ईश्वरप्रदत्त शक्ति है। अपनी उस असाधारण प्रतिभाके बलपर जो साहित्यकार गौरव-ग्रन्थोंकी रचना कर विश्वसे आदर प्राप्त करते हैं, वे वन्दनीय अवश्य हैं; किन्तु क्या यह सचमुच क्षोभ या परितापकी बात है कि हमारे साहित्यमें अभी ऐसे असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार या साहित्यकार नहीं हैं, जिनकी रचनाकी गणना विश्व-साहित्यमें की जा सके? सभी देशोंमें अधिकांश पाठक गौरव-ग्रन्थोंके पाठक नहीं होते। यही नहीं, गौरव-ग्रन्थोंके लिए उनको न इतना विशेष आग्रह रहता है और न विशेष चिन्ता। जो पुस्तकें विशेष लोकप्रिय होती हैं, उनकी गणना भी गौरव-ग्रन्थोंमें नहीं की जाती। गौरव-ग्रन्थोंकी परीक्षा भी बड़ी कठिन है। साहित्यके इतिहासमें यह एक साधारण घटना है कि कितने ही ग्रन्थ अपने युगमें विज्ञों द्वारा तिरस्कृत होकर परवर्तित युगमें गौरव-ग्रन्थ हो गए। एक अँगरेजी लेखकका तो यह कथन है कि जो लेखक अपने जीवन-कालमें ही यथेष्ट ख्याति प्राप्त कर लेते हैं, वे अपनी मृत्युके बाद अपनी वह सारी ख्याति खो बैठते हैं। यह भी देखा गया है कि किसी विशेष युगमें, किसी विशेष साहित्यकारकी इतनी अधिक प्रसिद्धि हो गई कि उसके सभी ग्रन्थोंमें कलाका एक अपूर्व गौरव देखा जाने लगा। पर कुछ समयके बाद उन ग्रन्थोंका गौरव विलुप्त हो गया। किसी प्रतियोगितामें सफलता न मिलने पर क्या यह कहा जा सकता है कि हिन्दीकी सभी कहानियोंमें कथाका कोई रस नहीं है? कभी-कभी किसी साहित्यकारकी जो रचना परीक्षकोंके द्वारा तिरस्कृत हो जाती है, उसमें भी कुछ समयके बाद लोग कलाका चमत्कार देख लेते हैं। अनातोले फ्रांसने आलोचकों और परीक्षकोंकी साहित्य-मर्मज्ञताके सम्बन्धमें एक बार एक कहानी कही थी। एक बार किसी परीक्षामें परीक्षार्थियोंको किसी पुस्तकसे एक अवतरण दिया गया। पत्रोंमें वह अवतरण उद्धृत किया गया और यह कहा गया कि ऐसी निकृष्ट फ्रेंच-भाषाका उदाहरण अन्यत्र नहीं मिल सकता। साहित्य-समाजमें भी उस अवतरणका खूब उपहास किया गया। जिस आलोचकने उसका विशेष उपहास किया, वह 'मिचेलेट' नामक फ्रेंच साहित्यकारका सबसे बड़ा प्रशंसक था। परन्तु वह अवतरण उसी प्रसिद्ध फ्रेंच साहित्यकारके सर्वोत्तम ग्रन्थसे लिया गया था!

गुणके गौरवपर ख्याति अवश्य निर्भर है, पर ख्याति हो जानेसे भी गुणका

गौरव आ जाता है। वर्तमान युगमें प्रचारका इतना महत्त्व हो गया है कि उसके कारण नामका भी माहात्म्य बढ़ सकता है। नाम देखकर हम लोग रचनाके गौरवका अनुमान कर लेते हैं। यही नहीं, कभी-कभी प्रचारका इतना प्रभाव बढ़ जाता है कि किसी भी विशेष ग्रन्थमें रस न पाने पर भी विज्ञोंके निर्णयके विरुद्ध यह कहनेका साहस अधिकांश लोगोंको नहीं होता कि वह ग्रन्थ नीरस है और उसमें कलाका कोई सौष्ठव नहीं है। अँगरेजीके एक लेखकने लिखा है कि अँगरेजीके सामयिक पत्रोंमें जो आलोचनाएँ निकलती रहती हैं, यदि उनपर विश्वास-कर लिया जाय, तो यही ज्ञात होगा कि अँगरेज़ी-साहित्यमें प्रति सप्ताह दो-चार गौरव-ग्रन्थ प्रकाशित होते रहते हैं। यही बात अन्य देशोंके सामयिक पत्रोंकी आलोचनाओंके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है।

हिन्दी-साहित्यमें चिन्तनीय यह नहीं है कि आधुनिक साहित्यमें कितने गौरव-ग्रन्थ हैं। चिन्तनीय यह है कि जनताके मानसिक विकासके लिए कितना प्रयत्न किया जा रहा है। साहित्यमें सार्वजनिक हितका जो भाव है, उसके कारण विज्ञ लोग शिक्षाको ही साहित्यका मुख्य ध्येय मानते हैं। आधुनिक युगमें सभ्यताके प्रसारके साथ साहित्यका कार्यक्षेत्र भी इतना विस्तृत हो गया कि अब उसमें सभी तरहके पाठकोंके और लेखकोंके लिए स्थान हो गया है। तभी तो पुस्तकोंका प्रकाशन सर्वत्र इतनी क्षिप्रगतिसे होता है कि एक ही वर्षके भीतर पुस्तकोंकी एक विशाल राशि संचित हो जाती है। पुस्तकोंके साथ-साथ सामयिक पत्रों और पत्रिकाओंकी भी अब इतनी अधिक वृद्धि हो गई है कि प्रतिदिन, प्रति सप्ताह और प्रतिमास नवीन रचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उनमेंसे अधिकांश रचनाएँ एक दिन, एक सप्ताह अथवा एक मासमें अधिक जीवित नहीं रहतीं। पर यह नहीं कहा जा सकता कि उनसे जनताका कोई उपकार नहीं होता। सच तो यह है कि देश और कालके अनुरूप होनेके कारण उन्हीं रचनाओंका सबसे अधिक प्रभाव जनतापर पड़ता है। यह सामयिक साहित्य कलाकी दृष्टिसे उत्कृष्ट भले ही न हो; किन्तु यदि उनके द्वारा लोकशिक्षाका प्रचार हो रहा हो और

लोकरुचि परिष्कृत हो रही हो, तो उनकी उपयोगितापर सन्देह नहीं किया जा सकता।

सामयिक साहित्यकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके द्वारा साहित्यमें चिर वैचित्र्य बना रहता है और चिर नवीनता। यही नहीं, उन्हींके द्वारा जातीय जीवन प्रगतिशील बना रहता है। यह तो स्पष्ट है कि जैसी जनताकी मानसिक स्थिति रहती है, वैसी ही रचनासे उनको परितोष होता है और तभी जनता साहित्यमें प्रचलित किसी विचारधाराको ग्रहण कर सकती है। इसीलिए सामयिक साहित्यका लक्ष्य जितना प्रचार होता है, इतना निर्माण नहीं। ज्यों-ज्यों जनताका मानसिक विकास होता जाता है, त्यों-त्यों साहित्यका रूप भी परिवर्तित होता जाता है। श्रेष्ठ कलाकारोंकी श्रेष्ठ कृतियोंसे सच्ची रसानुभूति प्राप्त करनेके लिए मनकी जो उन्नतावस्था चाहिए, वह न होने पर किसी भी कलाकी रचनाका प्रचार नहीं हो पाता। उसी प्रकार किसी भी नव विचार-धाराको प्रवर्तित करनेके लिए जनताकी मानसिक स्थितिके अनुकूल ही रचना करनेसे सफलता प्राप्त हो सकती है।

भारतवर्षमें पूँजीवाद और साम्यवादके संघर्षके कारण साहित्यमें भी यथार्थ-वादके नामसे एक नई कलाका प्रचार हो रहा है। उसीके कारण हम लोग पत्रों और पत्रिकाओंमें प्रेम, वासना, अत्याचार, देशभक्ति, बलिदान, त्याग, उत्पीड़न और शोषणकी कितनी ही कहानियाँ पढ़ा करते हैं। अपने-अपने जीवनके क्षुद्र कार्योंमें व्यस्त रहकर भी हम लोग जीवनकी यथार्थतासे अपरिचित नहीं रहते। अपने क्षुद्र जीवनमें भी हम लोग ऐसी घटनाएँ देखते हैं, जिनमें प्रेम, वासना, अत्याचार और त्यागकी भावनाएँ रहती हैं। फिर भी आधुनिक हिन्दी-साहित्यमें उनका जो चित्र प्रदर्शित होता है, उसकी यथार्थताके सम्बन्धमें मनमें सन्देह बना रहता है। ऐसा जान पड़ता है कि उनमें सत्य नहीं, सत्यका विकृत अंश ही है। उनमें प्रदर्शित प्रेम झूठा है, वासना झूठी है; उत्पीड़न, अत्याचार, बलिदान किसीमें भी सचाई नहीं है। यही कारण है कि उन कथाओंके प्रति जनतामें कोई अनुराग नहीं होता। इब्सन अथवा बर्नार्ड शा और लारेन्स अथवा इलिएटके उपन्यासोंमें कलाका जो चमत्कार है, उसको स्वायत्त कर लेने पर भी हिन्दीके आधुनिक साहित्यकार

जनताके मर्मस्थलको स्पर्श नहीं कर सकते। आर्थिक विषमता होने पर भी और दयनीय अवस्थाका अनुभव करने पर भी भारतीय जनताकी वह मानसिक स्थिति नहीं है कि वह ऐसी कलाओंमें अपने जीवनकी सच्ची अनुभूति प्राप्त कर सके। जब तक साहित्य अथवा कलामें जनताके जीवनकी सच्ची अनुभूति नहीं है तब तक उससे उसे रस भी प्राप्त नहीं होता।

हिन्दीमें समालोचनाका क्षेत्र खूब विस्तृत हो रहा है। विज्ञों द्वारा कलाकी व्याख्या और मीमांसा की जा रही है। परन्तु एक दृष्टिसे यह कहा जा सकता हैं कि सभी पाठक ग्रन्थोंके आलोचक होते हैं। यदि किसी रचनाके भाव-सौन्दर्यको उन्होंने स्वायत्त कर लिया, तो उस रचनाकी उत्तमताके सम्बन्धमें उन्हें कोई सन्देह नहीं हो सकता। यदि किसी रचनाको पढ़ते ही उन्हें विरक्ति हो जाती है और यदि वे उसमें किसी प्रकारके रसका अनुभव ही नहीं करते, तो वह ग्रन्थ उनके लिए अत्यन्त निकृष्ट हो जाता है। यह सच है कि साधारण पाठक यह नहीं समझ सकते कि क्यों कोई ग्रन्थ उनके लिए विरक्ति-जनक या आनन्दप्रद हुआ; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनके इसी आनन्द-बोध या रसानुभूतिपर ग्रन्थका उत्कर्ष निर्भर है। समालोचकोंका सबसे पहला कर्त्तव्य यह हो जाता है कि वे पाठकोंके इस आनन्द-बोध या रसानुभूतिको उन्नत करें। ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दीके अधिकांश समालोचक, परीक्षक या निर्णायकका जितना काम कर रहे हैं, उतना पाठकोंकी रसानुभूतिकी वृद्धिके लिए प्रयत्नशील नहीं हैं। आधुनिक ग्रन्थोंका मूल्य निर्दिष्ट करनेके प्रयासमें वे साहित्य और कलाके नये-नये माप-दण्ड निर्मित करते हैं। उनमें कलाकी जो सूक्ष्म विवेचना रहती है अथवा दार्शनिक तत्त्वोंकी जो जटिल व्याख्या की जाती है, उनसे समालोच्य ग्रन्थके प्रति पाठकोंको अनुराग नहीं, विरक्ति हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश आलोचक पाठकोंके लिए नहीं, समालोच्य ग्रन्थोंके लेखकोंके लिए ही आलोचनाएँ लिखते हैं। आजकल अज्ञेयजीका 'नदीका द्वीप' नामक उपन्यास समालोचनाका एक विषय हो गया है। उसमें कलाका भले ही कोई सौष्ठव हो या हीनता हो, पर क्या किसी समालोचनाको पढ़कर पाठकोंको उसके सम्बन्धमें इतना कौतूहल होता है कि वह उसके पढ़नेके लिए उत्सुक हो जाय! उक्त

उपन्यासको पढ़ लेनेके बाद भी आलोचनाके द्वारा पाठकोंको उसके गौरव या हीनताके सम्बन्धमें कोई निश्चित धारणा नहीं होती। समालोच्य ग्रन्थसे भी अधिक जटिल होनेके कारण समालोचना भी अब विज्ञोंके बौद्धिक विलासके लिए एक साधन-सी हो गई है।

यह तो स्पष्ट है कि सभी ग्रन्थकार अपने ही युगके पाठकोंके लिए लिखते हैं। यह सच है कि भवभूतिके समान जो कलाकार होते हैं, उनमें विश्वासकी इतनी दृढ़ता रहती है कि वे अपने युगकी उपेक्षा कर सकते हैं। पर युगकी जो स्थिति होती है, उसका प्रभाव ग्रन्थकारोंपर भी पड़ता है। अपने युगमें वे जो गौरव या हीनता देखते हैं, वह पाठकोंके लिए अज्ञात नहीं रहती है। पर गौरव और हीनताके सम्बन्धमें समाजमें एक प्रचलित धारणा होती है। उसी धारणाके विरुद्ध जब कोई नव सिद्धान्त प्रतिपादित होता है, तब एक संघर्ष होता है। यह सच है कि साहित्यके क्षेत्रमें प्राचीनता और नवीनताके साथ सदैव संघर्ष होता रहता है। सभी युगोंमें कोई न कोई नया प्रयोग होता ही आया है। परन्तु यह भी सच है कि जब तक कलाका वह रूप जनताके जीवनमें स्थान नहीं पा जाता, तब तक वह सफल नहीं होता। कलाकी नव शैली हो या जीवनकी कोई नव विचार-धारा हो, उसे जनताके द्वारा ग्राह्य बनानेके लिए उसकी स्पष्ट विवेचना करनी पड़ती है।

प्राचीन साहित्य और नवीन साहित्यमें एक मुख्य भेद यह है कि प्राचीन युगमें ज्ञान साध्य था, आधुनिक युनमें ज्ञान साधन हो गया है। ज्ञान जब तक साध्य रहता है, तब तक वह कुछ विशिष्ट लोगोंके लिए ही स्पृहणीय हो जाता है। परन्तु जब वह एक साधन हो जाता है, तब उसपर मनुष्य-मात्रका अधिकार हो जाता है। आधुनिक युगमें ज्ञानकी महत्ता उसकी उपयोगिताके कारण है। ज्ञानसे आनन्द नहीं, शक्तिका विकास होता है। इसीसे ज्ञानमें अब सच्ची शक्ति मानी जाती हैं। ज्यों-ज्यों ज्ञानकी वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों जनताकी शक्ति भी बढ़ती जाती है। राजनीतिके क्षेत्रमें अब एक विशिष्ट वर्गका प्रभुत्व नहीं रहा। उसका एकमात्र कारण यह है कि अब जनतामें ज्ञानका प्रसार होने लगा है। विशेषज्ञोंके लिये अपने अपने क्षेत्रमें भले ही ज्ञान साध्य हो; परन्तु जनताके लिए अब ज्ञान एक

साधन है। इसीलिए लोक-शिक्षाकी अब विशेष आवश्यकता है। शिक्षाके अभावसे जनताकी कर्तृत्व शक्ति ही नष्ट-सी हो जाती है। यही नहीं, अब मानव-समाजमें इतनी जटिलता आ गई है कि सभी व्यक्तियोंको न्याय और नीतिके सम्बन्धमें स्वयं सोचना पड़ता है। इसी विचार-स्वातंत्र्यके कारण मनका सच्चा विकास हो सकता है। जो विचार-स्वातंत्र्य आज सबके लिए सुलभ हो गया है, उसीके कारण मध्ययुगमें कितने ही लोगोंको भयानक यातना सहनी पड़ी है। विचार-स्वातंत्र्यके अभावसे ही मानव-समाजमें रूढ़िवादिताका प्रसार होता है। आधुनिक युगमें विचार-स्वातंत्र्य हो जानेपर भी यदि लोकशिक्षाका समुचित विकास नहीं हुआ, तो जनतामें स्वयं विचार करनेकी शक्ति नष्ट भी हो जाती है। साहित्य और कलाके क्षेत्रमें भी अधिकांश लोग स्वयं कुछ सोचने या समझनेका प्रयास नहीं करते। इसीलिए नवीनताके साथ प्राचीनताका द्वन्द्व होता है। मनकी संकीर्णताको नष्ट करनेके लिए जिस उदार शिक्षाकी आवश्यकता है उसका सबसे अच्छा साधन सामयिक साहित्य हो सकता है। वह लोकरुचिकी उपेक्षा न कर लोकरुचिका अनुसरण भी नहीं करता। उसका ध्येय यही रहता है कि प्राचीन विचार-धारा अनायास ही नवीन विचार-धारामें विकसित हो जाय। तभी उसकी सफलता है। राजनीति, समाजनीति और धर्मनीतिकी शिक्षा जीवनके लिए आवश्यक है, उसीका प्रचार कर सामयिक साहित्य जनताका मानसिक विकास कर सकता है।

६—व्यक्ति और समाज

१

आधुनिक साहित्यमें जनतंत्रके सिद्धान्तोंका प्रचार होनेसे यथार्थवादका भी विकास होने लगा। जीवनमें जो यथार्थता है, उसीके आधरपर सत्यकी समीक्षा होने लगी। तब साहित्यके क्षेत्रमें कोई भी एक व्यक्ति साहित्यका एक नायक हो गया। मध्य-युगमें राज-शक्तिमें ही जातिका उत्कर्ष था, तब राजनीति राजाओंकी ही नीति थी। राष्ट्रकी गरिमा एक राजामें ही परिस्फुट होती थी। राजामें ही लोग अपने राष्ट्रकी सच्ची महिमा देखते थे। इसीलिए उस समय राज-भक्तिमें ही जनताकी शक्ति भी प्रकट होती थी। साहित्यमें राजा ही नायक था। जब उस राजशक्तिका पराभव हो गया, तब लोगोंने जगत्के ईश्वरकी शरण ली। जगदीश्वर ही जगत्के नियन्ता हैं। उन्हींका प्रभुत्व स्वीकार कर लोगोंने उन्हींके दास्य भावमें अपने जीवनकी सार्थकता देखी। अपने उद्धारके लिए जनताको और कोई दूसरा उपाय ही नहीं सूझ पड़ा। गोस्वामी तुलसीदासजीके समयमें जब देशकी विपन्नावस्था थी, तब उन्हें शरणागत वत्सल दीनबन्धुके सामने हाहाकार करना पड़ा। देशकी आज जो परिस्थिति है, वह तुलसीदासजी द्वारा अंकित दुरवस्थासे किसी प्रकार हीन नहीं हैं। परन्तु इस संकटकालमें अपनी उन्नति तथा अवनतिका सारा भार जनताको ही लेना पड़ता है। जैसी जनता होगी, वैसी ही उसकी शासन-व्यवस्था होगी और तदनुकूल किसी नीतिको अपनाकर जनता उन्नति या अवनतिके पथपर अग्रसर होगी।

जनताके भीतर व्यक्तियोंका ही एक संगठित समूह रहता है। सभी व्यक्तियोंकी अपनी चिन्ता और अपनी कठिनाई होती है। कहा जाता है कि

मनुष्यमें एक ओर देवरूप होता है और दूसरी ओर दैत्यरूप। उसमें जैसे सात्त्विक भाव रहते हैं, वैसे ही तामसिक भाव रहते हैं। सभी देशों और सभी राष्ट्रोंमें व्यक्तिगत जीवनमें एक अपूर्णावस्था ही रहती है। सभी समय सभी तरहके कष्ट विद्यमान रहते हैं और मनुष्य अपने उन कष्टोंको दूर करनेके लिए सदैव प्रयत्न करता रहता है। आदिकालसे लेकर आज तक मनुष्य यही चेष्टा करते आ रहे है। कितने ही महात्माओंने अपनी साधनाके बलसे उन्हें ज्ञानका एक मार्ग प्रदर्शित किया और उनके दुखोंका उच्छेद करनेके लिए उपाय बतलाया; परन्तु न तो मनुष्योंका दुख दूर हुआ और न उनका अज्ञान। जीवनमें एक दोषको दूर करनेके लिए ज्यों ही वह कोई चेष्टा करता है, त्यों ही वह यह अनुभव करता है कि इस दोषका यथार्थ कारण कोई दूसरा दोष है। जब तक वह कारण नहीं हटा दिया जायगा, तब तक वह दोष कैसे दूर हो सकता है? जब वह उस कारणको हटानेका प्रयत्न करता है, तब वह अनुभव करता है कि उसके भी मूलमें कोई दूसरी शक्ति काम कर रही है। अन्तमें वह यह अनुभव करता है जीवनमें विपत्तियाँ ही विपत्तियाँ है और उन सब विपत्तियोंसे लड़नेमें ही जीवनकी सफलता है। इसी बातको अज्ञेयजीने 'शत्रु' शीर्षक कहानीमें बड़े अच्छे ढंगसे व्यक्त किया है।

सचमुच संसारकी सबसे बड़ी पहेली है, एक व्यक्तिका व्यक्तित्व और संसारकी सबसे बड़ी समस्या है व्यक्तित्वकी समस्या। एक स्थानमें व्यक्ति सबसे पृथक् होकर अपने व्यक्तित्वकी रक्षाके लिए सचेष्ट रहता है और दूसरे स्थानमें परिवार, समाज, जाति और राष्ट्रमें सम्मिलित होकर सभीके साथ वह ऐसा सम्बद्ध हो जाता है कि किसी भी स्थितिमें वह अपनेको सबसे पृथक् नहीं कर सकता। हिन्दू शास्त्रोंमें कहा गया है कि एक विश्वात्माने अपनी इच्छासे विभिन्न रूपोंको स्वीकार कर लिया। वह स्वयं एक होकर अनेक हो गया। यदि यह विभिन्नता यथार्थ है, तो उसके मूलमें जो एकता है, वह भी यथार्थ है। व्यक्तित्वके विकासके लिए जो स्वतंत्रता चाहिए, उसीके साथ समता और बन्धुत्वका समावेश कर व्यक्तिकी उच्छृङ्खलतापर नियंत्रण रखकर नीतिकी एक सीमा निश्चित कर दी जाती है। तभी यह कहा जाता है कि एक महत् भावके लिए हमें क्षुद्र भावका परित्याग कर देना चाहिए। परिवारके

लिए हम किसी एक व्यक्तिको छोड़ सकते हैं, ग्रामके लिए हम परिवारका भी त्याग कर सकते हैं और यदि ग्रामके साथ जनपदका संघर्ष हुआ, तो हम ग्रामका भी तिरस्कार कर देंगे। इन बातोंको स्वीकार करनेके बाद हिन्दू शास्त्रोंका यह कथन है कि जहाँ आत्माकी बात है, वहाँ हम पृथ्वीको भी छोड़ देनेमें संकोच नही करेंगे। आत्मकल्याणको प्रधानता देकर भारतवर्षने जिस सामाजिक व्यवस्थाकी रचना की, उसके कारण वह एक दिशामें अग्रसर होता रहा। धर्म, अर्थ और काम तीनोंको पुरुषार्थ मानकर उसने मोक्षको ही परम पुरुषार्थ स्वीकार किया। जहाँ सभी बन्धनोंका लोप हो जाता है, वहीं व्यक्तिको सच्ची मुक्ति प्राप्त होती है। मुक्तिकी उस अवस्थामें उसका व्यक्तित्व नष्ट नहीं हो जाता। वह स्वयं एक होकर अनेक हो जाता है, अथवा यह कहना चाहिए कि वह एक व्यक्तिकी भिन्नताको छोड़कर विश्वके एकत्वको स्वीकार कर लेता है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृतिमें जहाँ व्यक्तिगत साधनाके लिए पूर्ण स्वतंत्रता है, वहाँ देश और समाजके अनुसार आचार-व्यवहारोंकी पूर्ण पराधीनता है। राजनीतिके क्षेत्रमें जनतंत्रके द्वारा जो शासन-व्यवस्था निर्मित की जाती है, उसके मूलमें यही भावना काम करती है कि सभी व्यक्तियोंको अपने व्यक्तिगत विकासके लिए पूर्ण अवसर प्राप्त हो और उसीके साथ व्यक्तिगत संघर्षको दूर करनेके लिए राष्ट्रकी उन्नतिमें व्यक्तिकी उन्नतिका समावेश किया जाय। यह तो स्पष्ट है कि सभी व्यक्तियोंमें एक-सी क्षमता नहीं होती, एक ही परिस्थितिमें रहकर भी विभिन्न व्यक्तियोंमें विभिन्न गुणों या दोषोंका विकास होता है। उनकी शारीरिक और मानसिक क्षमता-ओंमें भी विभिन्नता बनी रहती है। यदि एकमात्र राष्ट्रकी ही महत्ता स्वीकार कर ली जाय, तो जीवनके किसी भी क्षेत्रमें व्यक्तिका महत्त्व नहीं रह पाता। ऐसी स्थितिमें व्यक्ति समाजका एकमात्र उपेक्षणीय अंश रह जाता है।

सभी देशोंमें हमें ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनसे यह स्पष्ट विदित होता है कि व्यक्ति क्षुद्र होकर भी कितना महान् हो जाता है और महान् होकर भी कितना तिरस्करणीय बन जाता है। हम तो यह भी देखते हैं कि विश्वकी गतिके नियन्ता दो-चार व्यक्ति ही होते हैं। वे ही मानो मानव-जातिके भाग्य-विधाता हो जाते हैं। कहा जाता है कि विश्वका इतिहास कुछ महापुरुषोंकी

जीवन-गाथा मात्र है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि इतिहासमें उन महापुरुषोंकी जीवन-गाथा न रहे, तो फिर इतिहास ही निर्मित न हो। संसारमें जो कुछ हुआ है और हो रहा है, उसका मूल उन्हीं महापुरुषोंके व्यक्तित्वमें है। एक विज्ञका कथन है कि विश्वात्मा अपने महापुरुषोंका वरण करता है और वही उसके उपकरण हैं। जो परिवर्तन होता है, उसमें अन्य व्यक्तियोंका कोई हाथ नहीं है।

आधुनिक साहित्यमें व्यक्तित्वका विश्लेषण कर भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें उसके विकासकी विभिन्न धाराएँ निश्चित की जाती हैं, परन्तु किस अलक्षित शक्तिकी प्रेरणासे कब किस व्यक्तिका जीवन, किस दिशाकी ओर प्रवर्तित हो जाता है, यह सर्वथा रहस्यमय है। क्या एकमात्र परिस्थितियोंकी विषमतासे संसारमें गौरवके उच्चतम शिखर तक पहुँचकर नेपोलियन अथवा हिटलरके समान व्यक्तियोंका अचानक पतन हो जाता है? इसी प्रकार अत्यन्त विषम परिस्थितिमें भी अत्यन्त हीन अवस्थामें रहकर किसी व्यक्तिके द्वारा किस स्थितिकी अनुकूलताके कारण राष्ट्रमें नवशक्ति आ जाती है और उसका गौरव बढ़ जाता है? राष्ट्रोंके उत्थान और पतनमें व्यक्तियोंका कैसा महत्त्वपूर्ण स्थान होता है, यह इतिहाससे सिद्ध हो जाता है। तभी तो यह कहा जाता है कि संसारकी सबसे बड़ी पहेली एक व्यक्तिका व्यक्तित्व है।

२

हिन्दी साहित्यमें प्रेमचन्दजीके साथ जिन दो लेखकोंकी विशेष प्रसिद्धि हुई, वे हैं प्रसाद और जैनेन्द्र। इन दोनोंके सभी मुख्य पात्र विलक्षण हैं। उनकी कथावस्तु भी असाधारण है। भेद यही है कि प्रसादजी जान-बूझकर अपने उपन्यासोंमें एक असाधारण परिस्थिति उत्पन्न करते हैं और तब उनके पात्रोंकी असाधारणता प्रकट होती है। जैनेन्द्रजीके पात्रोंकी असाधारणता अत्यन्त साधारण परिस्थितिमें ही लक्षित होती है, जिसके कारण सभी पात्रोंका जीवन अत्यन्त रहस्यमय हो जाता है। प्रसादजीके 'कंकाल' और 'तितली' में कितनी असाधारण परिस्थिति है, यह उनकी कथा-वस्तुसे स्पष्ट हो जाती है। यह ठीक है कि संसारमें सभी तरहकी घटनाएँ संभव हैं। एक विज्ञका तो

अपनी इच्छाके अनुकूल अपने पात्रोंको कठपुतलियोंके समान नचाया है और अपने पाठकोंसे यही आशा की है कि पाठक चुपचाप कठपुतलियोंका नृत्य-कौशल देखते रहें।

मुझे तो प्रसादजीके दोनों उपन्यास किशोरीलाल गोस्वामीजीके उपन्यासोंके आधुनिक संस्करण मालूम हुए। उनमें विचित्र घटनाओंका समावेश है। उनमें न उग्रजीकी यथार्थता है और न जैनेन्द्रजीकी कला-कुशलता है जो रहस्यमय मनोजगत्का आभास देती है। पाठक होनेके कारण मैंने विज्ञ अलोचकों द्वारा प्रदर्शित ये बातें लिख तो डाली हैं, परन्तु मैं यह स्पष्ट कहूँगा कि 'कंकाल'के प्रोपेगण्डाको समझनेकी योग्यता सचमुच मुझमें नहीं है। मैं न तो उसमे आक्रमण-पक्षकी तीव्रता देख सका हूँ और न उसका सात्विक प्रेममय, शक्तिमय और सतत आयोजनामय व्यक्तिवाद।

३

'त्यागपत्र'में जैनेन्द्रजीके शब्दोंमें जिन्दगीकी वह कहानी है, जो एक प्रहेलिका है। जीवनमें घटनाएँ होती हैं और होकर चली जाती हैं। हम जीते हैं और जीते-जीते एक रोज मर जाते हैं। जीना किस हौसलेसे आरम्भ करते हैं। पर उस जीवनके इस किनारे तक आते-आते कैसी ऊब, कैसी उकताहट जीमें भर जाती है। इस लीलापर इस प्रहेलिकापर हम सोचते रह जाते हैं। कुछ पार नहीं मिलता, कुछ भेद नहीं पाते। यह सच है कि 'त्यागपत्र'की कथापर मैं सोचता रह जाता हूँ और कुछ भेद नहीं पाता।

बचपनमें ही मृणाल पितृहीन और मातृहीन हो जानेपर अपने स्नेहशील भाईके संरक्षणमें रहकर बढ़ने लगी। पर भाईका स्नेह उसे बिगाड़ न दे, इस बातका खास ख्याल भौजाईको था। मृणाल अपूर्व सुन्दरी थी। बड़ी होने पर वह स्कूल जाने लगी। एक दिन स्कूलमें शीला नामकी लड़कीने मास्टरकी कुर्सीकी गद्दीमें पिन चुभोकर रख दी। जब मास्टरको पिन चुभी तो वे खूब बिगड़े; पूछा किसकी शरारत है? निरपराध होनेपर भी मृणालने कहा, यह मेरा कसूर है। मास्टरने उसको तीन-चार बेत मारे, पर उसकी उदारता देखकर शीला उनकी बहनेली हो गई। वह अपने भतीजेको खूब प्यार करती

थी और मीठे-मीठे उपदेश देती थी। जब उसका भतीजा प्रमोद १२ वर्षका हुआ और वह १६ वर्षकी हुई और नवीं या दसवीं क्लासमें पढ़ने लगी तब उसके प्यारका रूप बदल गया। अब वह उसे उपदेश न देकर छातीसे लगा लेती और न जाने कहाँ देखने लगती। कभी वह उसको अपने ऊपर ही लुढ़का लेती और कभी अंकमें भरकर उत्साहसे कहती—हम तुम दोनों संग संग पतंग उड़ाएँगे। फिर स्कूलसे आनेमें उसे देर होने लगी। वह सुशीलाके घर रुक जाया करती थी। पाठकोंको यह संदेह होगा कि वहाँ वह शीलाके भाईसे प्रेमकी बातें करती रही होगी। पर उसकी यह प्रेमवार्ता छिपी न रही। निन्दाके रूपमें उसकी चर्चा किसीने उसी भौजाईसे की होगी। इसी लिए एक दिन कदाचित् उसकी भौजाईने उस १६ वर्षकी युवतीको खूब बेत मारे। फिर जल्दीसे उसके विवाहकी व्यवस्था कर दी गई। विवाहके बाद वह ससुराल चली गई। चार-पाँच दिनोंके बाद घर लौटी। एक दिन उसने प्रमोदके द्वारा शीलाके भाईके पास पत्र भेजा। शीलाके भाईने उसका उत्तर दिया। शायद उन्होंने मृणालके पास अपने प्रेमका कोई पैगाम भेजा था, पर मृणालने उसको स्वीकार नहीं किया। उसने कहा, उन्होंने मुझे क्या समझा है। मैं मर जाऊँगी, मगर मेरा कौल झूठा नहीं होगा। उसका वह कौल क्या था, यह मैं नहीं समझ सका। इसके बाद वह फिर ससुराल चली गई, और फिर आठ-दस महीनेके बाद वह अपनी मर्जीसे चली आई। उसके भाई इससे प्रसन्न नहीं थे। उसने अपने भाईसे कहा कि मैं वहाँ जाना नहीं चाहती। पर पत्नी होनेके कारण उसे अपने पतिके घर जाना ही पड़ा। उसके पति उससे सन्तुष्ट नहीं थे। उनके कथनसे प्रकट होता है कि बहू-बेटियोंके चलनकी जो रीति-नीति हुआ करती है, उसका वह पालन नहीं करती थी। वह क्या करती थी, उसको वह जाने या उसका पति जाने। पर तीन-चार वर्षोंके बाद प्रमोदको पता लगा कि मृणालको उसके पतिने त्याग दिया है और वह एक बनियाके साथ रहने लगी है। वह बनिया उसके रूप-पर मुग्ध होकर अपना परिवार और कारबार छोड़कर उसके साथ भाग आया। जब उसे गर्भ हो गया तब वह बनिया भी उसको पीट-पाटकर छोड़कर चला गया। कुछ दिनों तक कष्ट सहनेके बाद वह एक डाक्टरके घरमें छोटी

छोटी बच्चियोंको पढ़ाने लगी। उसी डाक्टरके यहाँ प्रमोदके विवाहकी बात पक्की हुई। प्रमोदने मृणालके रोकने पर भी उसका पूरा-पूरा हाल डाक्टरको बता दिया। विवाहकी बात टूट गई और वह नौकरीसे हटा दी गई। फिर वह दरदर भटककर वहाँ रहने लगी, जहाँ नगरकी सड़ाँध रहती है। उनकी बुझती और जगती इन्सानियतके भरोसे रहकर उसने वहीं अपनी जिन्दगी काट दी।

संसार परिवर्तनशील है, क्योंकि जीवनमें स्थिरता तो जड़त्व ला देती है। साहित्य भी सदैव प्रगतिशील होता है। भिन्न-भिन्न युगोंमें भिन्न-भिन्न आदर्शोंकी सृष्टि होती है। जब कोई नया युग आता है, तब वह अपने साथ एक नवीन आदर्श और विचार-धारा भी ले आता है। जब युग बदलता है तब आदर्श भी बदल जाता है। जीवनमें ये आदर्श जीर्ण वस्तुओंकी तरह नहीं बदले जाते। वे व्यक्तियों और समाजके जीवनमें ऐसे विलीन हो जाते हैं कि उनका अस्तित्व लक्षित न होनेपर भी उनका प्रभाव बना ही रहता है। हम लोग जैसे अपने जीवनमें यह नहीं जान पाते हैं कि कब बाल्यावस्था, युवावस्थामें परिणित हो गई, उसी प्रकार साहित्यमें भी जो आदर्श अलक्षित रूपसे परिवर्तित होते रहते हैं, उनके सम्बन्धमें भी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि कब किसी आदर्शका आरम्भ हुआ और कब वह लुप्त हुआ। परन्तु यह बात सच है कि अपने-अपने व्यक्तिगत जीवनमें हम लोग अपनी धारणाके अनुसार जो गरिमा देखते हैं, उसीके अनुसार हम लोग अपने आदर्शोंका अनुसरण करते हैं। व्यक्तिगत जीवनमें जब तक किसी प्रकारके सदाचारकी महिमा है, तब तक मनुष्य कष्टोंको भी स्वीकार कर उस सदाचारकी रक्षामें गौरवका अनुभव करता है। राजपूतोंकी जौहर-प्रथामें अब कितने लोग वीरत्वका चरम उत्कर्ष देखेंगे? यही नहीं, भारतीय इतिहासकी सामन्तशाहीमें राज-भक्तिकी जो महिमा है, उसको कौन स्वीकार करेगा? पर यह सच है कि अपने युगमें उसीसे लोग सच्ची प्रेरणा पाते थे। आजकल समाजमें वृद्ध-विवाह और अनमेल विवाहमें हम लोग जो एक हीनताका अनुभव करते हैं, उनको न भूलकर भी शरद बाबूकी पार्वती और मृणालिनीने उन विवाहोंमें जिस तृप्तिका अनुभव किया, उसका कारण वैवाहिक जीवनके सम्बन्धमें उनके

अपने आदर्शकी गरिमा है। यह सच नहीं है कि सभी व्यक्ति एक ही भावसे किसी एक आदर्शको स्वीकार करें। पर यह सच है कि जिस किसी भावमें जीवनकी गरिमाका अनुभव कर हम उसे अपना लेते हैं, उसीकी प्राप्तिमें हम अपने व्यक्तिगत सुखोंका भी बलिदान कर प्रसन्न होते हैं। अँग्रेजीमें ऐसी कितनी ही कहानियाँ मैंने पढ़ी हैं, जिनमें सुन्दर युवतियोंने सब प्रकारसे असमर्थ और अपाहिज व्यक्तिसे विवाह कर जीवन-भर उसीकी सेवामें संलग्न रहकर आनन्दका अनुभव किया। युवकोंने भी लँगड़ी और लूली युवतियोंसे विवाह कर उनके जीवनको सुखमय बनानेकी चेष्टा की। इनमें भी प्रेमकी ही गरिमा है। देश और कालके अनुसार विभिन्न परिस्थितियोंमें पड़कर हम लोग विशेष सुख-दुःखका अनुभव करते हैं, पर मनमें गौरवके प्रति एक सदैव अलक्षित कामना विद्यमान रहती है। उसीके कारण हम कष्टोंको भी स्वीकार करते हैं और एक सन्तोषका अनुभव करते हैं। व्यक्तिगत जीवनकी गरिमा क्षुद्र ही होती है। उसकी गरिमा और हीनता दोनों उसी क्षुद्र सीमामें बद्ध होती हैं। व्यक्तिके हृदयमें विभिन्न भावोंके घात-प्रतिघातसे जो एक हलचल मची रहती है, वह भी एक क्षुद्र घेरेके बाहर नहीं जाती। पर सभी व्यक्तियोंके लिए उनका वही घेरा सबसे अधिक स्पृहणीय होता है। उस क्षुद्र घेरेके भीतर वह जिसमें गरिमाका अनुभव करता है, उसके लिए वह सब कुछ करनेको तैयार हो जाता है। वह संसारका अपयश स्वीकार कर लेता है। वह कपट करता है, धोखा देता है, चोरी और हत्या तक कर डालता है, उसी तरह वह अपूर्व त्यागकी भावना भी प्रदर्शित करता है। उपन्यासोंमें किसी एक व्यक्तिकी ही जीवन-कथा रहती है। देश और कालका प्रभाव सभीपर पड़ता है, पर उन्हींमें एकमात्र किसीका व्यक्तित्व नहीं रहता। एक ही युग, एक ही देश, एक ही समाज और एक ही घरमें रहकर भी लोगोंके जीवनमें वैचित्र्य अंकित किया जाता है। किस परिस्थितिमें भावकी क्या गति हो जाती है और मानसिक उलझनोंके कारण जीवन किस प्रकार परिवर्तित हो जाता है, यह मनोविज्ञानकी-सी परीक्षाके द्वारा लोग, उपन्यासोंमें प्रदर्शित करनेकी चेष्टा करने लगे। मानव-जीवनमें एक ओर जहाँ भावोंकी एक समता है, वहाँ दूसरी ओर भावोंका इतना अधिक वैचित्र्य और जटिलता है तथा उन्हींके

कारण कर्मोंका भी इतना अधिक वैपरीत्य है कि उनके लिए कोई भी शास्त्र कोई भी बात निश्चित नहीं कर पाता। प्रत्येक व्यक्तिके जीवनमें भावोंका इतना अधिक विलक्षण उत्थान-पतन होता रहता है कि वह सभी समय एक समान नहीं बना रहता। वह स्वयं बदलता रहता है। उसके अन्तर्जगत्में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है।

बाह्य जगत्में जो घटनाएँ होती रहती हैं, उनको सभी लोग देख पाते हैं। उनकी सत्यतामें किसीको सन्देह नहीं होता। यही बात भाव-जगत्के लिए नहीं कही जा सकती। स्वयं व्यक्तिके लिए उसके मनोभावोंमें जितनी सत्यता है, उतनी सत्यता बाह्य जगत्की घटनाओंमें नहीं है। यह कौन नहीं स्वीकार करेगा कि मनमें एक भाव रखकर हम लोग उसके सर्वथा विपरीत काम करते हैं। हम लोग स्वयं अच्छी तरह समझते हैं कि हमारे जिन कार्योंको देखकर संसार हमें गौरव या प्रतिष्ठा देता है, उनमें भी छल और कपट है। जीवनके इसी सत्यको प्रकट करनेके लिए मोपासांने अपनी एक कहानीमें लिखा है कि कब्रोंपर मृत व्यक्तियोंकी आत्माओंने आधी रातमें उठकर स्वयं अपने गौरवसूचक वाक्योंको मिटा दिया और उनपर अपने जीवनकी सच्ची कलंकपूर्ण बातें लिख दीं। तब सत्यके आलोकमें कितने ही देश-भक्त और पूज्य लोग भी नीच हो गये। जिन भावोंकी प्रेरणासे हम लोग कोई कार्य करते हैं, वे अन्य लोगोंके लिए अज्ञात रहते हैं। अतएव अन्य लोगोंकी दृष्टिमें जो काम भले या बुरे होते हैं, वे स्वयं हम लोगोंके लिए भले या बुरे नहीं होते। समाज तो हमारे बहिर्जीवनको ही देख सकता है, अतएव वह हमारे कार्योंको देखकर हमें जो यश या अपयश देता है, उसमें उसका कोई दोष नहीं है। उपन्यासकार व्यक्तियोंके बाह्य जीवनके साथ उसके अन्तर्जगत्का हमें दर्शन कराता है। तब हमें उसके जीवनकी यथार्थ गरिमा प्रकट होती है। शरद बाबूके देवदासके लिए उसका बाह्य जीवन सर्वथा उपेक्षणीय रहा। उसके लिए उसका अन्तर्जीवन यथार्थ था। और जब पाठक उसके अन्तर्जीवनपर दृष्टिपात करते हैं, तब वे स्वयं उसके बाह्य जीवनकी उपेक्षा कर उसके अन्तर्जीवनको यथार्थ मान लेते हैं। तभी हम सब पाठकगण उससे घृणा न कर उसके दुःखोंसे स्वयं द्रवीभूत हो जाते

हैं। जैनेन्द्रजीकी मृणाल पहेली बन गई, क्योंकि उन्होंने उसके अन्तर्जगत्के भाव-सौन्दर्यको परिस्फुट नहीं किया है। प्रेमकी वह क्या गरिमा थी, जिससे उसने कलंक, निन्दा और दुखः तीनोंको चुपचाप सह लिया !

हिन्दीके उपन्यासोंमें मनोविज्ञानकी बड़ी चर्चा की जाती है। परन्तु मेरे समान पाठकोंकी दृष्टिमें हिन्दीके कितने ही उपन्यास-लेखक मानसिक विकृतियोंके प्रदर्शनमें एकसे एक बीभत्स दृश्य अंकित कर मनोविज्ञानकी सार्थकता समझने लगे हैं। यही नहीं, उनके पात्रोंके भावोंकी इतनी जटिलता रहती है कि पाठक उसको किसी भी तरह समझ नहीं पाते। जैनेन्द्रजीके सभी पात्रोंमें भावोंकी वही जटिलता है और मानसिक विकृतियोंका वही प्रदर्शन है। न जाने किस परिस्थितिमें उनके पात्र क्या कर बैठें !

जैनेन्द्रजीकी 'सुनीता' में श्रीकान्त अपने मित्र हरिप्रसन्नके जीवन-प्रवाहको सोद्देश्य बनानेके लिए अपनी स्त्री सुनीताको साधन बनाना चाहता है। और सुनीता हरिप्रसन्नकी वासनाको दबानेके लिए नारीकी जन्मजात लज्जाका भी परित्याग कर देती है। कल्याणीमें भी भावकी यही विलक्षणता है। हिन्दी विज्ञ समालोचक इस बातको स्वीकार करनेके बाद भी उनके उपन्यासोंमें कलाकी जो एक गरिमा पृथक् कर देखते हैं, वह हमारे समान पाठकोंके लिए संभव नहीं है।

इलाचन्द्र जोशीने एक वेश्याकी लड़कीका चरित्र अंकित कर एक समालोचकके कथनानुसार सभ्यताकी शानमें चढ़े हुए प्रमाद और भ्रान्तिको दूर करनेका मनोवैज्ञानिक उपचार किया। विज्ञोंकी इन्हीं बुद्धिवाद, व्यक्तिवाद, साधनावाद और मनोवैज्ञानिक उपचार आदिकी बातें सुनकर हम लोगोंके लिए ऐसा उपन्यास, उपन्यास न रहकर मनोविज्ञान या समाजवादका एक जटिल अंग हो जाता है और उसे अपनी बुद्धिका अधिकाधिक प्रयास करने पर भी हम लोग समझ नहीं पाते।

मैं भी हिन्दीके ऐसे उपन्यासोंमें एकसे एक विलक्षण सामाजिक और मानसिक समस्याओंकी गुत्थियोंको सुलझानेकी विफल चेष्टामें कथा-रसका आस्वादन करनेमें असमर्थ हो गया हूँ। पंडित नन्ददुलारे बाजपेयीने प्रसादजीके सम्बन्धमें लिखा है कि एक बार उन्होंने कहा कि हम हिन्दीमें शरच्चन्द्रको

देखना चाहते हैं; पर हिन्दी-भाषा-भाषी क्षेत्रमें वह समाज कहाँ है, जो उनके उपन्यासोंमें है ? हम लोग भी हिन्दीके उपन्यास पढ़कर यही सोचा करते हैं कि हिन्दी-भाषा-भाषी समाजके अनुकूल कब कोई शरद बाबू हिन्दीके औपन्यासिक क्षेत्रमें अवतीर्ण होंगे, जो हिन्दी परिवारके भीतर प्रेमकी वही विशुद्धि और चरित्रकी वही गरिमा भी प्रदर्शित करेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दीके आख्यायिका-क्षेत्रमें हिन्दीके लेखकोंको जो सफलता मिली है, वह उपन्यासके क्षेत्रमें नहीं। हिन्दीमें आख्यायिकाओंके कितने ही संग्रह प्रकाशित हुए हैं। हिन्दीके प्रायः सभी उपन्यास-लेखकोंने कहानियाँ भी लिखी हैं। उनकी कहानियोंमें हम लोगोंको जो कथारस प्राप्त हुआ है, वह उनके उपन्यासोंमें प्राप्त नहीं हुआ। स्वयं प्रेमचन्दजीकी कहानियाँ हमें जितनी अच्छी लगीं, उतने अच्छे उनके उपन्यास नहीं लगे। यही बात प्रसादजी और जैनेन्द्रजीकी रचनाओंके सम्बन्धमें भी हम कह सकते हैं।

४

जैनेन्द्रजीकी रचनाओंके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न विज्ञोंके भिन्न-भिन्न मत हैं। कलाकी कृतियोंमें एक चिरनवीनता रहती है, जिसके कारण किसी भी एक युगकी विचारधाराके अनुसार उसका यथार्थ मूल्य नहीं निर्दिष्ट किया जाता। आधुनिक हिन्दी-साहित्यकी तो इतनी क्षिप्र गति है कि यह कहना कठिन हो जाता है कि अब नवयुगमें किन लेखकोंका स्थान है। नव-विचारोंकी धाराके साथ नव-आदर्शके लिए साहित्यके क्षेत्रमें राजनीतिके क्षेत्रकी तरह कुछ ऐसी व्यग्रता आ गई है कि थोड़े ही समयके भीतर अग्रगामी दलमें एकको हटाकर दूसरा आपसे-आप स्थान ले लेता है। इसमें सन्देह नहीं कि विश्वके कर्म-क्षेत्रमें वृद्धोंका स्थान तरुण लेते ही हैं। सभी लोग यह अनुभव करते हैं कि जीवन परिवर्तनशील है और वह परिवर्त्तन भी ऐसे अलक्षित रूपसे होता है कि सहसा उसपर किसीकी दृष्टि भी नहीं जाती। तारुण्यकी स्फूर्ति प्रौढ़ावस्थाकी चिन्तामें स्वतः बदल जाती है और फिर आपसे-आप वृद्धावस्थाकी आशंका आ जाती है। जिसको सत्य समझकर हम तरुणावस्थामें दृढ़तापूर्वक स्वायत्त करनेका प्रयत्न करते हैं, वही वृद्धावस्थामें अपनी सारवत्ता खो बैठता है।

सत्य क्या है, इसका निर्णय किसीके जीवनमें नहीं हो पाता। तरुणोंका सत्य वृद्धोंका सत्य नहीं होता और जब तक वृद्ध अपनी अनुभूतिसे सत्यको अपने ही लिए स्पष्ट करनेका प्रयत्न करता है, तब तक मृत्यु अचानक आकर उसके प्रयत्नको निष्फल कर देती है और वह जीवनके उस पार एक ऐसे रहस्यमय प्रदेशमें पहुँच जाता है, जहाँ सत्य और असत्य दोनों एकाकार हो जाते हैं।

विश्वके कर्मक्षेत्रमें सत्यकी सीमा कभी निर्दिष्ट नहीं हुई है। वह सदैव परीक्षाका ही विषय रहा है। किसी भी युगमें सत्यकी पूर्णता प्रकट नहीं हुई है। तभी तो कहा जाता है कि पिलातुने भगवान् ईसा मसीहसे पूछा अवश्य कि सत्य क्या है; परन्तु उनके उत्तरकी प्रतीक्षा उसने नहीं की और अपना आसन छोड़कर चला गया।

आधुनिक हिन्दी-साहित्यमें जीवनकी जो परीक्षा आरम्भ हुई है, उसमें नवीनताके साथ प्राचीनताका ऐसा विकट संघर्ष हो रहा है कि जो लोग कुछ समय पहले नवयुगके प्रवर्तक अथवा प्रगतिशील साहित्यकार समझे जाते थे, वही अब अपने स्थानसे च्युत किए जा रहे हैं। कहा जाता है कि अब न तो द्विवेदीजीका युग रहा और न प्रसाद और पंतका ही युग रहा। हिन्दीके प्रसिद्ध कवि 'नवीन' ने अपने एक भाषणमें कहा है कि उनके किसी सम्मान्य मित्रने उनके सम्बन्धमें एक बार कहा कि प्रगतिशील 'नवीन' तो मर गये—अब बच रहे हैं केवल दार्शनिक नवीन। उन्होंने यह भी कहा है कि जिन दो साहित्यकारोंको समीक्षक कभी प्रगतिशील मानते थे और सर्वश्रेष्ठ समझते थे, उन्हींको कुछ ही समयके बाद उन्होंने व्यक्तिवादके सियार-की उपाधिसे विभूषितकर उनका श्राद्ध कर दिया। अपने युगके साहित्य-कारोंके प्रति समीक्षकोंमें विशेष अनुराग या तिरस्कारका भाव हो जाना कोई असाधारण बात नहीं है। निष्पक्ष होनेपर भी एक पक्षपातका भाव आ ही जाता है। परन्तु साहित्यकी समीक्षामें प्रशंसा और निन्दाकी भावनासे प्रेरित होकर यदि कुछ लिखा जाता है, तो उसका कोई विशेष मूल्य भी नहीं रहता। यह सच है कि कभी-कभी विशेष अवज्ञा और तिरस्कारको सहकर किसी सच्चे साहित्यकारको विषम वेदना होती है। कीट्सके विषयमें कहा गया है कि आलोचनाकी कटुताके कारण ही उनकी मृत्युतक हो गई। परन्तु

यह कौन स्वीकार नहीं करेगा कि साहित्यके क्षेत्रमें वही कृतियाँ अक्षयस्थान प्राप्त करती हैं, जिनमें साहित्यका सच्चा गौरव विद्यमान रहता है। एकमात्र आलोचकोंकी समीक्षाओंके कारण किसीकी रचना साहित्यके गौरव ग्रन्थोंमें परिगणित नहीं हुई है। इसमें सन्देह नहीं कि अपने युगमें विज्ञोंकी प्रशंसाके पात्र कितने ही ग्रन्थकारोंकी कीर्ति नष्ट हो गई और उनसे तिरस्कृत कितने ही साहित्यकारोंने साहित्यमें उच्च आसन प्राप्त कर लिया। फिर भी ऐसी समीक्षाओंके द्वारा पाठकोंको सत्-साहित्यके सम्बन्धमें शिक्षा अवश्य मिलती है और लोकरुचिका भी परिष्कार होता है। अतएव ऐसे विवादोंसे न तो साहित्यका कोई अनिष्ट होता है और न साहित्यकारोंका। उनसे लोगोंको कुछ सोचने और समझनेको बातें मिल ही जाती हैं।

आधुनिक कथा-साहित्यमें सबसे अधिक विक्षोभकी भावना उत्पन्न की उग्रजीने और विचारके लिए सबसे अधिक प्रेरणा दी जैनेन्द्रजीने। कथा-साहित्यमें कलाका कैसा भी सौष्ठव प्रकट हुआ हो और उसमें क्रान्तिकी कैसी भी प्रबल भावना व्यक्त हुई हो, साधारणतया सभी उपन्यास-प्रेमी पाठक उसमें अपने मनोरंजनकी सामग्री प्राप्त करके ही संतुष्ट होते हैं। उपन्यासोंसे नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र या अन्य किसी शास्त्रके तत्त्वोंको उपलब्ध करनेके लिए कोई उन्हें पढ़ने नहीं बैठता। तभी तो उपन्यासोंकी गणना रस-साहित्य अथवा जीवन-साहित्यमें की जाती है। उपन्यासोंसे पाठकोंको जो एक आनन्दकी अनुभूति होती है, वह सचमुच अनिर्वचनीय रहती है। मनकी विरक्ति अथवा क्लान्तिको दूर कर वे हमें ऐसे लोकमें क्षणभरको पहुँचा देते हैं, जहाँ हम अपने कर्त्तव्य और चिन्ता दोनों भूल जाते हैं। अपनी वर्तमान परिस्थितिकी सर्वथा उपेक्षाकर हम कल्पनाके जगत्में एक सुख और तृप्तिका अनुभव करते हैं। यह बात नहीं है कि कथा-साहित्यमें सुख और तृप्तिकी चर्चा रहती है। सच पूछो, तो उसमें दुख और अतृप्तिकी ही बातें अधिक होती हैं। उसमें अन्याय, दुराचार, उत्पीड़न, विलासिता और दुस्साहसकी ऐसी विलक्षण लीलाओंका वर्णन होता है कि उन्हें पढ़कर हृदय काँप उठता है; परन्तु घृणा, क्रोध, विस्मय, भय और आतंकके जितने ही अधिक प्रबल भाव हमारे मनमें उठते हैं, उतनी ही अधिक रसानुभूति हमें

होती है और उतने ही अधिक कथामें हम तन्मय हो जाते हैं। एकसे एक असाधारण दुखप्रद, आतंकप्रद और घृणोत्पादक घटनाओंके वर्णनसे हमारे कौतूहलकी वृद्धि होती है। उनसे हम कभी उत्तेजित होते हैं, कभी करुणासे द्रवीभूत हो उठते हैं और कभी क्रोध और घृणासे उबल पड़ते हैं। पर तभी हमें आनन्दकी अनुभूति होती है, तभी हम यह अनुभव करते हैं कि उपन्यासके मायालोककी यह यात्रा हमारे लिए रमणीय थी। वह मायालोक हमारे लिए इतना अधिक यथार्थ हो जाता है कि हमारा अपना यथार्थ जीवन भी हमारे लिए उपेक्षणीय हो जाता है।

जो विज्ञ कथा-साहित्यमें यथार्थवाद और आदर्शवादकी सूक्ष्म मीमांसा करते हैं, वे स्वयं अच्छी तरह समझते हैं कि यदि कल्पनाका यह मोह-जगत् पाठकोंके लिए यथार्थ नहीं हुआ, तो उन्हें उससे कथा-रसकी प्राप्ति ही नहीं होगी। घटनाएँ कितनी ही विलक्षण हों और चरित्र कितने ही असाधारण हों, सच्चा उपन्यासकार अपने कथाके मोह-जालमें पाठकोंको ऐसा बद्ध कर लेता है कि जो बातें संसारमें संभव नहीं हैं, वे भी उसके उपन्यास-जगत्में संभव हो जाती हैं। उसमें मंगल लोकका निवासी भूलोकपर आकर नर-संहारकर डालता है; मृत शरीरमें एक पिशाच उत्पन्न होकर अपने ही निर्माताके लिए भयका साम्राज्य स्थापित कर सकता है, एक ही व्यक्ति सर्वथा विभिन्न दो रूपों और स्वभावोंको ग्रहण कर एक-से एक असाधारण काम कर सकता है। कल्पना तो मनकी स्वच्छन्द गति है। उसके लिए देश और कालकी कोई सीमा निर्दिष्ट नहीं की जा सकती। उसीमें एक नव जगत्की सृष्टि करनेकी शक्ति है। कथाकारकी सच्ची कुशलता यही है कि वह अपनी कल्पनाके उस जगत्को पाठकोंके लिए ऐसा यथार्थ बना देता है कि वे उसमें जीवनका एक अपूर्व रस पाते हैं। वे उसीमें जीवनकी सच्ची गरिमा, सच्ची स्फूर्ति और सच्चे उल्लासका भी अनुभव पाते हैं।

कथा-साहित्यमें सदाचारकी महिमा वर्णित होती है और दुराचारकी हीनता भी। सदाचारकी महिमाका वर्णन करनेके लिए भी दुराचारोंकी बीभत्सताका वर्णन करना आवश्यक होता है। जो कथाएँ केवल सुनीतिकी शिक्षा देनेके लिए निर्मित होती हैं, वे भी दुरा-

चारोंकी उपेक्षा नहीं कर सकतीं। इसीलिए 'हितोपदेश'में भी दुराचारकी कथाएँ सन्निहित हैं। यह ठीक है कि पाप और पुण्यकी धारणा देश और कालपर निर्भर रहती है। उसीके अनुसार सदाचारकी महिमा लक्षित होती है और दुराचारकी हीनता। जो एक स्थितिमें सदाचार माना जाता है, वह दूसरी स्थितिमें दुराचार भी हो जाता है। पर मनुष्यके हृदयमें सदैव सु और कु का द्वन्द्व युद्ध होता रहता है। उसमें एक ओर सुप्रवृत्ति होती है और दूसरी ओर कुप्रवृत्ति भी। उन्हींके द्वन्द्वसे जीवनका विकास होता है। जीवनमें जो वैचित्र्य है, उसका कारण यही द्वन्द्व है। उसमें जो सौंदर्य और आनन्द है, उसके मूलमें भी वही द्वन्द्व है।

यदि संसारमें कुरूपता न रहे, तो सौंदर्यकी अनुभूति ही कैसे हो? इसीलिए कथा-साहित्यमें जो दुराचार हैं, जो हीन हैं; जो मनके विकार हैं, उनकी उपेक्षा नहीं होती। तो भी यह सच है कि एकमात्र मनकी विकृत अवस्थामें कोई भी व्यक्ति अपने जीवनकी यथार्थताका अनुभव नहीं करता। विकार अनिवार्य हैं, पर उनमें यथार्थता नहीं है। विकार विकार ही हैं। रोग शरीरके विकार हैं, वे शरीरकी विकृत अवस्था सूचित करते हैं। उनमें शरीरकी यथार्थता नहीं है। यह सच है कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उन रोगोंका निदान किया जाता है, फिर उनकी चिकित्सा की जाती है। परन्तु उनमें जीवनकी सच्ची स्फूर्ति नहीं रह सकती। शारीरिक रोगकी तरह मानसिक रोग भी होते हैं। वे मनकी विकृत अवस्था बतलाते हैं। उनका कारण चाहे आर्थिक विषमता हो या सामाजिक विषमता, परन्तु वे रोगकी ही तरह जीवनकी सच्ची शक्तिको नष्ट करते हैं। वे व्यक्तिके लिए घातक हैं और समाजके लिए भी। इसीलिए उनकी यथार्थ परीक्षा की जाती है और उनको यथार्थ रूपमें प्रदर्शित करनेका प्रयत्न किया जाता है। कितने ही कारणोंसे ये मानसिक विचार प्रकट होते हैं। हिन्दू शास्त्रोंमें काम, क्रोध, लोभ और मोह, इन चारोंको जीवनके लिए घातक मानकर उनकी संयत रखनेके लिए शिक्षा दी जाती है। इसीलिए धर्म-शास्त्रकी तरह साहित्यमें शील और संयमकी एक विशेष मर्यादा निर्दिष्ट कर दी गई है। कामकी शास्त्रीय मीमांसा एक बात है और कामुकताका उत्तेजक साहित्य दूसरी बात है।

व्यक्तिके जीवनमें परिस्थितिकी ऐसी विवशता आ जाती है, जिसके कारण उसके जीवनका विकास अवरुद्ध हो जाता है। तारुण्यके साथ यदि सम्पत्ति, प्रभुत्व और अविवेक हो, तो उससे अनर्थ होता ही है। परन्तु जब समाजकी व्यवस्थामें ही कुछ ऐसे दोष उत्पन्न हो जाते हैं, जिनके कारण दुराचारोंकी वृद्धि होने लगती है, तब उन दोषोंपर ध्यान देना भी आवश्यक हो जाता है। उग्रजीने हिन्दी साहित्यमें अपनी कहानियोंके द्वारा जो विक्षोभ उत्पन्न कर दिया, उसका कारण यह नहीं है कि उन्होंने सबसे पहले काजलकी कोठरीका वर्णन किया है। हिन्दीके पाठक विलास, व्यभिचार और पापोंकी कितनी ही कुत्सित लीलाओंको उनके पहले भी उपन्यासोंमें पढ़ चुके थे। किशोरीलाल गोस्वामीजीके उपन्यासोंमें दुराचारोंका यथेष्ट वर्णन है। 'लंदन-रहस्य'की तरह कितने ही उपन्यास पहले भी लिखे जा चुके थे। सच तो यह है कि दूषित प्रेम, विलास और दुराचारसे उपन्यास ऐसे सम्बद्ध हो गए थे कि छात्रजनोंके लिए सभी तरहके उपन्यास निषिद्ध हो गए थे। अभी तक ऐसे कितने ही विज्ञ हैं, जो उपन्यासोंको तिरस्कारकी दृष्टिसे देखते हैं। उग्रजीने जैसी घटनाओंका वर्णन किया है, उनसे भी अधिक बीभत्स घटनाओंको लोग अपने जीवनमें देखते आये हैं। उनकी यथार्थतामें उन्हें सन्देह नहीं है। लोगोंने उन घटनाओंमें वे बातें देखीं, जिन्हें वे यथार्थ जीवनमें देखकर भी देखना नहीं चाहते। उन कथाओंके प्रति लोगोंके विक्षोभका सबसे बड़ा कारण यह था कि उनकी समझमें उग्रजीने उन घटनाओंका वर्णन कर साहित्यकी सीमाका उल्लंघन किया है। पाश्चात्य देशोंके साहित्यमें ऐसी रचनाओंका अभाव नहीं है, जिनके कारण लोगोंमें पहले बड़ा विक्षोभ फैला; पर अब उन्हींमें कलाका एक सौष्ठव देखा जाता है। इसका एकमात्र कारण परिवर्त्तनशील लोकरुचि नहीं है। व्यक्तिकी तरह राष्ट्रके जीवनमें भी कितने ही कारणोंसे एक संशयावस्था आ जाती है। उस समय हम लोग अपने समाजके भीतर गौरवका ह्रास देखते हैं, और उस गौरवको दृढ़तापूर्वक स्वायत्त करनेके लिए बाहर नीतिकी एक कृत्रिम मर्यादा निर्मित करते हैं। जब भीतरकी उपेक्षा कर हम बाहर गौरवकी भावना प्राप्त करना चाहते है, तभी जीवनमें कपटाचार बढ़ता है। ज्यों-ज्यों बाह्य अनुशासनोंके द्वारा हम अंतर्गौरवको

सुरक्षित करनेका प्रयत्न करते हैं, त्यों-त्यों पापका व्यवसाय बढ़ता है। उसी समय अंतःपरीक्षाकी आवश्यकता होती है। तब कपटके छद्म जीवनमें उसका आवरण हटाकर उसका अनावृत रूप प्रदर्शित करनेकी आवश्यकता होती है। जीवनके अन्धकारमय भागपर प्रकाश डालनेसे उसका कुत्सित रूप स्पष्ट हो उठता है। उस समय उसको देखकर सभी विक्षुब्ध हो जाते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि न जाने सरोवरकी तरह जीवनके अंतस्तलमें कितनी पंकराशि छिपी पड़ी थी। बाहरसे स्वच्छ प्रतीत होनेपर भी भीतर केवल पंककी मलिनता ही थी। उस पंकराशिको ऊपर ला देनेसे सारा जीवन पंकिल हो जाता है। चारों ओर केवल हीनता ही लक्षित होती है। परन्तु है वह जीवनकी विकृत स्थिति। यदि वह पंकराशि नष्ट की जा सके, तो जीवनमें फिर निर्मलता आ जाती है। उन कुत्सित भावनाओंको एक ऐसी भावनामें परिवर्तित करनेकी आवश्यकता होती है, जिसके कारण उनमें विशुद्धि आ जाती है। कहा जाता है कि पंकसे ही उस पंकजकी उत्पत्ति होती है, जिसमें सौंदर्यके साथ ऐसा सौरभ रहता है कि वह सभी देवोंके लिए स्पृहणीय हो जाता है।

कथा-साहित्यमें ऐसी कथाओंका अभाव नहीं है, जहाँ कामकी प्रबल वासनाने भक्तिका रूप धारण कर लिया है। भक्तिकी उस भावनामें विश्व-प्रेमका समावेश हो जाता है। मनुष्योंके हृदयमें भावोंका जो उत्थान-पतन होता है, उसीमें उसके जीवनकी हीनता और अक्षमताके साथ उसकी सच्ची गरिमा और शक्ति प्रकट होती है। पाश्चात्य कथा-साहित्यमें 'रिसरेक्शन' अथवा 'क्राइम एण्ड पनिशमेंट' अथवा 'ले मिजरेब्रिल'में विषम परिस्थितिके भीतर जीवनका गौरव परिस्फुट हुआ है। उग्रजीने बाह्य जगत्की घटनाओंका ही वर्णन किया है। उनके वर्णनमें स्पष्टता है। वे जो कहना चाहते हैं, निस्संकोच कह देते हैं। उनके उपन्यासोंमें जो वासना है वह वासना ही है; उसकी उग्रता जीवनमें प्रकट होती है। मनुष्य यदि अपने अंतस्तलकी सच्ची परीक्षा करने बैठे तो वहाँ वह वासनाओंकी संचित पंकराशि अवश्य देखेगा। हम लोगोंके गर्व, माहात्म्य, वैभव, सभीके भीतर वासनाकी लोलुपता विद्यमान रहती है। उग्रजीने एक दर्शककी तरह उस संसारका वर्णन किया है, जिसकी सभी लीलाओंमें मनुष्योंकी दुर्बलता, अक्षमता और नीचता है। पर उनकी सभी

कथाओंका सम्बन्ध बहिर्जगत्से है। उनकी कथाएँ हम लोगोंकी चित्तवृत्तिपर आघात करती हैं। पर मनुष्योंके भीतर भावोंका जो एक रहस्यमय जगत् है, उसका कोई भी संकेत उनकी कथाओंमें नहीं है।

जैनेन्द्रजीकी रचनाओंमें अंतर्जगतकी कथा है। उसमें जो विलक्षण घटनाएँ होती हैं, उन सभीका सम्बन्ध अंतर्जगत्से रहता है। हम उनके उपन्यासोंके भीतर न तो परिस्थितिकी असाधारणता पाते हैं और न कर्मक्षेत्रमें ही उनके पात्रोंकी कोई असाधारणता प्रकट होती है। उनके पात्रोंकी असाधारणता एकमात्र उनके भाव-क्षेत्रमें लक्षित होती है। उनके किसी भी पात्रके कार्योंकी ओर हम लोगोंका ध्यान आकृष्ट नहीं होता। उनके सभी कार्य उनके लिए उपेक्षणीय होते हैं। बाह्य जगत्में एक स्थिरता ही लक्षित होती है। वहाँ आँधी आती है, परन्तु वह आँधी केवल हृदयके भीतर ही उठती है। इसी कारण जैनेन्द्रजीकी कथावस्तु सदैव संक्षिप्त होती है। उनके नायक अथवा नायिकाके जीवनमें जो यथार्थता रहती है, वह केवल उनके भाव-जगत्की यथार्थता है। सच तो यह है कि उनके सभी पात्र भाव-जगत्के पात्र हैं। इसीलिए न लौकिक व्यापारोंसे उनका कोई प्रयोजन रहता है, न लौकिक बंधनोंकी उन्हें कोई चिन्ता होती है। वे जो कुछ करते हैं, उसमें एक भावका आवेश रहता है। जेन आस्टिनके उपन्यासोंके सम्बन्धमें कहा गया है कि उनकी सारी घटनाएँ एक ड्राइंग-रूमके भीतर हो जाती हैं। यही बात जैनेन्द्रजीके उपन्यासोंके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। पात्रोंकी बातचीतमें ही कथाकी गति लक्षित होती है। सभी पात्र शब्दोंको अस्त्रकी तरह आघात और प्रत्याघात करनेके लिए प्रयुक्त करते हैं। उनमें कटुताके साथ तीव्रता है, पर सदैव एक शिष्टताका संयम भी रहता है। उसीके कारण घटनाकी विलक्षणता न होनेपर भी कथामें विलक्षणता आ जाती है।

जैनेन्द्रजीकी कलाकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जब तक उपन्यासका अन्त नहीं हो जाता है, तब तक तो पाठकोंमें कथाके प्रति एक व्यग्रता और उत्सुकता बनी रहती है; पर ज्यों ही कथाकी समाप्ति होती है, त्यों ही हम विस्मयसे अभिभूत होकर सोचने लग जाते हैं कि ये सब बातें हो कैसे गईं। जब तक हम लोग कथामें उलझे रहते हैं, तब तक

तो कथामें कोई विलक्षणता नहीं प्रतीत होती; पर कथाके अंत होते ही उसकी सारी बातें बड़ी विचित्र और बड़ी रहस्यमयी हो जाती हैं। यह संभव नहीं है कि जैनेंद्रजीके उपन्यासोंको एक बार पढ़कर हम सुस्थिर होकर बैठ जायँ और पात्रोंके सुख-दुखमें परिस्थितिकी विवशता या किसी अदृश्य शक्तिकी लीला या भाग्यका उपहास देखकर एक दीर्घ निःश्वाससे संतुष्ट हो जायँ। उनके सभी पात्र हमें सोचनेके लिए विवश करते हैं। हम लोग पहली बार उनकी रचनाओंमें कथा पढ़ते हैं और दूसरी बार चरित्र पढ़ते हैं। चरित्रकी वह असाधारणता उनके भावोंके विश्लेषणमें लक्षित होती है।

दस वर्षों तक उपन्यासके क्षेत्रसे पृथक् होकर जैनेन्द्रजी विचारके क्षेत्रमें रहे। कितने ही उपन्यास प्रेमियोंको यह देखकर असंतोष हुआ कि कलाकार जैनेंद्र दार्शनिक हो गए हैं। दस वर्षके मौनके बाद उनके दो उपन्यास प्रकाशित हुए। एकका नाम 'सुखदा' है और दूसरेका 'विवर्त'। पर सच पूछो तो जैनेन्द्रजी विचारकके रूपमें कलाकार हैं और कलाकारके रूपमें विचारक हैं। उनके विचार-प्रधान लेखोंमें कथाके तत्त्व हैं और भावप्रधान कथाओंमें दर्शनके तत्त्व हैं। 'सुखदा' और 'विवर्त' दोनोंमें ही क्रान्तिकी कथा वर्णित हुई है। परन्तु यह सच है कि उनमें क्रान्तिका गौरव प्रकट नहीं हुआ है। क्रान्तिने सुखदाके हृदयमें एक आँधी ला दी। उसी आँधीके कारण वह यह अनुभव करती है कि उसने अपने जीवनका सच्चा गौरव खो दिया। अपने बच्चे और स्वामीको उसने अपने ही हाथों हटाकर दूर कर दिया। उसने अपने ही हाथों अपना अभाग्य बना लिया। उसकी सोनेकी गिरिस्ती नष्ट हो गई। सब कुछ उजड़ गया। विद्रोहकी उस आँधीमें पड़कर उसने सचमुच यह समझा कि मैं ऊँची उठ रही हूँ; परन्तु उसका वह उत्थान जीवनका व्यंग ही था। उसने अपने जीवन-कालमें केवल मृगतृष्णाकी असारताका ही अनुभव किया। सबसे पहले गंगासिंह नामक एक नवयुवकने उसके हृदयमें क्रान्ति और विद्रोहकी भावना उत्पन्न कर दी। क्रान्तिकारी युवक कुछ दिनों तक उसके घरमें एक नौकरकी तरह रहा। वह सबेरे अँधेरे ही उठकर घरको साफ कर देता था। वह काममें बेहद चुस्त था। सुखदाको सन्देह हुआ कि वह अवश्य किसी क्रान्तिकारी दलका है। एक दिन वह

सहसा चला गया और उसके जानेके दो दिन बाद उसने पत्रोंमें पढ़ा कि सचमुच वह गंगासिंह एक क्रान्तिकारी युवक था। वह गिरफ्तार कर लिया गया। उसके कारण देशमें एक बिजली दौड़ गई और तब सुखदाने भी यह अनुभव किया कि उसे उठना ही पड़ेगा। जिस पतिके लिए उसके मनमें अगाध प्रेमका भाव समय-समयपर फूटा था, उसके लिए उसके हृदयमें अपार घृणा हो गई। वह लोगोंसे मिलने-जुलने और सार्वजनिक जीवनमें प्रविष्ट होने लगी और हरीशने उसके हृदयमें यह भावना डाल दी थी कि नारी एक शक्ति है और वह शक्ति मानो उसके भीतर खुलकर प्रकट होना चाहती है। वह फिर प्रभातसे परिचित हुई और उसकी दीदी बन गई। उसे फिर एक महिला-सम्मेलनका सभापतित्व स्वीकार करना पड़ा। उसका मन आवेश और उत्साहसे भर गया। वह सोचने लगी कि स्त्रियोंका संगठन किया जाय ताकि महिलाएँ रूढ़िके गर्त्तसे बाहर आयँ और देशकी आजादी पास लायँ।

मनमें कर्तृत्वकी योजनाएँ उदित होनेके बाद वह हरीशके स्थानकी ओर चल दी। वहीं लालसे उसकी भेंट हुई, जिसके कारण उसका जीवन एक दुःखान्त नाटकमें परिवर्तित हो गया। लालने बतलाया कि पुलिसको खबर लग जानेके कारण हरीशको किसी निरापद स्थानमें जाना पड़ा है। यह जगह भी अब निरापद नहीं है। इसलिए इस कमरेको भी बदल डालना होगा। ऐसा मालूम हो कि यह किसी रईसकी ऐशकी जगह है। उसकी इच्छाके अनुसार सब काम कर डालनेके बाद सुखदा लौटी। सुखदाके स्वामी कान्त हरीशके बालसखा थे। उनको ३००) रुपये देनेके लिए उनके डेरे पर गई थी और वहाँ लाल साहबको वे रुपये दे दिये। सुखदाके स्वामी कान्तने सुखदाके जेवरोंपर बैंकसे दो हजार रुपये लेकर प्रभातको दिये थे कि वह हरीशको दे दे। परन्तु लाल साहबके प्रति उन लोगोंकी अच्छी धारणा नहीं थी। लाल साहबने उनके वे रुपये लौटा दिये। जब कान्तने उनसे पूछा कि आप क्या करते हैं, तब उसने कहा कि मैं मौज करता हूँ। मेरा ख्याल है कि यह कोई कम काम नहीं हैं। उसके चले जानेके बाद कान्तने कहा कि वह धूर्त्त है। परन्तु कुछ समयके बाद उन्होंने स्वीकार किया कि मैंने गलती की थी। लालके

साथ सुखदा उनके मकान पर गई। उसने चारों तरफसे सुखदाको मकान दिखलाया, फिर कहा कि मेरा सामने आना अब खतरेसे खाली नहीं है; क्योंकि मैं अमीर हूँ, देशद्रोही हूँ, चरित्रहीन हूँ। अब इस घरका इन्तजाम तुम सोचो। सुखदाने पूछा—कहाँ जा रहे हो? उसने कहा—मुझे मालूम नहीं। सुखदाने लौटकर अपने स्वामीको बतलाया कि लाल बाहर जा रहे हैं और हरीशवाले कमरेकी चाबी मुझे दे गये है। अटैचीकी जेबमेंसे पाँच हजार रुपये उसे और मिले थे। उसके बाद लालका एक पत्र आया। वह पत्र उसके बहुत भीतर तक पहुँच गया। इसी समय प्रभातने उसे बतलाया कि लाल दलकी ओरसे विद्रोही घोषित किया गया है। उसने उसके मकानकी चाबी माँगी। जब सुखदाने अस्वीकार कर दिया, तब उसने कहा कि उस धूर्त्तने आपको भी फाँस लिया है। इसके बाद उसके स्वामी कान्तने उससे कहा कि मैंने लालका पत्र पढ़ लिया। लाल तुम्हें प्यार करता है और तुम सोचती होगी कि तुम प्यार नहीं कर सकतीं। नहीं, वह सच नहीं है। प्यार उसे कष्ट देता होगा, तुम्हें भी वह देगा। कष्ट देना अच्छा नहीं है। फिर सुखदाने अनुभव किया कि घरमें उसका आदर बढ़ गया है। स्वामीने उसके साथ स्वतंत्रता लेना छोड़ दिया। अन्तमें हरीश आया। उन्हें खबर दी गई थी कि लालका आचरण उसके साथ ठीक नहीं रहा।

सुखदा हरीशके पास पहुँची और लाल भी आया। हरीशने कहा कि मुझमें हिम्मत है कि अपने कान्तको देखकर भी कहो, तो इस सुखदाका हाथ तुम्हारे हाथमें दे दूँ और दोनोंको सफल होनेका आशीर्वाद दूँ। उन्होंने सुखदासे कहा कि दो दिन लालको अपने पास तुम रख लो। तुम्हें उसको प्यार करना होगा। लाल सुखदाके साथ आया और उसे घर तक पहुँचाया। जब लाल जाने लगा, तब सुखदाने कातर भावसे प्रार्थना की—लाल, कहो कि तुम अपनेको बचाओगे। लालने यह निश्चय किया कि हरीश भी वहीं आकर रहें। उसके स्वामीने आकर कहा कि हरीशको चलकर बुलाना हो और घर लेकर चलना हो, तो कहो। लालकी ठीक राय है कि हो तो दोनोंको साथ जाना चाहिए ओर हरीश आयें, तो दोनोंको घरपर रहना चाहिए। सुखदा निर्णय अपने हाथ नहीं चाहती थी। इसलिए वह झल्लाकर बोली कि मैं कुछ नहीं

जानती। जब लाल आया, तब उसने क्रुद्ध होकर पूछा कि तुम गई क्यों नहीं। फिर असह्य हिंसासे उसने सुखदाको पकड़कर अपनेमें दबोच लिया। कुछ क्षणके बाद उसको छिटकाकर दूर फेक दिया और कहा कि इस बार बच गई, आगे मौत मत बुलाना। दोनों जमनाघाटपर हरीशके यहाँ गये। वहाँ पेड़ोंकी झुरमुटके बीच सात-आठ आदमियोंके साथ हरीश बैठे थे। उन्होंने कहा कि अब हम सभी अलग-अलग हो जायँ। अब हम सबको विलीन कर दें और जनतामें खो जायँ।

हरीश सुखदा और लालके साथ जमनाके किनारे-किनारे चले। हरीशने कहा—तुम दोनों साथ रह सकते हो। तीनों कान्तके घर आये। वे हरीशकी ही प्रतीक्षामें थे। हरीशने उससे कहा—अब देर न लगाओ और इन लोगोंको हम कमरेपर छोड़ते चलें। परन्तु सुखदाने झपटकर हरीशके हाथसे तालाचाबीको छीन लिया और कमरेके भीतर चली गई। कान्त हरीशके साथ चला गया।

दूसरे दिन शामको प्रभातने आकर बतलाया कि लाल ही केदारको अपने दलमें लाया था और वह रिवाल्वर इकट्ठे कर रहा है। वे लोग कोई षड्यंत्र रच रहे हैं। प्रभात चला गया। रातको दो बजेके बाद उसके स्वामी आये और लेट गये। सुबह वे सुखदासे यह कहकर चले गये कि मेरी फिकर मत करना। अखबारमें हरीशके गिरफ्तार हो जानेका समाचार था। वह एक शिवालयमें पकड़ा गया। कोतवालीके पास कुछ लोगोंने पुलिसके एक दस्तेपर हमला किया। समझा जाता है कि किसी मुखबिरने पुलिसको खबर दे दी। शामको उसके स्वामीने उसको साफ-साफ बतलाया कि मैं दिन-भर लालकी टोहमें था। वह केदार और साथियोंसे घिरा था। थोड़ी देरमें पुलिसकी गाड़ी आई और साथी अपनी-अपनी जगहसे उसकी ओर दौड़े। लाल एक दूकानमें अकेला था। हमला कारगर न होता देख, वह बाहर आया और तेजीसे लपका। पुलिसकी तरफसे फायर हो रहे थे। निशाना कर मैंने अपना रिवाल्वर छोड़ दिया। वह उसे लगा होगा। तब खिला-पिलाकर सुखदाने प्रभातको रवाना कर दिया। उसके बाद उसने अपने स्वामीसे कहा कि मैं अब घरसे बाहर निकल जाऊँगी। दूसरे दिन उसने उन्हींसे ताँगा लानेके लिए कहा। सुखदा ताँगेपर बैठकर अपनी माँके यहाँ चली गई। यहीं उसकी कथाका अन्त हो गया है।

'सुखदा' की यही कथा और भी अधिक संक्षेपमें कही जा सकती है, क्योंकि उसमें कर्मक्षेत्रकी किसी भी बातसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। उसे रूपका गर्व था, सम्पत्तिकी लालसा थी, महत्त्वकी आकांक्षा थी, उसमें ममत्व था, अनुराग था और अभिमान था। इन्हीं सब भावोंके कारण उसने स्वयं अपने लिए एक नया जीवन निर्मित कर लिया। यह नहीं कहा जा सकता कि क्रान्तिकी उद्दाम भावनाके कारण उसका गृहजीवन अनायास दुर्बल होने लगा। क्रान्तिकारी दलमें अप्रत्यक्ष रूपसे तो उसके स्वामी सम्बद्ध ही थे। फिर वे उसकी किसी प्रवृत्तिमें बाधा भी नहीं देना चाहते थे। वे केवल यही चाहते थे कि सुखदा स्वयं अपने लिए निर्णय करे। परन्तु सुखदाको उनकी बातचीतमें यही लक्षित होता था कि वह मुझे अधीन रखना चाहते हैं। उसके स्वामी जब कभी उससे बातें करते तो ऐसे ढंगसे, मानो वे अपनी इच्छाका आरोप सुखदापर बिलकुल नहीं करना चाहते हैं। परन्तु सुखदा यही सोचती थी कि इसी मिठासमें उनका गर्व छिपा है। जब लालने सहसा अपने दोनों हाथोंसे उसके बायें हाथको दबाते हुए कहा—'मैं क्या करूँ, सुखदा, बता तू, मैं क्या करूँ', तब उन शब्दोंकी व्यथा उसे भीतर तक चीर गई। वह गोदमें पड़े हुए उस पुरुषके बालोंको सहलाती हुई बैठी रह गई और फिर बड़े प्यारसे बोली—'उठो, लाल उठो।' उस समय लालकी आँखें आँसुओंसे भरी थीं और मुँहपर लज्जासे लाल एक फीकी, आकुल तृप्त-मुस्कराहट थी। उस समय उसे मालूम हुआ कि पुरुष दुर्दम, दुर्द्धर्ष और कभी कभी कितना निरुपाय हो जाता है।

सुखदाने जो कुछ किया, वह स्वेच्छासे किया, अपने भावोंके वशीभूत होकर किया। बहिर्जगत्में जो घटनाएँ हुई हैं, वे सब संयोगवश हुई हैं। यह केवल संयोगकी बात थी कि गंगासिहने उसीके घरमें नौकर बनकर उसके हृदयमें क्रान्तिकी भावना उत्पन्न कर दी। यदि संयोगवश वह पकड़ा नहीं जाता, तो यह कौन कह सकता है कि सुखदाकी अतृप्ति उसे कहाँ ले जाती। यह भी संयोगकी बात है कि हरीशके जानेके बाद उसकी अनुपस्थितिमें लालसाहबसे सुखदाकी भेंट हुई, नहीं तो शायद सुखदाके हृदयमें जो कर्तृत्व-शक्ति उदित हुई थी, वह केवल भावके आवेशमें लुप्त न हो जाती। इसमें सन्देह नहीं कि

सुखदाके लिए बहिर्जगत् बिलकुल उपेक्षणीय था। वह अपने अन्तर्जगत्में ही लीन रहती थी। वह स्वयं उसमें विलक्षणताका अनुभव करती थी। तभी तो वह कहती थी कि स्त्रीके हृदयको भगवानने विचित्र ही बनाया है। एक पुरुष जिसे वह अभी तक ठीक तरह नहीं जानती, न जाने किस मूर्खताके वश होकर अपना सब कुछ सौंपकर चला जाता है और वह उस मूर्खताको अपनेमें छिपाए रखनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकती। उसने यह अनुभव किया कि दुनियाका जो कुछ उसके साथ था—नाते-रिश्ते, चलन-व्यवहार—मानो सब कुछ उस रहस्यसे किनारे रह गया।

बहिर्जगत्की दृष्टिसे सुखदाकी तुलना रवीन्द्र बाबूके 'घर बाहर' नामक उपन्यासकी नायिका विमलासे की जा सकती है। उसी तरह यशपालजीके 'दादा कामरेड' नामक उपन्यासकी यशोदामें भी उसका सादृश देखा जा सकता है। दोनोंने सहसा देशप्रेमके साथ क्रान्तिके गौरवका अनुभव किया। यशोदाने संकटके समयमें हरीशकी रक्षा की। उसीके कारण वह सार्वजनिक जीवनमें प्रविष्ट हुई। उसके पति अमरनाथ गाँधीवादके समर्थक थे; परन्तु राजनीतिके कार्यक्षेत्रमें उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। जब यशोदा हरीशसे विशेष परिचित हुई, तब हरीशने उसके लिए लालकी तरह यह समस्या उत्पन्न नहीं की कि विवाह और प्रेम दोनों अलग-अलग हैं। हरीशने तो यह कहा कि पति परमेश्वर जरूर है, परन्तु और भी बीसियों परमेश्वर हैं। प्रत्येकको अपने-स्थानपर रहने देना ही ठीक है। परिस्थितिके कारण यशोदाको हरीशकी बात अपने पतिसे छिपानी पड़ी। उसीसे अमरनाथके हृदयमें एक संदेहका भाव उत्पन्न हो गया। उसने यशोदासे हरीशके बारेमें खोद-खोदकर पूछा। यशोदाके चेहरेपर एक संकोचका भाव आ गया और आँखें भी झुक गईं। तब दोनोंके बीचमें एक अदृश्य अन्तर आ गया। अमरनाथके प्रश्नोंने मनमें छिपी गहरी आशंका यशोदाके सामने प्रकट कर दी। पतिके सन्देहका विचार आते ही भय और ग्लानिसे यशोदाके ओंठ काँप गये और अन्यायकी अनुभूतिसे क्रोधकी भावनाने उठते हुए आँसुओंको दबा दिया। उसने उसमें अपने अपमानका अनुभव किया। जब यशोदा शैलके साथ अपनी विद्रोह-यात्रापर कदम उठाकर जाने लगी, तब भी उसके हृदयमें एक

भयका भाव था! फिर भी वह अपमान, अन्याय और ग्लानिके भावोंसे प्रेरित होकर चल पड़ी। तब उसे अनुभव हुआ कि उसकी नाव लंगर तुड़ा प्रबल धारामें बही चली जा रही है, किसी एक दूसरे संसारमें, जिसका उसके पहले संसारसे कोई सम्बन्ध नहीं। पीछे लौट चलनेका कोई उपाय नहीं था और न लौटनेकी इच्छा भी उसे थी। उसके सामने प्रेमकी उलझन नहीं थी, कर्त्तव्यकी समस्या थी, अन्याय और अपमानकी समस्या थी। पर यही बात सुखदाके सम्बन्धमें नहीं कही जा सकती है। सुखदाके सामने जो समस्या थी, वह एकमात्र भावकी ही समस्या थी। रवीन्द्रबाबूकी विमलाकी तरह उसने भी लाल साहबमें संदीपकी तरह एक अपूर्वताका अनुभव किया। रवीन्द्रबाबूके अमूल्यकी तरह प्रभातकी वह भी दीदी बनी। 'घर बाहर'की तरह जेवर और रुपयेके प्रश्न उसके भी जीवनमें उठे। परन्तु घटनामें सादृश्य होनेपर भी सुखदा विमला नहीं है। उसकी अतृप्ति और लालसाने ही उसके सभी कार्योंकी गतिको निर्दिष्ट किया है। वह भाव-जगत्की नायिका है, कर्म-जगत्की नहीं।

जैनेन्द्रजीकी कलाकी यही विशेषता है कि उनकी कहानियोंमें एकमात्र भाव-जगत्में ही रसानुभूति होती है। उस भाव-जगत्में प्रत्येक क्षण भावोंका प्रबल उत्थान होता है और पतन। भावोंके आघात-प्रत्याघात भी होते रहते हैं। उन्हींके कारण कर्म-जगत्की सभी बातें अलौकिक हो जाती हैं। न जाने कब कौन पात्र क्या कर डाले, इसकी कल्पना तक पाठक नहीं कर सकते। कथाकी समाप्ति तक पाठकोंके हृदयमें औत्सुक्यका तीव्र भाव बना रहता है और कथाका अन्त हो जानेपर भी उनका वह औत्सुक्य दूर नहीं होता। उनके पात्रोंके साथ पाठकोंकी सहानुभूति अवश्य होती है, परन्तु वे यही नहीं समझ पाते कि किन बातोंके लिए वे किसके प्रति दुखी हों।

जैनेन्द्रजीके दूसरे उपन्यास 'विवर्त' में भी भावोंकी यही विलक्षण कथा है। कहा गया है कि वह एक पराक्रमी और तपस्वी पुरुषकी कहानी है, जो अपराधकी राहपर चल पड़ता है। उपन्यास पढ़कर पाठक आविष्कार करते हैं कि अपराध व्यक्तिका स्वभाव नहीं है। मानो कहीं दबाव है, ग्रन्थि है, विवर्त है, जिसके कारण स्वभाव विभावको अपना लेता है। उपन्यासके

आरम्भमें वही समस्या उत्पन्न होती है, जो यशपालजीके 'मनुष्यके रूप' में भूषण और मनोरमाके सम्मुख उपस्थित होती है। भूषणने स्पष्ट कहा कि मैं निर्धन, साधनहीन श्रेणीमेंसे हूँ। इस दृष्टिसे मैं मनोरमाके समान सम्पन्न लोगोंकी श्रेणीका शत्रु हूँ। वह समाजकी मौजूदा व्यवस्थामें अपने और अपने जैसोंके लिए कोई स्थान नहीं पाता था। इसीलिए वह जीवनका अवसर न देनेवाली व्यवस्थाके विरुद्ध प्राणपणसे लड़ता रहा। मनोरमाके प्रति उसका अनुराग बना रहा और उसके प्रति मनोरमाका भी प्रेम बना रहा। दोनोंने कर्मक्षेत्रमें ही अपने उस प्रेमकी भावनाको व्यक्त किया। परन्तु यही बात भुवनमोहनी और जितेनके सम्बन्धमें नहीं कही जा सकती। जितेनने कहा—'तुम ठहरो अमीरजादी, मैं मेहनत करके खाता हूँ। पाई-पाई पसीनाके बल मुझे कमानी होती है। फिर हमारे बीच यह क्या हो गया है! सोच लो मोहनी, कहीं तुमसे भूल तो नहीं हो गई है!' मोहनी तीखी पड़ गई। बोली—'खोलकर साफ क्यों नहीं कहते कि तुम मेहनतका खाते हो, हम हरामका खाते हैं। तुम विवाह नहीं चाहते, प्रेम चाहते हो। लेकिन तुम प्रेम भी नहीं चाहते। क्या वह प्रेम है, जो मुझमें मुझको नहीं देखता, अमीरजादीको देखता है? क्या वह प्रेम है, जो तुम्हारी आँखोंको मेरे अलावा मोटर और बँगला देखनेके लिए खाली छोड़ देता है?' मोहनी चाहती थी कि धर्मकी गाँठ देखकर जन्म-जन्मान्तरके लिए जीवनकी यात्रामें वह जितेनकी संगिनी बने। परन्तु उसने जितेनके प्रेममें एक संशय पाया। परिणाम यह हुआ कि मोहनीका विवाह नरेशसे हुआ और जितेन अपराधकी राहपर चल पड़ा। चार वर्षके बाद वह सहायके नामसे एक विद्रोही नेता बनकर आया। उसने बतलाया कि उसीके कारण पंजाब मेल गिर गई; त्रेसठ मरे, दो सौ पन्द्रह घायल हुए। फिर भी मोहनी बोली—'मैं सब कुछ तुम्हारी हूँ और अपने पतिकी केवल पत्नी हूँ।' सारे उपन्यासमें प्रेमके इसी मान और प्रेमके इसी अभिमानकी कथा है। उसमें प्रेमकी ही हिंसा है और प्रेमकी ही प्रतिहिंसा है। जितेनने आजादीके लिए विद्रोहका झंडा नहीं उठाया, अन्तमें उसने फाँसीके दण्डको स्वीकार कर कहा—'सब लोग तो यही जानते थे कि वह आजादीका, क्रान्तिका, विश्वकी शान्तिका

काम कर रहा है। मैंने उन्हें यह बताया था, लेकिन भीतर मैं यही खुद नहीं जानता था। इसीसे शायद मैं नेता था। अब जेलके भीतर आया हूँ तब हल पा गया हूँ। प्यार और कुछ नहीं होता, घृणा और कुछ नहीं होती, सब यही एक चीज होती है। हम समझते हैं कि यह दुनिया है और हम आजाद हैं। पर यह समझना खुद सवाल है। हल यह है कि यह जेल है और हम कैदी हैं, जेल भगवान्‌की है, कैदी हम भगवान्‌के हैं।' यहीं कथाको समाप्त कर जैनेन्द्रजी हमारी उत्सुकताको और बढ़ा देते हैं। हम पात्रोंके विषयमें और अधिक सोचने लगते हैं। उनकी कथाओंमें हम रस पाते हैं, पर एक बार या दो बार पढ़ जानेके बाद भी कथाका वह रस अपूर्ण ही बना रहता है। वह सचमुच साहित्यका एक तमाशा है, जहाँ तुक न मिलनेपर भी कविता मिल जाती है। तभी तो यह कहा गया है कि जैनेन्द्रजी दार्शनिक कलाकार हैं। वे जीवनकी ऐहिक समस्याओंकी चिन्ता नहीं करते, उनके लिए भाव-जगत्‌की चिरन्तन समस्या है।

७—आधुनिक कथा-साहित्यमें नारी-समस्या

१

समालोचक साहित्यके व्याख्याता होते हैं। उन्हींसे सत्-साहित्यके सम्बन्धमें साधारण लोग सच्ची बातें समझ पाते हैं। लोक-रुचि उन्हींके द्वारा परिष्कृत होती है। सत् और असत्की विवेचनाके साथ लोगोंमें ज्ञानकी जो वृद्धि होती है, उसका प्रभाव जीवनके सभी क्षेत्रोंमें व्यक्त होता है। साहित्य लोक-शिक्षाका साधन है और लोकशिक्षाके विस्तारके साथ उसका भी विस्तार होता है। तभी एक दृढ़ लोकमत भी तैयार हो जाता है। साहित्यके क्षेत्रमें जो विवाद होते हैं, उनमें उनका ध्येय भी लोकशिक्षा है, यद्यपि एक कटुता भी आ जाती है। किसी एक वादकी पुष्टि करनेके लिए विज्ञ अन्य वादोंका तीव्र विरोध भी करते हैं। इसीसे कितने ही साहित्यकारोंकी विशेष निन्दा या स्तुति होती रहती है। कुछ लोग ऐसी निन्दा-स्तुतिपूर्ण विवेचनाओंको पढ़कर यह समझते हैं कि लोग ईर्ष्यालु होकर ऐसी आलोचनाएँ लिखा करते हैं। एक प्रोफेसरने किसी सज्जनकी बातोंसे क्षुब्ध होकर लिखा है कि क्या हिन्दीके मर्द आलोचकोंकी अक्लपर पर्दा पड़ गया है? सचमुच सरस्वती इतनी ईर्ष्यान्ध होती है क्या? पर विवादोंमें मत-वैपरीत्यके कारण जो कटुता लक्षित होती है, उसे एकमात्र क्षुद्रता या नीचताका फल नहीं समझ लेना चाहिए। संस्कृत साहित्यके प्रसिद्ध पंडितराज जगन्नाथने अप्पय दीक्षितकी कृतिकी बड़ी तीव्र आलोचना की थी। उन्होंने उनके ग्रन्थके समस्त दोषोंका निरूपण कर अन्तमें यह कहा कि जो इन दोषोंका निराकरण करेगा, उस उज्ज्वल-मति विज्ञके चरणोंको मैं पकड़ लूँगा।

अँगरेजी साहित्यमें चेस्टरटन, शा और वेल्सके साहित्य-संघर्षोंसे कौन अपरिचित होगा? उनके सम्बन्धमें कहा गया है कि वे ग्रन्थ-रचनामें इतने संलग्न नहीं थे, जितने वाग्-युद्ध करनेमें। उनको साहित्यकी उतनी चिन्ता नहीं थी, जितनी जीवनकी। उन्होंने कलाकारकी तरह शब्दोंका प्रयोग नहीं किया है; परन्तु योद्धाओंकी तरह उनकी तीक्ष्णता परखकर अस्त्रकी तरह प्रयुक्त किया है। उनके शब्दोंमें माधुर्य नहीं, आघात करनेकी शक्ति है। उन सभीके विरुद्ध एक शत्रु था और वह शत्रु एक ही था। वे सभी वर्तमान जीवनकी स्थितिसे असंतुष्ट थे। उसका असंतोष उग्र विरोधके रूपमें ही व्यक्त हुआ था। चेस्टरटन साहब मध्ययुगके वैभवसे मुग्ध होकर मध्ययुगको वर्तमानमें खींच लाना चाहते थे। शा और वेल्स साहब वर्तमानको अज्ञात भविष्यके अन्धकारमय गर्भमें ठेल देना चाहते थे। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन तीनोंके पास एक विशेष आदर्शका गौरव था।

आधुनिक हिन्दी साहित्यमें जिन भिन्न-भिन्न वादोंको लेकर जो संघर्ष हुआ और हो रहा है, उनमें अभी तक एक संशयावस्था है। यही कारण है किसी भी वादमें सिद्धान्तका न तो निश्चत रूप है और न उसके अनुयायियोंमें विश्वासकी दृढ़ता। नवीनताके आग्रहसे तरुण साहित्यकारोंमें जो एक व्यग्रता आ गई है, उसमें एक स्फूर्ति है, एक आवेग है, एक उल्लास है; परन्तु निर्माणकी सच्ची क्षमताका अभाव है। उन्हें अपनी कर्तृत्व-शक्तिमें स्वयं सन्देह है। शक्तिके अभावको स्फूर्तिके द्वारा पूर्ण करनेके प्रयत्नमें जो वितंडावाद खड़ा हो जाता है, उसमें मिथ्या स्तुति और मिथ्या निन्दाकी ही प्रधानता हो जाती है।

सभी युगोंमें किसी एक मतकी ऐसी प्रधानता हो जाती है कि साधारणतया सभी लोग उसकी सत्यतापर विश्वास कर लेते हैं। स्वयं अपनी ओरसे उसकी सत्यताके सम्बन्धमें विचार करनेकी आवश्यकताका अनुभव अधिकांश लोग नहीं करते। समयकी गतिको देखकर लोग उसीके अनुकूल अपना विचार बना लेते हैं। कालिदासके युगमें प्राचीनताकी ओर लोगोंको इतनी अधिक श्रद्धा थी कि नवीनताको वे सन्देहकी दृष्टिसे देखते थे। इसी लिए उनको यह कहना पड़ा कि न तो सभी प्राचीन बातें अच्छी हैं और न सभी नवीन

बातें बुरी। जो विज्ञ होते हैं, वे सभी बातोंकी परीक्षा कर उसीको ग्रहण करते हैं, जो अच्छी होती हैं। केवल मूढ़ ही दूसरोंपर विश्वास कर सोचते और समझते हैं। यह बात केवल मूढ़ोंके सम्बन्धमें नहीं कही जा सकती, अधिकांश शिक्षित जन भी स्वयं अपनी ओरसे कुछ नहीं सोचते। बात यह है कि समय-गतिके विरुद्ध सोचनेका साहस भी कम ही लोगोंमें होता है।

हिन्दीमें रूढ़िवाद और पलायनवादके नामसे प्रचलित रीति-नीतिके विरुद्ध जो एक तीव्र भर्त्सना व्यक्त की जाती है, उसके कारण साहित्यमें किसी प्राचीन आदर्श अथवा नीतिके गौरवका प्रदर्शन करना कठिन हो गया है। विलक्षणताकी ओर अधिकांश साहित्यकारोंकी कुछ ऐसी प्रवृत्ति हो गई है कि एकसे एक नए प्रयोग साहित्यके क्षेत्रमें किए जा रहे हैं। यही कारण है कि आधुनिक साहित्यमें प्रचारका जितना काम हो रहा है, उतना निर्माणका नहीं।

२

लोक-शिक्षाके प्रचारके साथ साहित्यका भी प्रचार होता है। आधुनिक युगकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अब पुस्तकोंके प्रतिके लोगोंका अत्यधिक अनुराग हो गया है। लोगोंका यह पुस्तक-प्रेम उनकी ज्ञान-लिप्सा या जिज्ञासाका सूचक नहीं है। अधिकांश पुस्तकें ज्ञानवर्धनके लिए नहीं, मनोरंजनके लिए लिखी जाती हैं। उन्हीं पुस्तकोंका विशेष प्रचार होता है, जिनसे लोगोंका अधिक मनोविनोद होता है। यह सच है कि अपने युगमें कोई एक या दो ही ऐसे श्रेष्ठ साहित्यकार होते हैं, जिनकी वाणीमें युगकी आत्मा विद्यमान रहती है। ऐसे श्रेष्ठ साहित्यकार अपने देश और कालकी भी सीमाको अतिक्रमण कर जाते हैं। उनके गौरवको सभी स्वीकार करते हैं। परन्तु साहित्यकी सार्थकता एकमात्र उन्हींकी कृतियोंमें नहीं है। अधिकांश पुस्तकें थोड़े ही दिनोंमें नष्ट हो जाती हैं। परन्तु उनकी उपयोगिताके सम्बन्धमें सन्देह नहीं किया जा सकता। जनताको उन्हींसे विशेष परितोष होता है। उन्हींके लिए उनका इतना आग्रह होता है कि प्रतिदिन कितनी ही पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। न सभीमें ज्ञानका गौरव रहता है और न कलाका चमत्कार, फिर भी उनका प्रकाशन होता है और उनका प्रचार भी बढ़ता जाता है। आधुनिक

सभ्यताने कितनी ही आवश्यकताओंकी वृद्धि कर दी है। उन्हींमेंसे एक आवश्यकता पुस्तकोंकी भी है। उन पुस्तकोंमें भी उपन्यासोंका विशेष स्थान है। अन्य पुस्तकोंकी अपेक्षा उन्हींका प्रचार अधिक है। व्यवसायकी दृष्टिसे प्रकाशक उपन्यास अधिक प्रकाशित करते हैं और आर्थिक लाभकी दृष्टिसे अधिकांश लेखक उपन्यासोंकी ही अधिक रचना करते हैं।

आधुनिक साहित्यकी गतिको देखकर एक विज्ञने कहा था कि आजकल अधिकांश पुस्तकें रेलवे-स्टेशनोंके लिए लिखी जाती हैं। उनके बाद विद्यालयोंके लिए पुस्तकोंकी रचना होती हैं। जिनकी किताबें न तो रेलवे-स्टेशनोंमें मिलती है और न विद्यालयोंमें, उनकी गणना उच्चकोटिके साहित्यकारोंमें की जाती है। उनकी रचनाएँ विद्यालयोंके पुस्तकालयोंकी शोभा बढ़ाती हैं। जन-साहित्यसे उनका कोई सम्पर्क नहीं रहता। साधारण जनोंके लिए वे रक्षणीय या दर्शनीय हो जाती हैं, पर पठनीय नहीं होतीं। उक्त विज्ञके कथनमें चाहे सार हो या न हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि अधिकांश रेलवे-स्टेशनोंपर चा, सिगरेट आदि यात्राकी आवश्यक वस्तुओंके साथ पुस्तकोंके बेचनेकी भी व्यवस्था कर दी गई है। अधिकांश यात्री रेलवे स्टेशनोंमें पुस्तकें खरीदते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि रेलगाड़ीमें सभी तरहकी सुविधाएँ होनेपर भी अधिकांश लोगोंके लिए यात्रा विरक्तिजनक हो जाती है। उनके मनमें ही नहीं, शरीरमें भी एक क्लान्ति आ जाती है। मनकी ऐसी स्थितिमें उपन्यासके माया-लोकमें विचरण करना सुखद होता है। कार्योंके कठोर भारसे ग्रस्त मनुष्योंको उपन्यासके कल्पनालोकसे क्या आनन्द आ सकता है? इसीसे यात्राके समयमें जो ग्रन्थ पढ़े जाते हैं, उनमें ऐसी उच्च कोटिकी रचनाएँ नहीं होतीं, जिनसे एकमात्र विज्ञोंको ही परितोष होता है। विज्ञान-तत्त्व, समाज-तत्त्व या दर्शन-तत्त्वकी गूढ़ मीमांसाके लिए रेलगाड़ी उपयुक्त स्थान नहीं है। बात यह है कि यात्रामें किसीको भी ज्ञानकी पिपासा नहीं रहती। उस समय सभी लोगोंको क्षणिक सुख या क्षणिक तृप्तिकी ही कामना होती है। यात्राके लिए उपयुक्त ऐसी पुस्तकोंकी गणना स्थायी साहित्यमें नहीं होती। पाश्चात्य देशोंमें कितने ही यात्री ऐसी पुस्तकोंको पढ़कर वहीं फेंक देते हैं। ऐसी पुस्तकें वे घर ले जाना पसन्द ही नहीं करते। उनकी क्षणिक उपयोगिता होती है, उनसे

क्षणिक आनन्द होता है; पर उस क्षणिक आनन्दमें इतनी तीव्रता रहती है कि उसके लिए सभीको एक आग्रह होता है। यात्रामें जितनी हीं अधिक विरक्ति या क्लान्तिका अनुभव होता है, उतनी ही अधिक ऐसी पुस्तकोंकी आवश्यकता पड़ती है।

मनकी ऐसी स्वच्छन्द स्थितिमें कितने ही श्रेष्ठ उपन्यासकारोंके उपन्यासोंका सच्चा रसास्वादन किया जा सकता है। तल्लीनताका यह भाव उपन्यासकारोंकी श्रेष्ठ कलाको सूचित करता है। परन्तु यह सच है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्यके कितने ही उपन्यासोंमें कथावस्तुकी जटिलताके साथ मानसिक भाषाका ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण होता है कि उन्हें समझनेके लिए गंभीरतापूर्वक मनोयोगके साथ उनका अध्ययन करना पड़ता है। जैनेन्द्रजी, अज्ञेयजी अथवा वृन्दावनलाल वर्माजीके उपन्यास ऐसे नहीं हैं कि उन्हें राह चलते पढ़कर हम लोग सच्चा रस उपलब्ध कर सकें। कितने ही उपन्यासकार अपने उपन्यासोंको ऐसा नाम देते हैं कि केवल नाम पढ़कर पाठकोंको उनकी कथावस्तुके सम्बन्धमें कल्पनाका आश्रय लेना पड़ता है। उल्कापात, पथ-कुपथ, गिरती दीवारें, बहता-पानी, कंकाल आदि नाम ग्रहण कर कितने ही उपन्यास मुखपृष्ठके चित्रोंकी अपेक्षा पाठकोंके लिए अधिक विस्मयजनक और आतंकपूर्ण हो जाते हैं। अभी हालमें भगवतीप्रसादजी वाजपेयीने एक नया उपन्यास लिखा है। उसका नाम उन्होंने रखा है—चलते-चलते। 'चलते-चलते' को चलते-चलते पढ़ डालना संभव नहीं है। जैसा विलक्षण उसका नाम है, वैसी ही रहस्यमयी उसकी भूमिका है और उन दोनोंसे अधिक असाधारण उसकी कथा-वस्तु है। पात्रोंमें कोई असाधारणता नहीं है। उनके कार्योंमें भी कोई असाधारणता नहीं है। परन्तु सारा उपन्यास पढ़ लेनेके बाद पाठकोंको ऐसा जान पड़ता है कि हमने किसी असाधारण जगत्की यात्रा की है।

आधुनिक साहित्यमें जो प्रगतिशीलता कही जाती है, उसमें तारुण्यकी उद्दाम वासना और अदम्य स्फूर्तिके चित्र अंकित होते हैं। उसमें एक अस्थिरता रहती है। जीवनकी एक परिवर्तनशीलता भी लक्षित होती है। तरुणावस्थामें यह प्रगतिशीलता और परिवर्तनशीलता स्पृहणीय होती है। यह बात तो सभी समझ सकते हैं कि जब तक जीवनमें तरुणावस्थाकी चंचलता और

व्यग्रता है, तब तक स्थिरतासे विरक्ति और परिवर्तनके लिए औत्सुक्य रहता है। परिवर्तनमें एक अनिश्चित स्थिति रहती है। तारुण्यमें उस अनिश्चित, लक्ष्यहीन, उत्तरदायित्व-रहित निर्बाध स्थितिमें उल्लासकी दीप्ति होती है। तारुण्यमें प्रेमकी जो लीलाएँ होती हैं, उनमें कामनाओंकी अतृप्ति रहती है। जब तक अतृप्ति है, तब तक उन लीलाओंकी ओर चाह रहती है। ज्यों ही किसीमें तृप्तिका भाव आया, त्यों ही प्रेमकी उस लीलासे विरक्त हो जाती है। प्रेमकी अतृप्ति ही प्रेमकी उस वासनाको उत्तेजित करती है। इसीलिए 'शेष प्रश्न'के कमलकी तरह कितने ही तरुण सोचते हैं कि एक दिन जिससे प्रेम किया, फिर किसी दिन उसमें किसी परिवर्तनका अवकाश न हो, यह भाव मनके अचल, अडिग और जड़ धर्मका सूचक है। वह न तो स्वस्थ्य है और न सुन्दर। नदीके प्रवाहमें मिट्टीके जो कण चुपचाप बहते चले आते हैं, वे कभी-कभी किसी स्थानमें एकत्र होकर द्वीपके रूपमें परिणत हो जाते हैं। नदीके भीतरके वे द्वीप नदीकी गतिमें बाधा नहीं डाल सकते, नदी अपनी गतिको कुछ टेढ़ी कर आगे ही बढ़ती चली जाती है। परिवर्तनशील जीवन-प्रवाहमें नदीके द्वीपकी तरह भावोंकी जो संचित राशि स्थिर रूप धारण कर लेती है, वह केवल उसकी गतिको कुछ विकृत कर देती है। उनसे यह भी पता चल जाता है कि जीवनकी धारा किस ओर प्रवाहित हो रही है। परन्तु उनसे उसकी गतिमें कोई बाधा नहीं आती। तारुण्यकी इस प्रचण्ड वासना-धारामें एक स्वच्छन्दता रहती है, एक निर्भीकता रहती है, एक दुर्दम्य अंतःप्रेरणा रहती है। वह पतनमें मुक्ति पाती हैं। विनाशमें उसे उल्लास होता है और जब तक उसमें वेग है, तब तक वह आगे ही बढ़ती जाती है। जहाँ उसका वेग कम हुआ, जहाँ उसके प्रवाहमें स्थिरता आई, वहीं उसका अस्तित्व नहीं रह जाता। वहीं उसकी सीमा नष्ट हो जाती है।

तारुण्यकी ऐसी कथाओंमें विश्वासकी एक दृढ़ता भी लक्षित होती है। उनके प्रेमका अवसान चाहे मृत्युमें हो या आत्महत्यामें, उनमें चरित्रकी एक दृढ़ता अवश्य रहती है; पर जिन उपन्यासोंमें मानसिक विकृतियोंकी एक विचित्र उलझन रहती है, उन्हें समझ सकना पाठकोंके लिए बड़ा कठिन है। साधारण स्थितिमें मनकी असाधारण स्थितिको प्रदर्शित करनेके प्रयासमें कितने

क्षणिक आनन्द होता है; पर उस क्षणिक आनन्दमें इतनी तीव्रता रहती है कि उसके लिए सभीको एक आग्रह होता है। यात्रामें जितनी ही अधिक विरक्ति या क्लान्तिका अनुभव होता है, उतनी ही अधिक ऐसी पुस्तकोंकी आवश्यकता पड़ती है।

मनकी ऐसी स्वच्छन्द स्थितिमें कितने ही श्रेष्ठ उपन्यासकारोंके उपन्यासोंका सच्चा रसास्वादन किया जा सकता है। तल्लीनताका यह भाव उपन्यासकारोंकी श्रेष्ठ कलाको सूचित करता है। परन्तु यह सच है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्यके कितने ही उपन्यासोंमें कथावस्तुकी जटिलताके साथ मानसिक भाषाका ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण होता है कि उन्हें समझनेके लिए गंभीरतापूर्वक मनोयोगके साथ उनका अध्ययन करना पड़ता है। जैनेन्द्रजी, अज्ञेयजी अथवा वृन्दावनलाल वर्माजीके उपन्यास ऐसे नहीं हैं कि उन्हें राह चलते पढ़कर हम लोग सच्चा रस उपलब्ध कर सकें। कितने ही उपन्यासकार अपने उपन्यासोंको ऐसा नाम देते हैं कि केवल नाम पढ़कर पाठकोंको उनकी कथावस्तुके सम्बन्धमें कल्पनाका आश्रय लेना पड़ता है। उल्कापात, पथ-कुपथ, गिरती दीवारें, बहता-पानी, कंकाल आदि नाम ग्रहण कर कितने ही उपन्यास मुखपृष्ठके चित्रोंकी अपेक्षा पाठकोंके लिए अधिक विस्मयजनक और आतंकपूर्ण हो जाते हैं। अभी हालमें भगवतीप्रसादजी वाजपेयीने एक नया उपन्यास लिखा है। उसका नाम उन्होंने रखा है—चलते-चलते। 'चलते-चलते' को चलते-चलते पढ़ डालना संभव नहीं है। जैसा विलक्षण उसका नाम है, वैसी ही रहस्यमयी उसकी भूमिका है और उन दोनोंसे अधिक असाधारण उसकी कथा-वस्तु है। पात्रोंमें कोई असाधारणता नहीं है। उनके कार्योंमें भी कोई असाधारणता नहीं है। परन्तु सारा उपन्यास पढ़ लेनेके बाद पाठकोंको ऐसा जान पड़ता है कि हमने किसी असाधारण जगत्की यात्रा की है।

आधुनिक साहित्यमें जो प्रगतिशीलता कही जाती है, उसमें तारुण्यकी उद्दाम वासना और अदम्य स्फूर्तिके चित्र अंकित होते हैं। उसमें एक अस्थिरता रहती है। जीवनकी एक परिवर्तनशीलता भी लक्षित होती है। तरुणावस्थामें यह प्रगतिशीलता और परिवर्तनशीलता स्पृहणीय होती है। यह बात तो सभी समझ सकते हैं कि जब तक जीवनमें तरुणावस्थाकी चंचलता और

व्यग्रता है, तब तक स्थिरतासे विरक्ति और परिवर्तनके लिए औत्सुक्य रहता है। परिवर्तनमें एक अनिश्चित स्थिति रहती है। तारुण्यमें उस अनिश्चित, लक्ष्यहीन, उत्तरदायित्व-रहित निर्बाध स्थितिमें उल्लासकी दीप्ति होती है। तारुण्यमें प्रेमकी जो लीलाएँ होती हैं, उनमें कामनाओंकी अतृप्ति रहती है। जब तक अतृप्ति है, तब तक उन लीलाओंकी ओर चाह रहती है। ज्यों ही किसीमें तृप्तिका भाव आया, त्यों ही प्रेमकी उस लीलासे विरक्त हो जाती है। प्रेमकी अतृप्ति ही प्रेमकी उस वासनाको उत्तेजित करती है। इसीलिए 'शेष प्रश्न'के कमलकी तरह कितने ही तरुण सोचते हैं कि एक दिन जिससे प्रेम किया, फिर किसी दिन उसमें किसी परिवर्तनका अवकाश न हो, यह भाव मनके अचल, अडिग और जड़ धर्मका सूचक है। वह न तो स्वस्थ्य है और न सुन्दर। नदीके प्रवाहमें मिट्टीके जो कण चुपचाप बहते चले आते हैं, वे कभी-कभी किसी स्थानमें एकत्र होकर द्वीपके रूपमें परिणत हो जाते हैं। नदीके भीतरके वे द्वीप नदीकी गतिमें बाधा नहीं डाल सकते, नदी अपनी गतिको कुछ टेढ़ी कर आगे ही बढ़ती चली जाती है। परिवर्तनशील जीवन-प्रवाहमें नदीके द्वीपकी तरह भावोंकी जो संचित राशि स्थिर रूप धारण कर लेती है, वह केवल उसकी गतिको कुछ विकृत कर देती है। उनसे यह भी पता चल जाता है कि जीवनकी धारा किस ओर प्रवाहित हो रही है। परन्तु उनसे उसकी गतिमें कोई बाधा नहीं आती। तारुण्यकी इस प्रचण्ड वासना-धारामें एक स्वच्छन्दता रहती है, एक निर्भीकता रहती है, एक दुर्दम्य अंतःप्रेरणा रहती है। वह पतनमें मुक्ति पाती हैं। विनाशमें उसे उल्लास होता है और जब तक उसमें वेग है, तब तक वह आगे ही बढ़ती जाती है। जहाँ उसका वेग कम हुआ, जहाँ उसके प्रवाहमें स्थिरता आई, वहीं उसका अस्तित्व नहीं रह जाता। वहीं उसकी सीमा नष्ट हो जाती है।

तारुण्यकी ऐसी कथाओंमें विश्वासकी एक दृढ़ता भी लक्षित होती है। उनके प्रेमका अवसान चाहे मृत्युमें हो या आत्महत्यामें, उनमें चरित्रकी एक दृढ़ता अवश्य रहती है; पर जिन उपन्यासोंमें मानसिक विकृतियोंकी एक विचित्र उलझन रहती है, उन्हें समझ सकना पाठकोंके लिए बड़ा कठिन है। साधारण स्थितिमें मनकी असाधारण स्थितिको प्रदर्शित करनेके प्रयासमें कितने

ही उपन्यासकार अपने पात्रोंसे ऐसी बातचीत कराते हैं, जो एक पहेलीके समान गूढ़ और विरक्तिजनक हो जाती है। अधिकांश उपन्यासोंमें भावोंकी इसी उलझनने कथा-रसको बिलकुल ही विकृत कर दिया है। ऐसी ही रचनाओंमें कलाका सौष्ठव बतलानेके लिए कितने ही आलोचकोंके द्वारा कथा-साहित्यकी ऐसी सूक्ष्म विवेचना की जाती है कि साधारण पाठक कथावस्तुको भूलकर एकमात्र असाधारण चरित्रोंकी गरिमासे ही मुग्ध हो जाता है।

आधुनिक समाजकी सबसे बड़ी समस्या व्यक्ति है। समस्त संसारमें आज जो हलचल है, उसके मूलमें व्यक्तिकी ही समस्या काम कर रही है। स्वाधीनता, समता और बन्धुत्वकी भावनामें व्यक्तित्वके पूर्ण विकासका ही आदर्श विद्यमान है। भारतवर्षके समान देशोंमें अशिक्षाके कारण अज्ञानका इतना अधिक साम्राज्य है कि अधिकांश व्यक्तियोंके लिए साधारण शारीरिक आवश्यकताओंको छोड़कर व्यक्तित्वके विकासके लिए न कोई चिन्ता है और न कोई कामना। भौतिक परिस्थितियोंके वशीभूत होकर अधिकांशके जीवनमें एक निचेष्टता-सी आ गई है, तो भी कोई व्यक्ति क्षुद्र और अगण्य होनेपर भी देशकी किसी हलचलमें सर्वथा तटस्थ, उदासीन या निरपेक्ष होकर चुपचाप नहीं बैठ सकता। राष्ट्रकी प्रचण्ड धारा अब उसके व्यक्तिगत जीवनके क्षुद्र घेरेको तोड़कर उसके भीतर प्रविष्ट हो गई है। उसने उसे विक्षुब्ध भी कर दिया है। यह सच है कि गाँवोंमें कर्म-चक्रकी वह प्रचण्ड गति लक्षित नहीं होती, जो नगरोंमें विद्यमान है। गाँवोंमें अभी तक न लोभकी विकट लोलुपता है और न उग्र असंतोषका संघर्ष। वहाँ न शक्तिका भयावह फूत्कार या चीत्कार है और न अशक्तिका आर्त्तनाद। शक्तिका दर्प और निर्बलताकी विवशता, दोनोंमें ग्रीष्मकालके मध्याह्नकी नीरवता है, जब एक ज्वालासे संतप्त होकर पवन तक नहीं डोलती, पत्ते तक नहीं हिलते, पक्षी तक नहीं उड़ते; वहाँ कर्मकी प्रचण्ड आँधी नहीं चलती, वहाँ वेदनाके उष्ण निश्वाससे वायु विक्षिप्त होकर हू-हू करती, धूल और सूखी पत्ती उड़ाती क्षण-भर अंतरिक्षमें उठकर लीन हो जाती है। उसपर कदाचित् कोई दृष्टिपात तक नहीं करता। उससे किसी पथिकको कोई बाधा भी नहीं होती, क्योंकि उसमें आँधीकी वह प्रचण्डता नहीं रहती, जो एक क्षणमें सब कुछ विध्वंस कर देती है। ग्राम-जीवनके भीतर शान्तिकी

जो नीरवता है और विवशताकी जो सहिष्णुता है, उसमें अभी कर्मशक्तिका सर्वथा अभाव है। परन्तु वेदनाके निगूढ़ निश्वास बराबर उठ रहे हैं। कौन कह सकता है कि अनन्त अन्तरिक्षमें चुपचाप विलीन होकर भी उनसे उस अज्ञात मोह-मायाकी सृष्टि नहीं होगी, जिससे संसारका संताप आपसे आप दूर हो जाता है। लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि जब मृत चर्मके निःश्वाससे लोहा भस्म हो जाता है, तब पृथ्वीके विदीर्ण हृदयसे जो उच्छ्वास अनन्त नभोमण्डल तक पहुँच जाते हैं, उनसे क्या किसी अलक्षित शक्तिका हृदय नहीं काँप उठता? यदि यह बात न होती, तो ग्रीष्मके उत्तापके बाद श्याम-घन-घटासे आकाश सहसा आवृत्त न हो जाता और दया-वारिकी दृष्टिसे भूका संताप दूर न हो जाता।

जीवनकी जो यथार्थ स्थिति हैं, उसको साहित्यमें अंकित करनेके लिए सच्ची अनुभूति चाहिए। जनताके सच्चे सुखों और सच्चे दुखोंकी उपेक्षा साहित्यके क्षेत्रमें भी हो रही है। भिन्न-भिन्न वादोंकी चर्चासे विज्ञोंका एक बौद्धिक विहार ही लक्षित होता है। इसीलिए साहित्यमें कलाका जो चमत्कार लक्षित होता है, उसमें यथार्थताका भाव रहता है। अधिकांश कलापूर्ण रचनाओंमें लोक-भावना नहीं रहती। आधुनिक हिन्दी-साहित्यके क्षेत्रमें जिन पुस्तकोंके कारण हलचल होती है, उनमें कोई स्थायित्व नहीं है। बाजीगरके तमाशेकी तरह ऐसे ग्रन्थ अपनी विलक्षणतासे कुछ समय तक कुछ पाठकोंका ध्यान भले ही आकृष्ट कर लें, पर अन्तमें वे तमाशे ही बने रहते हैं। क्या साहित्य और क्या राजनीति, सभीके लिए वर्तमान युग लोक-शिक्षाका ही काल है। देश, समाज और व्यक्तिकी वर्तमान दुरवस्थाके मूलमें अज्ञान ही काम कर रहा है। देशमें नव जागरण-काल लानेके लिए जो भिन्न-भिन्न वाद प्रचलित हो रहे हैं, उनकी सच्ची परीक्षा तभी होती है, जब लोक-शिक्षाके द्वारा लोकमत निर्मित हो जाता है। सच्ची शिक्षाके अभावसे स्वतंत्रताके साथ जो एक क्रान्तिकी भावना आती है, वह उग्र और अशान्ति तथा उच्छृङ्खलता ला देती है। उच्छृङ्खलतासे रूढ़िवादका विध्वंस नहीं होता; किन्तु लोगोंका नैतिक पतन अवश्य हो जाता है। जनतंत्रमें लोक-शिक्षाके लिए लोक-साहित्यका निर्माण ही सबसे अधिक आवश्यक है, जो जनताको कर्मक्षेत्रमें सचमुच प्रेरणा दे सके।

कहा जाता है कि हिन्दी-साहित्यमें नवयुगके अनुकूल नव-साहित्यकी रचना हो रही है। हिन्दीके आधुनिक कलाकारोंको अब अपनी कलाकी विशेषता समझानेके लिए स्वयं प्रयास करना पड़ता है। बात यह है कि आधुनिक साहित्यकारोंमें इतनी अधिक विषमता है और इतना अधिक मत-वैपरीत्य है कि यह कहना कठिन है कि किसमें सचमुच नवयुगकी यथार्थ गरिमा है। यह सच है कि क्रान्ति अथवा विद्रोहने सभी तरुण साहित्यकारोंको एक नई दिशाकी ओर प्रवर्तित कर दिया है। परन्तु उन्हींमें कलाके आदर्शके सम्बन्धमें इतनी क्षिप्र गति है कि पाठक यह समझ ही नहीं पाते कि किन रचनाओंमें नवयुगका नवसंदेश है। अत्यधिक प्रचार, विज्ञापन और आलोचनाएँ होने पर भी जो रचनाएँ नई समझी जाती हैं, वही कुछ ही दिनोंमें पुरानी पड़ जाती हैं। यह भी सच है कि कुछ दिनों तक कुछ लोग धूम मचाकर साहित्य-गगनके नक्षत्र-मण्डलमें ऐसा अक्षय स्थान पा लेते हैं कि फिर उन्हें भू-लोकसे कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। वे विज्ञ जनोंके लिए आलोचना या गवेषणाके साधन हो जाते हैं; जनतासे उनका सम्बन्ध नहीं रह जाता।

कथा-साहित्यको विज्ञ कलाकी सृष्टि मानते हैं। कितने ही तत्वज्ञोंको कथा-साहित्यके प्रति एक तिरस्कारका भाव रहता है। इतिहास, समाज-शास्त्र, विज्ञान, अथवा दर्शन शास्त्रके विषयोंको वे जो महत्ता देते हैं, वह महत्ता वे कथा-साहित्यको नहीं देते। कथा-साहित्य मनोरंजनका साधन माना जाता है, इसी लिए उसमें कलाका सौष्ठव देखा जाता है। कथा-साहित्यके कितने लेखक भी अपनी गणना कलाकारोंमें करते हैं। कोई ऐतिहासिक या वैज्ञानिक या दार्शनिक लेखक अपनेको कलाकार नहीं मानेगा। उनकी रचनाओंको कलापूर्ण कहनेका साहस भी कोई नहीं करेगा। उनकी रचनाओंमें सत्यका निरूपण रहता है, तत्वोंकी विवेचना की जाती है, उनमें सत्यकी समीक्षा और परीक्षा होती है; पर उनमें कलाकी रचना नहीं की जाती। साधारणतया किसी भी कामको सुचारु रूपसे कर डालनेमें एक कला रहती है। इसमें सन्देह नहीं कि एक साधारण कामको भी कोई एक व्यक्ति जितनी सुन्दरतासे करता है, उतनी सुन्दरतासे उसी कामको दूसरा व्यक्ति नहीं करता। हम अपने दैनिक जीवनके कितने ही कामोंमें ऐसी कलाकी अवश्यकताका

अनुभव करते हैं। उसी कलाके कारण हमारे कितने ही काम कष्टप्रद न होकर आनन्दप्रद हो जाते हैं। अँगरेजीके सुप्रसिद्ध लेखक ए० जी० गार्डिनरने जमीन खोदने, घास काटने और लकड़ी चीरनेमें भी कलाका चरम उत्कर्ष देखा है। उनका कथन है कि विचार-शक्तिमें स्फूर्ति लानेके लिए जमीन खोदनेसे बढ़कर कोई दूसरा काम नहीं है। घास काटनेमें श्रम, आनन्दका ऐसा रूप ग्रहण कर लेता है कि मनुष्य उसीमें अपनेको भूल जाता है। लकड़ी चीरना तो कलाकी सच्ची शिक्षा देना है। वह शिक्षा यह है कि किसी भी काममें शक्तिका दुरुपयोग या अपव्यय करनेसे उसका सारा सौन्दर्य ही नष्ट हो जाता है। किसी काममें अधिक फल पानेके लोभसे जितना ही अधिक प्रयास किया जाता है उतना ही अधिक वह बिगड़ जाता है। शक्तिका ऐसा संयम होना चाहिए कि काममें किसी भी प्रकारके प्रयासका अनुभव ही न हो। ऐसा जान पड़े कि काम अनायास हो रहा है, वह आपसे आप अपनी स्वाभाविक गतिसे पूरा हो जाता है। साहित्यमें भी अतिशयोक्ति और अतिरंजनासे कला विकृत हो जाती है। सरल और स्पष्ट विवेचनासे जो प्रभाव पड़ता है, वह शब्दोंकी कृत्रिम छटासे नहीं होता। एक बार किसी सैनिकने युद्ध-क्षेत्रसे एक पत्र भेजा। उस पत्रमें उसने जीवनका सच्चा वर्णन किया था। उस पत्रमें युद्धकी भीषणताका जो चित्र अंकित हो गया था, वह किसी भी कलाकारके द्वारा अंकित नहीं हुआ था। सच्चे भावकी सच्ची अभिव्यक्ति ही साहित्यमें सच्ची कलाका निर्माण करती है। जीवनमें जो सत्य है, वही कलामें सौन्दर्यकी प्रतिष्ठा करता है। जीवनसे बिलकुल पृथक् कर देनेसे कलामें जो सौन्दर्य निर्मित किया जाता है, वह निष्प्राण हो जाता है। तभी कलामें कृत्रिमताका विशेष समावेश होता है। जीवनसे सम्बन्ध होने पर कलाकी सदैव उपयोगिता बनी रहती है।

३

अँगरेजीके एक प्रसिद्ध लेखकने लिखा है कि मनकी विशेष अवस्थाओंमें होरेस वालपोल नामक लेखकके पत्रोंसे एक विशेष आनन्दकी उपलब्धि होती है। उसके पत्रोंमें वक्रोक्ति है, उपहास और तिरस्कार है और सहृदयताका

अभाव है। फिर भी उसकी रचनामें एक ऐसा आकर्षण है कि वह पाठकोंको वशीभूत कर लेता है। उसके पत्र पढ़ते समय पाठकोंको ऐसा जान पड़ता है कि वे किसी अपूर्व देशमें किसी ऐसे सहचरके साथ यात्रा कर रहे हैं, जो उस देशके सभी व्यक्तियोंसे परिचित है, जो सभी स्थानोंको अच्छी तरह देख चुका है और सब कुछ जानता है। उस देशकी कोई भी महत्त्वपूर्ण बात उससे छिपी नहीं है। वालपोलकी रचनामें १८ वीं शताब्दीका जीवन बिलकुल प्रत्यक्ष हो जाता है। उससे तत्कालीन सामाजिक जीवनकी सारी गरिमा और हीनता ज्ञात हो जाती है। पर आधुनिक युगमें कौन ऐसा लेखक है, जिसे हम अपने युगका सच्चा प्रतिनिधि समझें? किस लेखककी रचनाओंमें आधुनिक युगकी सभी विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं? यह तो स्पष्ट है कि आज जो लेखक विशेष लोकप्रिय हैं, वे भविष्य युगके पाठकोंके लिए लोकप्रिय नहीं बने रहेंगे। यह देखा गया है कि अपने जीवन-कालमें जो लेखक सफलता प्राप्त कर लेते हैं, उनकी कीर्त्तिमें स्थायित्व नहीं रहता। काल अपनी गतिके साथ उनके गौरवको भी बहा ले जाता है। अँगरेजीके उक्त लेखकके अनुसार बर्नार्ड शा या एच० जी० वेल्सकी रचनाओंमें गुण-गौरवका वह स्थायित्व नहीं है, जिसके कारण साहित्यमें कोई रचना सभी युगके पाठकोंको चिरन्तन आनन्दकी सामग्री देती रहती है और जो सदैव लोकप्रिय बनी रहती है। आधुनिक हिन्दी-साहित्यकी गतिको देखकर यह निश्चय करना और भी अधिक कठिन हो जाता है कि किस साहित्यकारकी रचनामें आधुनिक युगकी अंतरात्मा लक्षित होती है अथवा किस साहित्यकारकी वाणीमें आधुनिक युगकी ध्वनि गूँजती है।

कहा जाता है कि कथा-साहित्यमें समाजका सच्चा चित्र अंकित किया जाता है। उसमें समाजकी समस्याओंके साथ युगकी गरिमा और हीनता दोनोंका सच्चा प्रदर्शन हो जाता है। उपन्यासमें किसी एक व्यक्तिकी ही जीवन-कथा रहती है। परन्तु व्यक्ति स्वयं एक होकर भी अनेक होता है। बात यह है कि सबसे पृथक् होकर भी व्यक्ति सबके साथ ऐसा सम्बद्ध रहता है कि उसका अपना क्षुद्र जीवन भी समाज या देश या विश्वके विशाल जीवनसे विच्छिन्न नहीं हो सकता। उसके चरित्रके विकासमें उसकी अपनी हीनता या गरिमा रहने पर भी युगकी भावनाएँ कुछ ऐसे अलक्षित ढंगसे काम करती हैं कि

उनकी विशद विवेचना होनेसे व्यक्तिके जीवनमें भी युगकी विशेषता प्रकट हो जाती है। आधुनिक उपन्यासमें आधुनिक युगका प्रभाव लक्षित होना ही चाहिए। आधुनिक युगका यह प्रभाव किसी एक समाज या देशमें ही बद्ध नहीं है। मानव-जीवन अब इतना विस्तृत हो गया है कि सभी स्थानोंमें एक-सी ही समस्याएँ उत्पन्न होने लगी हैं। एक ओर मानव-जीवनकी समस्या है और दूसरी ओर व्यक्तिकी अपनी समस्या है। व्यक्तिकी अपनी विशेष परिस्थिति होती है, अपनी विशेष धारणा और रुचि होती है। वह एकमात्र परिस्थितियोंका दास भी नहीं होता। वह अपनी परिस्थितिका निर्माता भी होता है। अपनी कर्तृत्व-शक्तिके कारण वह विषम परिस्थितियोंसे संघर्ष कर उन्हें अपने अनुकूल बनानेका प्रयत्न करता है। जिसमें वह अपने जीवनकी सफलता समझता है, उसके लिए वह निरन्तर द्वन्द्व करता रहता है। यह द्वन्द्व केवल बहिर्जगत्में ही विद्यमान नहीं रहता, उसके अंतर्जगत्में भी निरन्तर द्वन्द्व होता रहता है। संसार जिसे सफलता समझता है, उसको प्राप्त कर लेनेपर भी व्यक्ति अपने हृदयमें अपने जीवनकी विफलता देखता है। कथाका यथार्थ रस पाठकोंको तभी उपलब्ध होता है, जब वह बहिर्जगत्की घटनाओंके साथ व्यक्तिके अंतर्जगत्की अलक्षित घटनाओंको भी प्रत्यक्ष देखने लगता है। उन दोनोंमें जरा भी अस्वाभाविकता होने पर कथाका रस विलुप्त हो जाता है। व्यक्तिकी उस जीवन-कथामें उस युगकी भावना भी काम करती रहती है। इसलिए पाठकोंके साथ उपन्यासके कल्पित पात्रका भी कुछ ऐसा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है कि वह कल्पित पात्र उनके लिए अपना एक चिर-परिचित सहचर बन जाता है। उसके सुखों और दुखों, दोनोंके साथ पाठकोंकी सहानुभूति होती है। पाठक उपन्यासके नायकके साथ उपन्यासकारके कल्पना-लोकमें विचरण करते हैं। उन्हें ऐसा जान पड़ता है, मानो वे अपने जीवनकी सच्ची घटनाओंको प्रत्यक्ष देख रहे हों।

भारतीय जीवनमें एक ओर आदर्शोंका संघर्ष हो रहा है और दूसरी ओर विषम परिस्थितियोंके कारण एक विवशता-सी आ गई है। जीवनमें आर्थिक स्थितिके कारण जो हीनता आ गई है, उससे सदाचारका भी लोप हो रहा है। लोग शारीरिक अभावोंसे इतने अधिक त्रस्त होते जा रहे हैं कि मानसिक

अभावोंकी ओर उनका उपेक्षा-भाव हो रहा है। बुभुक्षित कौन पाप नहीं करता ? इसीलिए विज्ञोंके द्वारा यह प्रश्न उठाया जा रहा है कि बौद्धिक स्वतंत्रता और नैतिक गौरव खोकर यदि हम रोटी-कपड़ा पाकर संतुष्ट हो जाते हैं, तो क्या हम उसे अपनी उन्नति कहेंगे ? यह तो अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अपनी आर्थिक हीनताके कारण जनतामें असंतोष और अशान्तिकी उग्र भावना फैलती जा रही है। स्वतंत्रताकी प्राप्तिके बाद भी यह कहा जाता है कि भारतमें साधारण जनको सुखी और संतुष्ट बनाकर ही सच्ची स्वतंत्रताकी रक्षा की जा सकती है। कुछ विज्ञोंका कथन है कि भारत जैसे नंगे-भूखे देशमें विचार और आत्माकी स्वतंत्रताका अर्थ ही क्या हो सकता है ? अर्थकी इसी समस्याके साथ धर्मकी भी एक समस्या उत्पन्न हो गई है। भारतीय जीवनमें धार्मिक संस्कारोंके कारण समाजमें नीतिकी जो एक मर्यादा थी, उसपर अब कठोर आघात हो रहा है। यह सच है कि जनताकी नैतिक धारणके विरुद्ध जो यह आन्दोलन प्रारम्भ हुआ है, वह एक विशिष्ट वर्गमें ही बद्ध है। सर्वसाधारणके जीवनमें नीतिकी वही मर्यादा अभी तक काम कर रही है। शिक्षित समाजमें नैतिक बन्धनोंकी शिथिलताके कारण जो एक कृत्रिमता प्रकट हो रही है, वह उच्छृङ्खलताके रूपमें गौरव भी प्राप्त करने लगी है।

हिन्दीके आधुनिक उपन्यासोंमें आदर्शोंके संघर्षोंकी यह चर्चा स्वाभाविक है; परन्तु यह सच है कि कितने ही उपन्यासकार यथार्थवादके नामसे अपने उपन्यासोंमें जिन विभिन्न पात्रोंकी सृष्टि करते हैं, उनमें जीवनकी यथार्थता प्रकट नहीं होती, केवल एक असाधारण मनोवृत्तिका ही परिचय मिलता है। सभी पात्रोंके चरित्रमें असाधारणता ही लक्षित होती है। अधिकांश उपन्यासोंमें परिस्थिति असाधारण होती है, पात्र असाधारण होते हैं और उनके मानसिक भाव भी विलक्षण होते हैं। असाधारणताकी ओर हिन्दीके श्रेष्ठ उपन्यासकारोंका यह अनुराग देखकर ऐसा जान पड़ता है कि जीवनके गौरवके प्रति उनकी कोई निश्चित धारणा नहीं है। यह सच है कि जातिमें जब नैराश्यका भाव फैल जाता है, तब उससे जातिमें निश्चेष्टता आ जाती है। व्यक्तिमें नैराश्यके भावसे गौरवके प्रति विरक्ति हो जाती है। इसी विरक्तिके कारण प्रचलित व्यवस्थाके प्रति असहिष्णुताके साथ विद्रोहका भी भाव उत्पन्न

होता है। तब अपनी विषम परिस्थितिके कारण समाजके विरुद्ध संघर्षके भावसे तरुणोंकी उच्छृङ्खलता और उद्दण्डतामें भी शक्तिकी स्फूर्ति प्रकट होती है। परिणामकी ओर ध्यान न देकर तत्काल कुछ भी कर डालनेकी यह प्रवृत्ति अस्वाभाविक नहीं है। पतनके भी पथको स्वेच्छासे स्वीकार कर तरुण अपने दुस्साहसका परिचय देता है। उसमें एक महत्त्वाकांक्षा भी काम करती है। अज्ञेयजीके 'शेखर'में विद्रोहकी जो भावना है, उसमें महत्त्वकी आकांक्षा भी है। उसमें कामुकताकी हीनता नहीं है। परन्तु हिन्दीके कुछ कलाकार ऐसे स्त्रैण पात्रोंकी सृष्टि करने लगे हैं, जिनमें कामुकताकी हीन वासनाओंमें भी एक गौरवकी कल्पना कर विद्रोहकी सार्थकता समझी जाती है।

पंडित भगवतीप्रसादजी वाजपेयी हिन्दीके यशस्वी कलाकार हैं। उनके उपन्यासोंकी प्रशंसा विज्ञों तकने की है। उनकी रचनाएँ लोकप्रिय भी हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उनमें एक कथाकारकी कला-कुशलता है। उन्होंने अभी तक कितने ही उपन्यास लिखे हैं। 'चलते-चलते' नामक उपन्यास उनकी नवीनतम कृति है। हिन्दीके कथा-साहित्यमें सुधार-युगके बाद क्रान्तियुग आया और क्रान्ति-युगके बाद प्रगतियुग। इन युगोंकी स्पष्ट छाया उनकी कृतियोंमें विद्यमान है। उनपर विदेशी कलाकारोंका प्रभाव नहीं पड़ा है। उन्होंने हिन्दीके ही मौलिक कथाकारोंके पथका अनुसरण किया है। जब उपन्यास-जगत्में किसी भी विचारधाराका प्रचार हुआ है, तब उसके अनुकूल ही उन्होंने उपन्यासकी रचना की है। उनकी अपनी शैली है, उनकी अपनी मौलिकता है; पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उनकी अपनी विचार-धारा है। प्रगतिवाद या यथार्थवादके नामसे हिन्दीके उपन्यासोंमें जैसे पात्रोंकी सृष्टि की जा रही है, वैसे ही पात्र 'चलते-चलते' नामक उपन्यासमें भी निर्मित हुए है। यह सच है कि 'चलते-चलते' उपन्यासका नायक राजेन्द्र अज्ञेयजीका शेखर नहीं है। परन्तु कितनी ही बातोंमें वह शेखरका अनुकरण अवश्य करता है। अँगरेजी शब्दोंके प्रयोगमें वह शेखरसे कम नहीं है। शेखरकी तरह उसमें अँगरेजीके प्रसिद्ध लेखकोंकी उक्तियोंका उद्धरण करनेकी ओर प्रवृत्ति भी है। शेखरकी तरह वह चिन्तनशील भी है। वह अपने ही मनोभावोंका विश्लेषण करनेमें निरत रहता है। परन्तु यह भी सच है कि उसके चरित्रमें व्यक्तित्वकी वह

दृढ़ता या गरिमा नहीं है, जो शेखरमें है। नारी-जगत्‌में ही उसका गौरव लक्षित होता है।

सारा उपन्यास पढ़ जानेके बाद भी यह समझमें नहीं आता कि उसके जीवनका लक्ष्य क्या है। वह सोचता खूब है, पर उसके सोचनेमें केवल उसकी अहंवृत्तिकी पुष्टि होती है। जीवनकी कोई भी गरिमा उसके चरित्रसे व्यक्त नहीं होती। वह सम्पत्तिशाली है, वह सेकंड क्लासके रिजर्व डिब्बेमें यात्रा करता है। वह अपने सूटकेसकी चर्चा करता है। वह अपने मैनेजर साहब और मुन्शीजीपर निर्भर रहता है। वह चायका शौकीन है। और जब कोई स्त्री अपने स्वामीको चाय पिलाती है, तब वह अपने मनमें यह सोचता है कि ओ सृष्टिकी आदि चिरसंगिनी, एक कप तेरे कोमल हाथोंके स्पर्शसे बनी हुई चायका अधिकारी मैं भी हूँ। वह अपनेको सौन्दर्यद्रष्टा समझता है; क्योंकि राह चलते हुए उसकी दृष्टि रूपकी किसी कोटि विशेषपर स्थिर हो जाती है। वह अपनेको सौंदर्यस्रष्टा भी मानता है। वह सुन्दर प्रतिमाओंके अध्ययनमें इतना आत्मलीन हो जाना चाहता है कि वह अपने आपको ही खो बैठे। अपने किन गुणोंके कारण उसे अत्यधिक प्यार मिला है, इसे वह खुद नहीं समझ पाता और न पाठक ही समझ सकते हैं। पर यह सच है कि एक क्षणमें ही उसकी छोटी भाभीने उसके साथ शिष्टता, आत्मीयता और व्यवस्था प्रकट कर उसको विस्मित कर दिया और वह उसके विकसित, प्रस्फुटित रूप-लावण्यका तरंगित वैभव देखता रहा। एक अमित आभा उसके भीतर-बाहर फैल गई। सारा वातावरण उसके लिए अत्यन्त स्निग्ध, मनोरम और मधुर हो गया। सौन्दर्यके आकर्षणका अनुभव कर वह यह भूल नहीं जाता कि संसारमें कितनी कुरूपता है और वह निरन्तर यह सोचता है कि आजके जगत्‌में ऐसे मनुष्योंका अस्तित्व क्यों है, जो नरके रूपमें कंकाल हैं। जब वह फुटपाथपर लोगोंको आते-जाते देखता है, तब यह सोचता है कि क्या इसमें ऐसा कोई पंछी न होगा, जिसने कभी मेरे साथ उड़नेकी चेष्टा न की हो? जब उसकी भाभीने तरल हासके साथ कहा कि बारातमें किसीने एक बहुत बढ़िया रिकार्ड बजाया था, जिसकी आदिम शब्दावली थी 'हिरना, समझ-समझ बन चरना' तब भाभीका यह कथन उसे काँटा-सा चुभ गया और

उसका सारा दर्प चूर चूर हो गया। वह सोचने लगा, क्या यह सब एक खेल है या एक संपूर्ण नाटकका शुभारम्भ है। कभी-कभी रिवाल्वरकी गोलीकी तरह उसके मुँहसे कोई बात निकल पड़ती थी।

रामलाल उसकी बड़ी भाभीसे प्रेम करता था। उसकी बड़ी भाभीने अपने पतिका दूसरा विवाह इसलिए करवाया कि उसको खुलकर रामलालके साथ विहार करनेका अवसर मिले। स्वयं राजेन्द्र अपने उसी भैयाकी दूसरी स्त्री, छोटी भाभीसे प्रेम करने लगा। उसके भैयाजी रामलालपर विशेष क्रुद्ध हुए और अपनी पहली स्त्री विमलापर भी। परन्तु राजेन्द्र और अपनी द्वितीय पत्नीपर उनका कोई रोष नहीं था। उन्होंने अपनी सम्पत्तिके साथ अपनी द्वितीय पत्नीको भी राजेन्द्रको सौंप दिया, क्योंकि उसके जीवन-कालमें दोनों केवल 'आत्म-मिलन' तक सीमित रहे हैं। इस प्रकार राजेन्द्रकी प्रेम-लीलाका सुखद और शुभ अन्त हुआ। यही इस उपन्यासकी विशेषता है। यदि यही आधुनिक शिक्षित समाजका सच्चा चित्र है, तो जीवनके गौरवपर पाठकोंका विश्वास नहीं रह जाता। समझमें नहीं आता कि हिन्दीके श्रेष्ठ उपन्यासकार भी ऐसे स्त्रैण पात्रोंकी सृष्टि कर कलाकी कौन-सी कुशलता व्यक्त कर रहे हैं और उसके द्वारा वे किस नव आदर्शका प्रचार समाजमें करना चाहते हैं।

४

प्राचीन युग और मध्ययुगमें नायकोंको अपने वीरत्वके लिए प्रेमका पुरस्कार प्राप्त होता था। उस युगकी सभी कथाओंमें यह प्रसिद्ध है कि अपनी नायिकाका प्रेम पानेके लिए, उसके हृदयपर आधिपत्य स्थापित करनेके लिए, नायकको सात समुद्र पारकर किसी दुर्गम स्थानमें जाना पड़ता था। वहाँ वह कितनी ही भीषण स्थितियोंको अतिक्रमण करता था। पथपर उसे कितने ही संकट झेलने पड़ते थे। एकसे एक भयानक शत्रुओंके साथ उसे लड़ना पड़ता था। वह बड़ी कठिनतासे उस दुर्गमें प्रविष्ट होता था, जहाँ राजकन्या किसी भयानक दैत्यके आधिपत्यमें बन्दिनी होकर रहती थी। नायकमें शक्ति और साहस रहने पर भी इतना साधन नहीं रहता था कि वह एकमात्र अपने बलसे उस भयानक दैत्यपर विजय प्राप्त कर सके। परन्तु उसको पराजित

करनेके लिए नायकको कोई अज्ञात शक्ति प्रेरित करती थी। उसी अलक्षित शक्तिकी प्रेरणासे वह दैत्यको सर्वथा पराभूत कर राजकन्याको बन्धनमुक्त करता था। राजकन्या उसके गलेमें जयमाला डाल देती थी और नायक नायिकाको एक विजयी वीरकी तरह प्राप्त कर उसीके साथ अक्षय कीर्ति भी प्राप्त कर लेता था।

आधुनिक युगमें अब कथाओंका दूसरा रूप हो गया है। यह बात नहीं है कि आधुनिक युगमें दैत्य या दानवका अस्तित्व ही नहीं है। किसी न किसी रूपमें सभी समाजोंके भीतर ऐसे नर-पिशाच विद्यमान हैं। पर यह बात सच है कि नायकको अब नायिकासे मिलनेके लिए सात समुद्र पार नहीं करना पड़ता। आधुनिक नायकको अब अपने ग्रामके भीतर बाल-सहचरीके रूपमें नायिका खोजनेकी आवश्यकता भी नहीं पड़ती। ठीक तरुणावस्थामें उसको अपनी छात्रावस्थामें ही नायिकाओंका दर्शन हो जाता है। कभी-कभी छात्रावस्था व्यतीत कर लेनेके बाद भी अध्यापक बनकर कितने ही तरुण अपनी छात्राओंके भीतर नायिकाको पा जाते है। यही कारण है कि कितनी ही कहानियोंमें मास्टरोंने नायकका स्थान ग्रहण कर लिया है। कितने ही नायक मास्टर न होने पर भी मास्टर बन जाते हैं। पर नायिकाका दर्शन दुर्लभ न होनेपर भी नायकको मिलनमें कितनी ही कठिनाइयोंका अनुभव करना पड़ता है। कथाओंका नायक विश्वासकी वह दृढ़ता लेकर दुर्गमें प्रविष्ट होता था कि राजकन्याके समक्ष होते ही वह उसके रूप और गुणपर मुग्ध होकर उसके गलेमें अवश्य जयमाला डाल देगी। पर आधुनिक युगकी नायिकाका मनोभाव इतना सरल नहीं है। उसमें जटिलता है, इसीसे उसका प्रेमभाव स्पष्ट रूपसे ज्ञात नहीं हो सकता। कोई भी नायक दृढ़तापूर्वक यह विश्वास नहीं कर सकता कि वह अपनी नायिकाका सचमुच प्रेमपात्र है। समाजके द्वारा मिलनमें जो बाधा है, उसको अतिक्रमण कर लेने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि नायक और नायिकामें प्रेमका अक्षय सम्बन्ध हो गया। विवाह हो जानेके बाद भी प्रेमकी यही समस्या बनी रहती है। उसीके कारण कितने ही परिवारोंमें गृह-दाह हो जाता है। सच तो यह है कि समाज और जातिसे भी अधिक कठोर बंधन अब विवाह ही निर्मित कर देता है।

इसी लिए प्रेमकी स्वच्छन्द गतिमें विवाह ही सबसे बड़ा बाधक हो जाता है। आधुनिक उपन्यासोंके कितने ही नायकोंको पतिरूपी दैत्यसे ही कपनी नायिकाका उद्धार करना पड़ता है।

आधुनिक प्रगतिशील साहित्यके नायक या तो अविवाहित रहते हैं या विवाह कर लेने पर वे विवाह-बन्धनकी सर्वथा उपेक्षा करते हैं। अधिकांश नायक अपनी प्रेमिकासे विवाह कर लेनेके बाद अपनी प्रेमिकाका प्रेम खो बैठते हैं। 'शेष प्रश्न'में नायकोंकी इस मानसिक स्थितिको शरद बाबूने दर्शाया है। प्रेम मनकी स्वच्छन्द गतिका फल हो गया है। तभी विवाहका बंधन उसके लिए घातक हो जाता है। यही कारण है कि आधुनिक उपन्यासोंकी प्रेम-गाथामें विद्रोह और क्रान्तिकी भावना है। नायकमें धर्मकी भीरुता नहीं है, समाजका दासत्व नहीं है, लोक-लज्जाकी हीनता नहीं है, उसमें दुस्साहसकी प्रचण्डता है, उसमें प्राणोंका आवेग है, शक्तिकी स्फूर्ति और दर्प है और सभी कुछ स्वायत्त कर लेनेकी अदम्य वासना है। आधुनिक प्रगतिशील साहित्यका नायक अपने प्रवृत्तिजन्य भावोंको कृत्रिम नीति या सदाचारके आवरणसे नहीं ढाँकता है। उसके विद्रोहमें उसके व्यक्तित्वका विकास होता है। रवीन्द्र बाबूके संदीपकी तरह उनके लिए कोई विघ्न नहीं है। विघ्नोंसे उन्हें प्रेरणा मिलती है। उनकी कामना प्रचण्ड होती है, उनकी वासना अदम्य होती है। अपनी इसी अदम्य वासनाके कारण स्त्रियाँ आपसे-आप उसकी ओर आकृष्ट होती हैं, क्योंकि उस अदम्य वासनामें ही वे नायककी सच्ची आत्म-शक्तिको देखती है। उसके आगे परम्परागत संस्कारोंके सभी आवरण एक-एक कर छिन्न भिन्न होते चले जाते हैं। अन्तमें प्रकृतिका सच्चा नग्न स्वरूप रह जाता है। स्त्री और पुरुषके बीचमें जो एक आकर्षण है, उसकी यथार्थतामें सन्देह नहीं किया जा सकता। समाज कितने ही तरहके अनुशासन और नियम निर्मित कर उस यथार्थ वस्तुको कृत्रिम आवरणमें छिपाकर रखनेका प्रयत्न करता है; परन्तु जिस समय लोगोंकी यथार्थ प्रकृति सत्यका आह्वान सुनकर जाग उठती है, उस समय वह समाजद्वारा निर्मित सभी तर्क, ज्ञान और नीतिके जालोंको तोड़कर अपने यथार्थ स्थानपर आ खड़ी होती है। उस समय धर्मका कोई भी आदर्श और नीतिकी कोई भी

शृंखला उसे अपने पथपर अग्रसर होनेमें नहीं रोक सकती। आधुनिक प्रगतिशील साहित्यमें संदीपके इसी सिद्धान्तकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है।

यह तो स्पष्ट है कि उपन्यासोंमें नायकके रूपमें किसी एक ही व्यक्तिकी जीवन-कथा वर्णित होती है। संसारमें सभीके लिए अपना व्यक्तिगत जीवन ही यथार्थ होता है। विश्वकी रंगभूमिमें प्रत्येक व्यक्ति नायक होता है। वह क्षुद्र हो या महान्, अपने जीवन-नाटकमें उसीकी महत्ता होती है। अन्य सभी व्यक्ति उसमें गौण होते हैं। उसका जीवन-नाटक सुखान्त हो या दुःखान्त; परन्तु वह उसीके व्यक्तित्वपर आश्रित होता है। व्यक्तिगत सुख-दुखकी लीलाओंके भीतर जब उपन्यासकार जीवनकी चिरन्तन महिमाको प्रदर्शित कर देता है, तभी उन नायकोंके भीतर हम किसी न किसी रूपमें अपने ही चरित्रकी विशेषता पा जाते हैं। कष्ट और विपत्ति, सुख और सम्पत्ति, सभी स्थितियोंमें प्रेम और करुणा, अनुराग और सहानुभूति, उत्साह और धैर्य, सेवा और त्यागके कारण मानव-जीवनका चरम उत्कर्ष प्रकट हो जाता है।

५

मध्यप्रान्तके सुप्रसिद्ध नेता और सेठ गोविन्ददासजीने 'इन्दुमती' नाम देकर जो उपन्यास लिखा है वह कदाचित् हिन्दीका सबसे बड़ा उपन्यास है। इसमें संदेह नहीं कि सेठ गोविन्ददासजीमें अपूर्व रचना-शक्ति है। उन्होंने पहले महाकाव्य लिखा, फिर नाटक लिखे और अब एक बृहत् उपन्यासकी भी रचना कर डाली। राजनीतिके क्षेत्रमें व्यस्त रहनेपर भी साहित्यके क्षेत्रमें उनकी यह अपूर्व रचना-शक्ति देखकर एक बार एक साहित्य-सेवीने विनोदपूर्वक ढंगसे उनकी कलम उठाकर कहा कि मैं जानना चाहता हूँ कि इस कलममें क्या जादू है कि एक ही झटकेसे एक समूचा नाटक तैयार हो जाता है। अब उन्हें यह कहना पड़ेगा कि नाटक ही नहीं, उपन्यास भी निर्मित हो जाता है।

नाटक हो अथवा उपन्यास, दोनोंमें मानव-जीवनकी सच्ची समीक्षा होती है। आधुनिक युगमें सभ्यताके प्रसारसे जीवनमें एक जटिलता आ गई है। भारतवर्षमें अभी तक अधिकांश लोगोंके जीवनमें धर्म और नीतिकी जो

भावना काम कर रही है, उसके विरुद्ध मध्यमवर्गके समाजमें एक असंतोष और विरक्तिका भाव आ गया है। इसमें संदेह नहीं कि समाजमें चाहे जो आदर्श प्रचलित हो और उन आदर्शोंके भीतर नीतिका कैसा भी गौरव हो, एक व्यक्तिके जीवनमें सुप्रवृत्तिके साथ कुप्रवृत्तिका द्वन्द्व युद्ध होता ही रहता है। भिन्न-भिन्न देशोंमें और भिन्न-भिन्न युगोंमें भिन्न-भिन्न सामाजिक तथा नैतिक विधि-विधानोंका प्रचार होनेपर भी मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवनमें अपनी विशेष परिस्थितियोंके वशीभूत होकर अपने समाजकी नैतिक मर्यादाका उल्लंघन कर ही डालता है। रुचि और विश्वास, शक्ति और दुर्बलता, प्रेम और विद्वेष, स्नेह और तिरस्कार, वासना और त्याग, क्रोध और दया आदिके कारण मानव-जीवनमें सदैव एक विलक्षणता और विषमता बनी रहती है। पशुके जीवनमें मनके सीमाबद्ध होनेके कारण एक समता लक्षित होती है। परन्तु मानव-जीवनमें मनके लिए कोई सीमा नहीं है। किसी भी स्थितिमें मन संतुष्ट नहीं होता। एक स्थितिमें जिससे उसको प्रबल अनुराग होता है, उसीके प्रति अन्य स्थितिमें विरक्ति और विद्रोहका भी भाव उतनी ही प्रबलतासे उदित हो जाता है। उपन्यासकार एक व्यक्तिके जीवनकी समीक्षा कर विभिन्न भावोंके उत्थान-पतनके द्वारा मानव-जीवनका सच्चा गौरव प्रदर्शित करनेका प्रयत्न करता है।

सेठ गोविन्ददासजीके 'मानव-मन' नामक नाटकमें मानव-मनकी दुर्बलताका जो सहज और सरस चित्रण हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उसमें उपहास नहीं, उपेक्षा नहीं, तिरस्कार नहीं है। उसमें मनुष्योंकी मानसिक दुर्बलताके प्रति एक गूढ़ सहानुभूतिका भाव है। अन्य लोगोंमें जो दुर्बलता देखकर हम लोग क्रोध तथा घृणा तकका भाव प्रदर्शित करते हैं, उसमें मनकी विषम परिस्थिति-पर हम ध्यान नहीं देते, जिसके कारण उसमें एक विवशता आ जाती है। न जाने किस परिस्थितिमें कौन क्या काम करता है, उसे वही समझ सकता है, जो यथार्थमें द्रष्टा होते हैं। वही अपनी सच्ची सहानुभूतिके कारण हृदयके भीतर प्रविष्ट होकर उसमें निगूढ़ भावका उद्‌घाटन कर सकते हैं।

हिन्दीके अधिकाश उपन्यासोंकी तरह 'इन्दुमती'में हिन्दू समाजकी उन सभी बातोंकी चर्चा की गई है, जिनकी ओर नवीनताके समर्थकोंका ध्यान

जाता है। सहशिक्षाके कारण इसमें भी प्रेमकी वही समस्या है, जिसमें जाति-बन्धनके कारण पिता कन्याके प्रेम-सुखमें बाधक हो जाता है। दैनिक जीवनमें कष्टों और विपत्तियोंके कारण त्याग और सेवाकी जो महिमा व्यक्तिके जीवनमें रहती है, उसके स्थानमें अब देश-सेवा और जेल-यात्रामें जीवनकी गरिमा प्रदर्शित होती है। सच पूछा जाय तो ऐसी स्थितियोंमें महत्त्वाकांक्षा और अहं-वृत्ति ही सच्ची देश-भक्तिको अभिभूत कर देती है। आजकल कितनी ही कहानियोंमें मुसलमानोंमें चरित्रकी जो गरिमा प्रदर्शित की जाती है, वह हिन्दुओंमें नहीं दिखाई जाती। इसमें भी हिन्दू युवकोंकी अपेक्षा एक मुसलमानमें बहिनका एक सच्चा प्रेम-बन्धन हम देखते हैं। इसमें सबसे अपूर्व बात वैज्ञानिक विधिके द्वारा पुत्रोत्पत्तिकी कथा है। जीवनमें सभी तरहकी घटनाएँ होती हैं और संसारमें सभी तरहके लोग रहते हैं। पर कथा-रसकी पुष्टिके लिए पात्रोंमें जो सजीवता चाहिए, वह 'इन्दुमती' में नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि इन्दुमतीमें मध्यम वर्गके लोगोंके बहिर्जीवनका विशद चित्र होने पर भी उनके अन्तर्जीवनका वह सूक्ष्म विश्लेषण नहीं है, जिसके कारण पात्रोंसे हमारी सच्ची सहानुभूति हो जाती है। इन्दु अथवा ललित, अवधविहारीलाल अथवा सुलक्षणा किसीके भी चरित्रमें पाठकोंके लिए वह आकर्षण नहीं है, जो प्रेमचन्दजीके पात्रोंके प्रति अनायास हो जाता जाता है। फिर भी 'इन्दुमती' के रूपमें आधुनिक युगकी एक ऐसी नायिकाका अवश्य निर्माण हुआ है, जिसमें कृत्रिम नारीत्व और मातृत्वका विकास हुआ है। उसीके कारण पाठकोंके हृदयमें यह प्रश्न उठता है कि आधुनिक नारीके जीवनमें गरिमा कहाँ है?

हिंदू-नारीकी जीवन-गरिमाके संबंधमें एक बार एक उच्चकुलकी महिलाने कहा था कि स्त्री जातिकी उन्नतिके लिए आजकल जो देशव्यापी आन्दोलन हो रहा है, उसके मूलमें आधुनिक शिक्षासे संपन्न भारतीय पुरुष-समाजकी ही भावना काम कर रही है। स्त्रियोंकी सच्ची भावना जाननेका प्रयत्न ही नहीं किया जाता। उनकी शिक्षा और कर्त्तव्योंकी नीतिपर पुरुषोंका ही प्रभुत्व रहता है। रवीन्द्र बाबूने अपने 'घर-बाहर' नामक उपन्यासमें स्त्री-जातिकी इसी समस्यापर विचार किया है। आधुनिक उच्चशिक्षाप्राप्त युवकोंकी

तरह 'विमला' के पति 'निखिलेश' भी यही सोचते थे कि स्त्री-पुरुषको एक दूसरेपर समान अधिकार है क्योंकि उनके प्रेमका संबन्ध बराबर है। भारतीय नारीके हृदयमें जो स्वाभाविक प्रेम होता है, वही विमलाके हृदयमें भी विद्यमान था। इसी लिए वह अपने अधिकारके संबंधमें तो कभी तर्क ही नहीं करती थी; परन्तु उसका मन कहता था कि स्त्रीका प्रेम पतिकी पूजा करके ही पूजित होता है, नहीं तो उसे तुच्छ समझना चाहिए।

हिन्दू नारीका प्रेम प्रदीप जब प्रदीप्त होता है, तब उसकी उज्ज्वल शिखा ऊपर ही उठती है। वह स्वयं उन्नत होकर सारे संसारमें उज्ज्वलता फैलाती है। विमला एक भारतीय हिन्दू नारीकी तरह अपना अधिकार जानती थी। घरमें उसका योग्य आसन कहाँ है, इसे वह अच्छी तरह समझती थी। इसीलिए वह स्वामीके कहने पर भी अपने गृहस्वामिनीके अधिकारोंको अपनी जिठानियोंको नहीं सौंपना चाहती थी। वह यह बात अच्छी तरह अनुभव करती थी कि पुरुष घरकी बातें अच्छी तरह नहीं समझ सकते। उन्हें तो बाहरकी बैठकसे मतलब रहता है। घरके भीतर अन्नपूर्णा अथवा गृहलक्ष्मीके द्वारा प्रेम, उदारता, त्याग और सेवाके रससे पूर्ण जो अमर ज्योति प्रज्ज्वलित होती है, उसका सच्चा अर्थ वे समझ ही नहीं सकते।

आज संसारके कार्यक्षेत्रमें स्त्री-जातिका आह्वान कर पुरुष-जाति क्या सचमुच अपनी क्षमताकी वृद्धि कर रही है? क्या बाहर ही यह सब कुछ है, भीतर कुछ नहीं है? क्या कौंसिल, अदालत, अस्पताल, स्कूल या कारखानोंमें ही ही नारीकी यथार्थ कार्यकारिणी क्षमता पुरुषके साथ प्रकट होगी अथवा इन्हीं अधिकारोंके लिए उसे पुरुषसे लड़ना होगा? क्या संसारके बाह्य कार्य-क्षेत्रमें स्वतंत्रतापूर्वक पुरुषोंके साथ काम करनेका अधिकार पाकर नारी-जाति गौरवके उच्च शिखरपर पहुँच जाएगी? यह सच है कि समाज तभी उन्नत बन सकता है, जब स्त्री और पुरुष दोनोंके द्वारा उस समाजकी रचना होती है। नारीके बिना समाजकी सुव्यवस्था हो ही नहीं सकती। एकमात्र नारी ही समाजको अपनी सुव्यवस्थासे स्वर्ग बना सकती है। परन्तु वर्तमान कालमें समाजकी जो नव रचना हो रही है, उसमें क्या नारीके हृदयकी सच्ची

भावना काम कर रही है ? स्त्री-शिक्षाके नामसे जिस शिक्षाका प्रचार हो रहा है, उसे सीखकर वर्तमान कालकी नारी तो मेरी समझमें अच्छी तरह गृह-प्रबंध ही नहीं कर सकती। तब समाजका प्रबन्ध उससे क्या होगा। फैशनके नामसे सजावटकी ओर आधुनिक कालकी श्रीमतियोंको इतना अधिक अनुराग हो गया है कि उन्हें उसीसे छुट्टी नहीं मिलती।

एक कविने कहा है कि स्त्री-शिक्षा आवश्यक तो है, पर शिक्षाप्राप्त कन्याएँ गृहदेवियाँ बनें, फैशनसे लोगोंको मुग्ध करनेवाली परियाँ न बनें। उन्नतिके इस युगमें स्त्री जातिके सुधारके लिए कितनी ही ऐसी बातें की जा रही हैं; जिनमें आडंबरकी ही मात्रा अधिक है। अपने कर्त्तव्योंको भूलकर यदि स्त्रियाँ केवल प्रदर्शनमें, फिर वह चाहे विद्याका प्रदर्शन हो या रूपका, फँस गईं तो पुरुष-समाजका कल्याण हो गया! क्योंकि पुरुष तो उन्हें खिलौने ही बनाकर रखना चहते हैं। मातृत्वके कारण स्त्री स्नेह और सेवाका जो सदन निर्मित करती है, उसमें पुरुषोंकी उत्तरदायित्वहीन स्वच्छन्दताके लिए स्थान नहीं रहता। स्त्री कभी स्वच्छन्दता नहीं चाहती, वह प्रेमका बन्धन चाहती है। पुरुषोंकी प्रेरणासे स्वतंत्रताके वर्तमान आन्दोलनमें नारी स्वच्छंदताकी ओर बढ़ रही है। वह योरपकी रीति-नीतिको अपना रही है। उसीके कारण अब भारतवर्षमें तलाक-प्रथाके लिए भी आन्दोलन होने लगा है। पाश्चात्य देशोंमें यह प्रथा प्रचलित है। परन्तु मैं यह जानना चाहता हूँ कि क्या वहाँ दाम्पत्य जीवन उसके कारण सुखमय हो गया है ? भारतवर्षमें सती-धर्मका जो गौरव है, वह अन्यत्र नहीं है। उसीकी रक्षाके लिए हिन्दू नारियोंने प्रेमका उच्चतम आदर्श उपस्थित कर दिया। यह कहना कि एकमात्र समाजके डरसे हिन्दू स्त्रियाँ सती-धर्मकी रक्षा कर रही हैं, सर्वथा अनुचित होगा।

६

हमारे देशमें स्त्री-शिक्षा अभी तक एक बड़ी समस्याके रूपमें है। रवीन्द्र बाबू, शरद् बाबू और प्रेमचंदजीकी रचनाओंमें पारिवारिक जीवनके जो चित्र अंकित हुए हैं, उनमें आधुनिक शिक्षाके कुफल ही प्रदर्शित हुए हैं। उनकी अधिकांश शिक्षित नायिकाएँ अशिक्षित स्त्रियोंकी तुलनामें अपना यथार्थ गौरव

खो चुकी हैं। ऐसी शिक्षित महिलाओंके द्वारा परिवारमें सुख और शांतिकी व्यवस्था नहीं हो सकी है। आधुनिक शिक्षाने उनके जीवनमें एक ऐसी कृत्रिमता ला दी है, जिससे वे स्नेह और सद्भाव भी खो बैठी हैं। इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक शिक्षाकी ओर अधिकांश स्त्रियोंका अनुराग नहीं है। अपने प्राचीन धार्मिक संस्कारोंके कारण कितनी ही स्त्रियोंके हृदयमें शिक्षाके विरुद्ध एक विद्रोहका भाव भी है। वे समझती है कि ऐसी शिक्षा पाकर वे अपने नारी-धर्मसे ही विमुख हो जायँगी। शिक्षित महिलाओंके आचरणके सम्बन्धमें भी अशिक्षित महिलाओंका एक संदेह-भाव है।

शिक्षाके प्रति भारतीय समाजके स्त्रीवर्गका यह संदेह-भाव उपेक्षणीय नहीं है। स्त्री-शिक्षाके नामसे अभी तक जो कुछ किया गया है, उसका फल देखनेसे यही प्रतीत होता है कि यह शिक्षा स्त्रियोंके लिए विशेष लाभप्रद नहीं है। यह सच है कि पढ़-लिखकर कुछ स्त्रियाँ अध्यापिकाएँ हो गई हैं, कुछ अस्पतालोंमें काम करने लग गई हैं और दो-चार स्त्रियोंने संसारके अन्य क्षेत्रोंमें गौरव भी प्राप्त कर लिया है। पर अधिकांश स्त्रियोंके लिए इस शिक्षाका कोई भी मूल्य नहीं है। उच्च शिक्षा साधारण स्थितिकी स्त्रियोंके लिए कठिन भी है। ग्रामीण जनताने तो अभी इस शिक्षाको अपने बालकोंके लिए भी भाररूप समझ लिया है। किसी भी ग्रामीणके हृदयमें इस शिक्षाके लिए सच्ची लालसा नहीं होती। यही कारण है कि जिन ग्रामीणोंने पाँच-छः साल परिश्रमकर इस शिक्षाको प्राप्त भी किया, उसको भूल जानेमें उन्हें अधिक समय नहीं लगता। यही बात नगरकी स्त्रियोंकी शिक्षाके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। जिन नगरोंमें कन्याओंके लिए पाठशालाएँ हैं, वहाँ लड़कियाँ पाँच छः साल तक जो कुछ सीख लेती हैं, उसे विवाहके बाद भूल जानेमें उन्हें किसी भी प्रकारका अनुताप नहीं होता। सच्ची बात यह है कि समाजकी जो स्थिति है, उसके अनुकूल शिक्षाकी कोई व्यवस्था नहीं है।

तत्त्वदर्शियोंके लिए ज्ञान बड़ी प्रबल वस्तु है। उसीके द्वारा मानव-जीवनका सच्चा कल्याण होता है और आनंदकी भी वृद्धि होती है। उसीसे हमें अपने जीवनकी सार्थकता ज्ञात होती है। ज्ञानके कारण मनुष्य-समाज पशु-जगत्से भिन्न होकर अपनी सभ्यताका उच्चतम विकास कर लेता है। आजतक मानव-

जातिने जो ज्ञान अर्जित किया है, उसीके कारण वर्तमान सभ्यता संभव भी हुई है। ज्ञानकी धारा कितने ही रूपोंमें समाजके जीवनके भीतर बहती रहती है। भाषा और साहित्य, कला और उद्योग, धर्म और नीति सभीके द्वारा ज्ञान जनताके जीवनमें प्रकट होकर उसकी कर्तृत्व-शक्तिको विकसित करता है, तभी मानव जातिकी उन्नति होती है। समाजके द्वारा जो आदर्श स्वीकृत होते हैं, उनमें जीवनकी उच्चतम स्थिति रहती है। उन्हींसे जीवनमें एक गौरव आता है। शिक्षाके द्वारा वही आदर्श छोटे-बड़े सभी लोगोंको कार्योंमें प्रेरणा देते हैं। शिक्षाका उद्देश्य मानसिक शक्तिका विकास होता है, जिससे लोगोंकी कार्य-क्षमतामें वृद्धि होती है। तभी लोग अपने जीवनमें हीनताका अनुभव नहीं करते।

स्त्रियोंके लिए रूपका जो सौंदर्य या लावण्य वरदानके रूपमें है, वही उनके जीवनमें अभिशाप हो जाता है। रूपमें उनकी शक्ति है और दुर्बलता भी। अपने रूपके कारण वे पुरुषोंको खिलौना बना सकती हैं, उनके शांत और सुखमय जीवनमें वासनाकी ऐसी प्रचंड ज्वाला उद्दीप्त कर सकती हैं, जिसमें पतंगोंकी तरह जलकर भी पुरुष अपना जीवन सार्थक समझता है। पुरुषोंकी वासनामें सौन्दर्यके प्रति जो एक तीव्र लालसा है, उसमें सदैव अतृप्ति रहती है। वासना एक बार उद्दीप्त होकर फिर नहीं बुझती। सारी इच्छाएँ और सारी चेष्टाएँ उसीमें जाकर लीन हो जाती हैं। वासनामें पड़कर लोग धर्म, विवेक, ज्ञान और गौरव भूल जाते हैं। इसी लिए शिक्षामें सबसे पहले सदाचार और संयमकी विशेष आवश्यकता मानी जाती है।

आधुनिक युगमें संघर्ष बढ़ जानेके कारण जीवन-निर्वाहकी चिन्ता सभीको होती है। परन्तु उच्च वर्ग अथवा मध्यम वर्गके लोगोंके लिए अभी स्त्री-शिक्षा खिलोनेकी तरह मनबहलावकी चीज हो गई है। कुछके लिए वह एक गहनेकी तरह शोभाकी वस्तु है। जैसे बहुमूल्य गहने पहनकर कुछ स्त्रियाँ नारी-समाजके भीतर गर्व कर सकती हैं, उसी तरह कुछ स्त्रियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त कर अशिक्षित स्त्रियोंके बीचमें एक विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेती हैं। परन्तु जीवनमें उस शिक्षाके द्वारा उनको कोई विशेष लाभ नहीं होता। मध्यवर्गके कितने ही परिवारोंमें लड़कियोंको तभी तक शिक्षा दी जाती है, जब तक उनका विवाह

नहीं हो जाता है। विवाहके लिए जैसे दहेजकी आवश्यकता समझी जाती है, वैसे ही शिक्षाकी। शिक्षित-जन कमसे कम अपने लिए ऐसी वधू चाहते हैं जिसने कमसे कम मेट्रिकुलेशनकी परीक्षा पास कर ली हो। ज्यों ही विवाह हुआ त्यों ही शिक्षाका ध्येय समाप्त हो जाता है।

निम्न श्रेणीके सभी व्यक्ति अपने परिश्रमपर निर्भर रहते हैं। स्त्री और पुरुष दोनोंको जीवन-निर्वाहके लिए काम करना पड़ता है। खेतमें पुरुष काम करते हैं और उनकी स्त्रियाँ भी। नगरमें पुरुष मजदूरी करते हैं और उनकी स्त्रियाँ भी। इस वर्गकी स्त्रियोंको न तो श्रमका महत्त्व सिखलाना है और स्वावलंबकी शिक्षा ही देना है। उन्हें कष्ट तभी होता है, जब अधिकसे अधिक परिश्रम करने पर भी वे अपना जीवन-निर्वाह नहीं कर पातीं। उनमें जो नैतिक पतन होता है, उसका कारण पुरुषोंकी वासना ही है। विलासिताके भावसे प्रेरित होकर लोग उनमें एक ऐसा असंतोष ला देते हैं, जिसके कारण उनका पतन हो जाता है। मध्यम वर्गमें अपनी सामाजिक स्थितिके कारण स्त्रियाँ घरके बाहर जाकर कोई काम नहीं कर सकतीं। उन्हें एकमात्र अपने स्वामियोंपर निर्भर रहना पड़ता है। पुरुष कमाता है और स्त्री घरका प्रबंध करती है। आधुनिक शिक्षाके विरुद्ध सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि शिक्षित स्त्रियोंमें अधिक कृत्रिमता और अधिक विलासिता आ गई है। इसीसे उनकी आवश्यकताएँ खूब बढ़ गई है। ज्यों ज्यों शिक्षाका प्रचार होता जा रहा है, त्यों त्यों कितनी ही निरर्थक चीजें खरीदनेमें अपव्यय होता जा रहा है। इसीके साथ उत्तरदायित्वहीन और कर्त्तव्यशून्य स्वच्छन्दताकी भावना भी बढ़ रही है। पति-पत्नीके भीतर सच्चे स्नेह और सेवाका भाव लुप्त होता जा रहा है। आधुनिक शिक्षा ही स्त्रियोंमें असंतोषकी भावना ला देती है। विलासकी लालसा और वासनाकी स्वच्छन्दताके कारण नीतिकी मर्यादा नष्ट हो रही है। संयम, सेवा, सहिष्णुता और सदाचारका अभाव नारी-चरित्रमें स्पष्ट रूपसे लक्षित हो रहा है। यही कारण है कि आधुनिक शिक्षाके प्रति एक संशयका भाव आ जाता है। आजकल आधुनिक साहित्यके उपन्यासोंमें प्रेमकी जो समस्याएँ हैं, उनके मूलमें भी आधुनिक शिक्षाका प्रभाव काम कर रहा है। अतएव नारी जातिको उनके जीवनके अनुकूल ऐसी शिक्षाकी आवश्यकता है, जिससे वे रंगभूमिकी नायिकाएँ न बनकर सच्ची माताएँ और बहिनें बनें।

मनुष्यके रूप

१

क्रान्तिके युगमें धर्मका संबंध अन्ध-विश्वास, रूढ़िवाद और कुसंस्कारोंसे ऐसा दृढ़ हो गया है कि अब सहसा कोई यह नहीं मानता कि धर्मका पथ कल्याणका पथ हो सकता है। आधुनिक साहित्य और शिक्षामें अब धर्मका स्थान लुप्त हो रहा है। अन्य देशोंमें धर्मकी भावना एक मत या मजहबके रूपमें अवरुद्ध हो गई है; परन्तु भारतीय सभ्यतामें धर्मका इतना व्यापक रूप है कि उसने संपूर्ण जीवनको ही आच्छन्न कर दिया है। यहाँ धर्म आचार-धर्म है। विश्वासमें स्वतंत्र रहकर भी भारतीय आचारके धर्म-बंधनको स्वीकार करते आये हैं। नीति और न्यायकी व्यवस्थामें भी धर्मकी ही भावना काम कर रही है। समाजमें सेवा और त्याग, सत्य और अहिंसा, प्रेम और सहिष्णुता आदिके भाव आचार-धर्मके भीतर ही विद्यमान हैं। इसी भावनाके कारण यहाँ कर्त्तव्य और अधिकारमें कभी संघर्ष नहीं हुआ है। धर्म ही कर्त्तव्य माना गया है। उसके लिए अन्य किसी अधिकारकी आवश्यकता ही नहीं है। जो अधर्म है, वही अकर्त्तव्य है। विश्वासकी इसी दृढ़ताके कारण यहाँ समाजकी नीति-व्यवस्था भी दृढ़ थी। इसीसे भिन्न-भिन्न मतोंमें वैपरीत्य या विरोध होने पर भी सामाजिक नीति या मर्यादाका उल्लंघन नहीं होता था।

धर्मकी यह भावना अभी तक सर्वथा विलुप्त नहीं हुई है। ग्रामोंमें अभी तक वह एक शक्ति है। उसीके कारण ग्रामीणोंमें जितनी अधिक न्याय-निष्ठा और कर्त्तव्यपरायणता है, उतनी नगरके सुशिक्षित निवासियोंमें नहीं। महात्मा गाँधीका विश्वास था कि पंचायत-राज अथवा रामराज्य उस लोकतन्त्रको कहते हैं, जिनके मुख्य लक्षण हैं—सुखी, समृद्ध और स्वावलम्बी देहात और

देहाती प्रजा, जिसमें गरीब और अमीर, स्त्री और पुरुष, गोरे और काले सब हैं, जिसमें जाति या मजहबके कारण असमता मिट गई है, जिसमें सब जमीन और सत्ता जनताके हाथमें है, न्याय शीघ्र, शुद्ध और सस्ता है, उपासना, वाणी और लेखनीकी स्वतंत्रता है और इन सबका आधार है स्वेच्छासे संयम और धर्मका पालन। धर्मकी भावना सभी स्थितियोंमें आवश्यक है। स्वेच्छासे अनुशासनके रूपमें जो ग्रहण किया जाता है, वही संयम होता है। इन दोनोंमें एक अन्तःप्रेरणा काम करती है।

राजनीति और धर्मनीतिमें भेद यही है कि एकमें बहिःप्रेरणा होती है और दूसरीमें अन्तःप्रेरणा। राजनीतिके क्षेत्रमें जो कर्त्तव्य और अधिकार स्वीकृत होते हैं, उनमें शक्तिका ही प्रभुत्व होता है। यदि उसमें सुप्रवृत्तियोंका अभाव हुआ, तो उसके द्वारा अनर्थ ही होता है। प्रेमचन्दजीके 'पंच-परमेश्वर'में जो न्याय-निष्ठा है, उसका कारण उनके अन्तःकरणकी धार्मिक भावना है। यह भावना किसी विशेष मत या संप्रदायमें बद्ध नहीं रहती है। यह उन सुप्रवृत्तियोंका परिणाम है, जिनके कारण मानवीय सभ्यताका विकास हुआ। तभी तो स्वार्थोंके त्यागमें भी हम अपना लाभ समझते हैं और एकमात्र स्वार्थकी सिद्धिमें एक हीनताका अनुभव करते हैं।

संसारके कर्म-क्षेत्रमें न तो धर्मकी जय देखी जाती है और न सुकर्मोंका सुफल ही। फिर भी हम अन्तःकरणमें धर्मकी विजयको ही स्वीकार करते हैं और सुकर्मोंकी महिमाको मानते हैं। जीवनकी सभी स्थितियोंमें धर्मकी यह महत्ता किसी न किसी रूपमें काम करती है। यह सच है कि इसी धार्मिक भावनाको पुष्ट करनेके लिए महात्माओंके द्वारा कोई विशेष पथ निर्दिष्ट किया जाता है। भिन्न-भिन्न महात्माओंके द्वारा जो भिन्न-भिन्न पथ निर्दिष्ट हुए हैं, उन सभीका उद्देश समस्त मानव-जातिका सच्चा अभ्युदय ही है। सभीने विश्व-प्रेम और विश्व-मैत्रीका ही उपदेश दिया है। सभीने मनुष्योंकी कुत्सित प्रवृत्तियोंको विनष्ट कर सुप्रवृत्तियोंके विकासके लिए ही प्रयास किया है। परन्तु उन्हींके द्वारा विभिन्न संप्रदायोंकी सृष्टि हो गई और उनमें विरोध भी उत्पन्न हो गया। भावको तिरस्कृत कर क्रियाको महत्ता देनेसे एक संकीर्णता और अनुदारता आ जाती है। संप्रदायोंके द्वारा मानव-समाज

छोटे-छोटे दलोंमें विभक्त हो जाता है, तो भी जनताके हृदयमें धर्मके लिए आकांक्षा सदैव विद्यमान रहती है। न्याय और नीतिमें वह सदैव गरिमाका ही अनुभव करती है। जनताकी इसी भावनापर समाजकी सच्ची उन्नति निर्भर है। इस भावनाको समुन्नत करनेका सबसे अच्छा साधन साहित्य है। प्राचीन कालसे लेकर अभी तक जो श्रेष्ठ ग्रन्थ निर्मित हुए हैं, उन सभीमें सत् और असत्की विवेचना कर जीवनका यथार्थ गौरव प्रदर्शित किया गया है।

संसारमें दुःख है, दरिद्रता है और दुराचार है; परन्तु उनसे मानव-जीवनकी विकृत अवस्था ही सूचित होती है। शारीरिक रोगोंकी तरह ये विकार जीवनकी सच्ची दशाके सूचक नहीं हैं। रोग उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। रोगोंका कभी विनाश भी नहीं होता, परन्तु रोगोंमें जीवनकी यथार्थता नहीं है। इसी प्रसार जीवनमें पापोंकी प्रबलता रहती है, अत्याचार और उत्पीड़न भी होते रहते हैं; परन्तु उनके कारण जीवनकी महिमा नष्ट नहीं होती। सभी कष्टों और वेदनाओंके भीतर हम जीवनकी महिमा पाते हैं, नैराश्यके अन्धकारमें भी आशा-ज्योति देखते हैं। विषम परिस्थितियोंकी कटुतामें भी हम स्नेह और सेवाकी मधुरताका अनुभव करते हैं। उन्हींसे यह प्रकट होता है कि धर्मकी महिमा है। धर्मकी प्रचण्ड शक्तिसे सभी दोष नष्ट हो जाते हैं। 'वेल्स' साहबने अपने इतिहासमें लिखा है कि जो लोग यह समझते हैं कि धर्म और विज्ञानमें विरोध है, वे भ्रममें हैं। अन्तःकरणकी भावनासे धर्मने जिस सत्यका प्रतिपादन किया है, उसीको इतिहास और विज्ञान भी सिद्ध कर रहे हैं। वह सत्य यह है कि सभी मनुष्योंका एक ही परिवार है, उन सबका मूल एक ही है। उनका व्यक्तिगत जीवन सामाजिक जीवन और राष्ट्रीय जीवन सभी मिलकर मानव-जीवनके अन्तर्गत हो जाते हैं। मानव-धर्मके उस राज्यमें न तो धनका वैभव है, न शक्तिका अहंकार है और न स्वार्थोंका विकट संघर्ष है। वहाँ केवल प्रेमका राज्य है। वही एक विश्व-धर्म है। कोई भी संप्रदाय उस विश्व-धर्मका विरोध नहीं करता। वही धर्म विश्व-साहित्यमें स्थान पाता है और उसके द्वारा लोक-कल्याणका सुपथ निश्चित होता है।

२

आधुनिक उपन्यासोंमें केवल दो उपन्यासोंने मुझे प्रभावित किया। एक है अज्ञेयजीका 'शेखर' और दूसरा है भगवतीचरणजी वर्माका 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते'। हिन्दीमें शेखर अवश्य समाजके विरुद्ध विद्रोह करता और व्यक्तिके लिए पूरे-पूरे अधिकार चाहता है। उसका कथन है कि साहित्यमें लेखक नैतिकताका प्रपंच खड़ा करता है। वह पातिव्रतको गुलामी समझता है, भले ही वह सहर्ष स्वीकार की हुई गुलामी हो, जिसके द्वारा स्त्री अपनेको अपने पतिके अधीन करती है। इसीको वह नारी-जातिका पतन समझता है। यही उसके लिए सबसे बड़ा पाप है। उसने एक जगह चार सुधारकोंकी कहानी अपने मित्रको सुनाई। एक सुधारकने समाजकी बुराइयाँ बताकर कहा कि समाजको मिटा देना चाहिए। दूसरेने संशोधन किया कि समाज तो तब बिगड़ता है, जब धर्मारूढ होता है, इसलिए धर्म ही कुल बुराइयोंकी जड़ है और उसीको मेटना चाहिए। तीसरेने कहा, धर्म तो केवल संस्कृतिका आदर्श नियम होता है। अगर संस्कृति खराब होगी, तो धर्म ठीक कैसे हो सकता है। इसलिए संस्कृति ही गलत चीज है। अन्तमें वे सुधारक इस नतीजेपर पहुँचे कि मानव जहाँ आगे बढ़ना चाहेगा, वहाँ संस्कृति तो होगी, इसलिए मानव-जाति ही मूल अपराधी है और उसे मटियामेट कर देना चाहिए। शेखरने विद्रोहका यह भाव किसीसे पाया नहीं, वह जन्मसे ही विद्रोही है। उसका विश्वास है कि विद्रोही बनते नहीं, उत्पन्न होते हैं। विद्रोह-बुद्धि आत्माका कृत्रिम परिवेष्टन नहीं है, उसका अभिन्नतम अंग है। यह विद्रोह किसी विशेष दुर्व्यवस्थाके लिए नहीं है। विद्रोही सभी कुछ बदलना चाहते हैं। उनकी विद्रोह-प्रेरणा धर्मके, समाजके, राजसत्ताके, अर्थसत्ताके और अन्तमें अपने व्यक्तित्वके प्रति भी विद्रोह लाती है। शेखर बाल्य-कालसे विद्रोही रहा। माँसे तो उसे घृणा हो गई थी। छात्रावस्थामें भी वह विद्रोही ही रहा। शिक्षा समाप्त कर लेनेके बाद उसने अपने पितासे कहा कि मैं तो सिक्योर होना नहीं चाहता। चैनकी जिन्दगी, आश्वासनका भाव, जोखिमकी अनुपस्थिति यही तो

धुन है, जो जीवनकी शक्तिको खा जाता है। मैं चाहता हूँ, निरंतर आशंका और जोखिमका वातावरण, ताकि मैं ही हर समय लड़नेको बाध्य रहूँ, अपने हाथसे तोड़कर नष्ट करूँ, और अपने ही हाथसे फिर नये सिरेसे बनाऊँ। वह भटकता फिरता है, जेल जाता है और गद्य-पद्यकी चिन्ता न कर वही लिखा करता है, जो उसके मनमें हो रहा है। सर्जनका सुख न होनेपर भी उसे परिश्रमका सन्तोष होता है। पर वह अपने जीवनका लक्ष्य नहीं देख पाता। अपनी उद्देश्यहीनतामें वह बुझ जानेकी माँगका अनुभव करने लगा और एक दिन उसने आत्महत्याके उपायकी खोज की। तब उसके जीवनमें शशि आई और आकर उसको स्वेच्छासे अपने आप दे दिया, अपनेका, इहका संकल्प कर दिया, आहुति दे दी। अपनेको मिटानेमें शशिने कंजूसी नहीं की। इसके बाद वह पतिसे परित्यक्ता हो लौट आई। पतिने उसको भ्रष्टा, पापाचारिणी कहकर निकाल दिया, क्योंकि वह रात भर शेखरके यहाँ रही। कलंकका भार लेकर शशि शेखरके साथ रहने लगी। अभी तक शेखरने लड़नेको ही स्वयं साध्य माना था। वह अपनी विद्रोही शक्तिको व्यर्थ बिखेरता आ रहा था, पर शशिको पाकर वह शशिके लिए लड़ने लगा। किन्तु शशिकी मृत्यु हो गई, तो भी शशि उसके लिए चिरंतन प्रेरणा बनी रही।

शेखरकी कथा संक्षेपमें यही है। उसके बहिर्जगत्की घटनाओंमें विशेष रोचकता नहीं है। उसने बहिर्जगत्में विद्रोह किया, क्रांति की, पकड़ा गया और उसे फाँसीकी सजा हो गई। बहिर्जगत्में उसने ऐसा कोई गौरव प्राप्त नहीं किया, जिससे हम उसको किसी प्रकारकी प्रतिष्ठा दे सकें। शेखरकी महत्ता उसके बहिर्जगत्में नहीं, अन्तर्जगत्में है। इसीसे शेखरकी कथाको एक बार पढ़ लेनेके बाद शेखरको भूल जाना असम्भव है। रवीन्द्र बाबूके संदीपकी तरह उसके व्यक्तित्वमें एक विलक्षण आकर्षण है। मैं शेखरसे प्रसन्न नहीं हूँ। शेखरकी माँकी तरह मैं भी उसके व्यवहार और विचारसे झुँझला उठता हूँ, क्रुद्ध होता हूँ, क्षुब्ध होता हूँ और आशंकित हो जाता हूँ। पर मैं उसका तिरस्कार नहीं कर सकता। मैं उसका सहचर नहीं होना चाहता, पर अपने व्यक्तित्वके कारण वह मुझे अपने साथ जबरदस्ती खींच लेता है। मैं उसके विचारोंको बिलकुल नहीं मानता, पर वह अपने विचारोंकी प्रचंड

धारामें मुझे बहा ले जाता है। उसमें तारुण्यकी वह उद्दण्डता है, वह दीप्ति है, वह स्फूर्ति है, वह दृढ़ आत्मविश्वास, वह उदारता है और वह घृणा है कि मैं उसकी उपेक्षा कर ही नहीं सकता। मैं उसकी ओर आकृष्ट ही हो जाता हूँ। उग्रजी और जैनेन्द्रजीकी तरह अज्ञेयजीमें भी शैलीकी एक अपूर्वता है। उसी अपूर्व शैलीके कारण मैं 'शेखर' को कई बार पढ़ चुका हूँ और पढ़ूँगा। स्टीवेन्सनने मेरेडिथके 'दी इगोयिस्ट' नामक उपन्यासके सम्बन्धमें लिखा है कि वह उसे बीस बार पढ़ चुका और इक्कीसवीं बार फिर पढ़ेगा। 'शेखर'के संबन्धमें मैं भी यही बात कहूँगा। मैं उसे कई बार पढ़ चुका और जाने कितनी बार पढ़ूँगा।

२

कहा जाता है कि उन्नतिशील समाजकी आकांक्षाएँ सदैव ऊँची रहती हैं। वह विघ्न और बाधाओंको अतिक्रमण करनेके लिए सदैव उद्यत रहता है। वह सत्यके अनुसंधानमें व्यस्त रहता है। जब समाजकी मानसिक शक्तिका ह्रास होने लगता है, तब वह अपने अतीत गौरवको ही दृढ़तासे पकड़ता है। उसकी आकांक्षाएँ परिमित हो जाती हैं। एक संकुचित क्षेत्रमें ही वह अपने ज्ञानका विकास देखना चाहता है। उक्त क्षेत्रसे बाहर जानेका साहस उसे नहीं होता। उसे पग-पग पर संशय होता है, आशंका होती है। समाजकी यही दो अवस्थाएँ हैं—एक तरुणावस्था कही जा सकती है और दूसरी वृद्धावस्था। वृद्धावस्थामें समाजकी दृष्टि अतीतमें ही आबद्ध रहती है। तरुणावस्थामें वह भविष्यकी ओर देखता है। मर्यादाकी रक्षा और प्राचीन परंपराकी अभिज्ञता वृद्धावस्थाका फल है। तरुणोंका शास्त्र है उनकी आशा, उनकी आकांक्षा और उनका उत्साह। वृद्ध उनसे आशंकित रहते हैं। वे यही कहते हैं कि इस पथको आज तक किसीने स्वीकार नहीं किया, अतएव यह दूषित है। इसे छोड़ देना ही श्रेयस्कर है। परन्तु तरुण उनकी बात नहीं सुनते। फल न मिलने पर भी उनकी आशा नहीं टूटती, क्योंकि उनकी दृष्टि भविष्यकी ओर लगी रहती है। आधुनिक साहित्यमें धर्म और नीतिके प्रति जो विद्रोह हो रहा है, उसका कारण यह है

कि तरुण मानते हैं कि धर्म और नीतिके संस्कार उन्हें भविष्यकी ओर नहीं, अतीतकी ओर ले जाते हैं। प्रगतिके पथपर वे केवल बाधक नहीं, घातक भी हैं। इसी लिए आधुनिक साहित्यकार हिन्दू समाजके मर्मस्थलपर आघात करते हैं। वे हमारे सभी नैतिक और धार्मिक संस्कारोंको नष्ट कर देना चाहते हैं। हम लोग उनके आक्रमणकी तीव्रताका अनुभव कर त्रस्त हो जाते हैं। हम लोग यह समझ भी नहीं पाते कि उनके इस विध्वंसका अन्त कहाँ होगा।

किशोरावस्थामें हम सभी लोग भविष्यका सुवर्ण स्वप्न देखते हैं और वर्तमानमें विरोध तथा अतृप्तिका अनुभव करते हैं। उस समय उच्छृङ्खलतामें ही उत्साहकी दीप्ति प्रकट होती है और घृणाका आधिक्य, जिसके कारण हम सभी अपनी तरुणावस्थामें किसी प्रकारका समझौता नहीं कर सकते। समझौतेकी भावना तो प्रौढ़ावस्थामें आती है, जब हम इष्टसिद्धिके लिए कुछ देते हैं और कुछ लेते हैं। इस लेन-देनमें हमें अपनी शक्तिकी इयत्ताका ज्ञान हो जाता है। तो भी हम अपनी महत्त्वाकांक्षासे प्रेरित होकर प्रौढ़ावस्थामें कमसे कम देकर अधिकसे अधिक लेना चाहते हैं। प्रौढ़ावस्थामें हमारे सभी कामोंमें एक विशेष उद्देश्य होता है। उस उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिए हमारे छोटे-बड़े सभी कामोंमें व्यवसायकी बुद्धि काम करती है। सेवा और त्यागके कामोंके भीतर भी वह व्यवसाय-बुद्धि लुप्त नहीं होती। वृद्धावस्थामें हम अपने अतीत तरुण-कालके अतीत गौरवका स्मरण करते हैं और भविष्यका तमोमय स्वप्न देखते हैं। वृद्धावस्थामें हम सबको ऐसा जान पड़ता है कि कहीं कुछ ठीक नहीं हो रहा है। तरुणोंकी तरह वृद्धोंको भी वर्तमानसे विद्रोह होता है। पर उनके इस विद्रोहमें अविश्वास, संशय और आशंकाके ही भाव प्रबल होते हैं। वृद्धावस्था और तरुणावस्था दोनोंमें ही कल्पना-शक्ति उद्दीप्त हो जाती है। भेद यही है कि वृद्ध एकमात्र अपनी अनुभूतिके आधारपर अपने कल्पना-जगत्का निर्माण करता है और तरुण एकमात्र अपनी महत्वाकांक्षाके आधारपर अपने कल्पना-जगत्में स्वच्छंद पक्षीकी तरह गगनविहारी होना चाहता है, जिसके लिए कोई सीमा नहीं रहती, कोई बाधा नहीं रहती।

व्यक्तिगत जीवनकी इन्हीं तीन अवस्थाओंके अनुसार एक ही परिस्थितिमें रहकर हम लोग अपने लिए पृथक्-पृथक् पथ निर्मित कर लेते हैं। 'टेढ़े-मेढ़े

रास्ते' में भगवतीचरणजी वर्माने जीवनकी इसी स्थितिका वर्णन किया है। उसमें प्रेमकी सस्ती भावुकता या वासनाके विकृत उन्मादका चित्र अंकित नहीं किया गया है। उसमें जीवनकी यथार्थताकी परीक्षा की गई है। एक ओर महत्त्वाकांक्षा और दूसरी ओर अहम्मन्यता, एक ओर विश्वासकी दृढता और दूसरी ओर हृदयकी दुर्बलता। अधिकांश लोगोंके जीवनमें अपने-अपने विशेष स्थानोंके भीतर ही अपने-अपने विशेष सिद्धांतोंकी गरिमा होती है। एकमात्र प्रचारके लिए यह कहा जाता है कि हम दूसरोंके लिए जीवित रहते हैं; हम देश-सेवा और परोपकारवृत्तिसे प्रेरित होकर काम करते हैं। पर वास्तविकता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए जीवित रहता है। किसानों और मजदूरोंके नामसे जो आन्दोलन किए जाते हैं, उनका नेतृत्व मध्यम वर्गके ही लोग करते हैं। किन्तु क्या किसान और क्या मजदूर, उनकी तो ऐसी परिस्थिति है कि दीर्घकालीन कष्टोंके कारण उनकी आत्मा ही मर-सी चुकी है। वे स्वयं न सोच सकते हैं, और न समझ सकते हैं। अपने अभावोंके रूपको देखनेकी क्षमता भी उनमें नहीं है। जो मध्यम वर्गके लोग उनके नामसे विद्रोह करते हैं, उनका विद्रोह ईर्ष्याजनित होता है। यह सच है कि उनका यह विद्रोह अभावसे होता है, परन्तु इस अभावका अर्थ रोटी-कपड़ेका अभाव नहीं। मध्यम वर्गके लोग यह सोचते हैं कि उन्हें वे सब सुविधाएँ क्यों प्राप्त नहीं, जो बड़े-बड़े पूँजीपतियोंको प्राप्त हैं।

४

आजकल राजनीतिके क्षेत्रमें जो भिन्न-भिन्न विचार-धाराएँ प्रचलित हो रही हैं, उन्हींको लेकर वर्माजीने एक पारिवारिक जीवनकी कथा लिखी है। रामनाथ एक छोटेसे ताल्लुकेदार थे। उनका विश्वास था कि ब्रिटिश सरकारके शासनमें हमें कोई दुःख नहीं है। वे यह भी समझते थे कि निहत्थे, अपाहिज हिन्दुस्तानी उसका बिगाड़ ही क्या सकते हैं। जनता अपढ़ और मूर्ख है किसीके भी बरगलानेमें वह आ सकती है। जनतन्त्रमें मक्कार ही उनके प्रतिनिधि बनेगा और शासन करेगा। रामनाथ तिवारीको अपने सिद्धान्त और विश्वासका मोह था। वे जीवन-भर स्वामी ही रहे, इसीसे वे चाहते थे

ाब तक वे जीवित रहें, तब तक वे स्वामी ही बनकर रहें। उनके पुत्र उनके ाज्ञानुवर्त्ती रहें। पुत्रोंका धर्म भी यही है। उनका बड़ा लड़का दयानाथ ाकालत करता था। मँझला लड़का उमानाथ जर्मनीमें औद्योगिक शिक्षा प्राप्त र चुका था और भारतवर्ष आ रहा था। छोटा लड़का प्रभानाथ एम० ए० ो चुका था। दयानाथ कांग्रेसका प्रमुख कार्यकर्त्ता हो गया। वह कांग्रेसके ात्याग्रह आन्दोलनमें सम्मिलित हुआ। रामनाथने उसको समझाया कि तुम ांग्रेस छोड़ दो। जो मार्ग तुमने अपनाया है, वह गलत है। परन्तु दयानाथ पने पथसे विचलित नहीं हुआ। रामनाथ क्रुद्ध हुए। पुत्रकी यह स्वच्छंदता न्हें असह्य हो गई। उन्होंने पुत्रका परित्याग कर दिया। फिर भी दयानाथने ोई परवाह नहीं की। कांग्रेसमें सम्मिलित होने पर उसने वकालत भी छोड़ ी, किन्तु उसका मासिक खर्च ५००) था। वे कष्टमें पड़ गये। तो भी न्होंने अपने पिताका त्याज्यपुत्र होना स्वीकार कर लिया। रामनाथने उनके ारिवारके कष्टोंका विचारकर उनको ५००) मासिक देना चाहा। इसको भी न्होंने अस्वीकार कर दिया। सत्याग्रह आंदोलनमें वे जेल चले गये। जब वे ेलसे छूटे, तब कांग्रेसमेनोंकी एक बड़ी भीड़ने उनका स्वागत किया। दयानाथ ाम करनेके लिए जेलसे छूटे थे। इसलिए एक जुलूस निकाला गया। इसमें नकी स्त्री राजेश्वरी भी सम्मिलित हुई। पुलिसवालोंने लाठीचार्ज किया। कितने ो स्वयंसेवक घायल और बेहोश हो गये। एक स्वयंसेवककी मृत्यु हो गई। ाराबकी दूकानपर स्वयंसेवकोंने धरना दिया। एक स्वयंसेवकका सर फूटा। टनाओंके कारण दयानाथके हृदयमें यह विचार पैदा होने लगा कि हिंसाके ागे अहिंसा कब तक टिकेगी? अपने साथी मार्कण्डेयके समझानेपर उन्होंने ी स्वीकार कर लिया कि अहिंसा बहुत बड़ी साधना है, तपस्या है। इसके ाद एक मजदूर नेता ब्रह्मदत्तसे उनका झगड़ा हो गया। हलचलके खत्म ोते ही उनके सामने जो वास्तविकता आई, वह कठिन और कुरूप थी। न्होंने यह अनुभव किया कि जिस आदर्शको पानेके लिए उन्होंने वैभवको ुकरा दिया, वह उन्हें आगे नहीं बढ़ा सका। उनका त्याग बेकार हो गया। ोग उनका विरोध करने लगे। जब वे कांग्रेस कमेटीके सभापतिके पदके लिए खड़े हुए तब वे चुनाव हार गये। ब्रह्मदत्तने अपनी समस्त शक्तियाँ

उनके खिलाफ लगा दीं। तब दयानाथको अपनी महत्त्वाकांक्षाकी विफलताके कारण हर तरफ अंधकार दिखाई देने लगा। वे अपने पिताके पास गये और कहने लगे कि मैंने कांग्रेसमें सम्मिलित होकर गलती की। रामनाथ उनके हृदयके भावको समझ गये। उन्होंने कड़े स्वरमें कहा—अब तुम कांग्रेसको छोड़कर और भी बड़ी गलती कर रहे हो। जीवनका क्रम आगे बढ़ना है, पीछे लौटना असम्भव है। दयानाथने कहा—आपने मेरी कमजोरी बतलाकर मेरा बहुत बड़ा उपकार किया। फिर वे अपने बच्चे और स्त्रीको लेकर चले गये। यहीं उनकी जीवन-कथा समाप्त हो गई।

उमानाथ जर्मनीमें समाजवादी हो गया था। जर्मनी जानेके पहले उसका विवाह हो गया था। किन्तु जर्मनीमें उसने हिलडासे विवाह कर लिया। यह विवाह केवल एक आर्थिक सम्बन्ध था। उस विवाहका विच्छेद किसी भी समय, किसीकी इच्छासे हो सकता था। भारतवर्ष लौटनेपर उसकी स्त्री महालक्ष्मी उसके लिए एक समस्या हो गई। उसका एक कामरेड मोरिसन भारतवर्षमें समाजवादी आन्दोलन चला रहा था। उमानाथने सोचा, वही उसकी स्त्री महालक्ष्मीको स्वीकार कर ले। जब उमानाथने अपने साथीको बतलाया कि उसकी स्त्री ऐसी है कि वह उसकी सेवा करती है, पूजा करती है और जो कुछ रुखा-सूखा मिल जाता है, उसीसे पेट भर लेती है, और खूब सुंदर भी है, तब कामरेड मोरिसनको विश्वास नहीं हुआ कि ऐसी नेक, खूबसूरत और भोली औरतको छोड़कर उमानाथने किस तरह हिलडासे विवाह कर लिया। पर विवाहके सम्बन्धमें उमानाथकी दूसरी ही सम्मति थी। वह तो अपनी स्त्री महालक्ष्मीके प्रेममें कुत्तेका प्रेम देखता था और उसके आत्मसमर्पणको जीवनकी हीनता समझता था। जब उमानाथने महालक्ष्मीको हिलडाके सम्बन्धमें सारी बातें बतला दी तब महालक्ष्मीने कहा—मैं नौकरानी बनकर उसकी भी सेवा करूँगी और पूजा करूँगी। महालक्ष्मीके वचनोंसे उमानाथकी सारी महानता हिल उठी और उसने कहा—मुझे क्षमा करो। मैं पापी हूँ। फिर भी उमानाथ अपने समाजवादी सिद्धान्तोंका दृढ़ अनुयायी था। वह शिष्टाचारको ढोंग, सभ्यताको मनुष्यताकी पराजयका खोखलापन और धर्म तथा विश्वासको गुलामीकी प्रवृत्ति मानता था। वह कम्युनिज्मको समाजका एक-

मात्र सत्य समझता था, क्योंकि व्यक्ति समाजका भाग है, इसलिए उसकी समझमें व्यक्तिके लिए यह लाजिमी है कि वह समाजके उस सत्यको अपनावे। वह राष्ट्रीयताको एक ढकोसला मानता था, जिसका निर्माण पूँजीपतियोंने अपने स्वार्थ-साधनके लिए किया है। वह कांग्रेसको पूँजीपतियोंकी एक संस्था समझता था। वह सामंतशाहीको मिटा देना चाहता था। पर जब सब-इन्स्पेक्टर लाल बहादुरने उसको बतलाया कि कल आपके नाम वारंट निकल जायगा, तब उसने भारत छोड़ देनेका निश्चय कर लिया। उस समय उसे दस हजार रुपयोंकी जरूरत हुई। वह अपने पिताके पास गया। रामनाथने कहा—मैं सब कुछ ठीक करा दूँगा। कल मैं तुम्हें लेकर गवर्नरसे मिलूँगा। तुम्हारे खिलाफ़ वारंट कट जायगा। अब तुम अपनी जमीन-जायदाद सम्हालो। पर उमानाथ तो दृढ़ समाजवादी था, उसे जमीन-जायदादसे प्रयोजन नहीं था। वह तो जमीन-जायदादकी भावनाओंको ही नष्ट कर देना चाहता था। उसने कहा—मैं तो हिन्दुस्तानको ही छोड़ देना चाहता हूँ। पिताने रुपये देना अस्वीकार किया, किन्तु महालक्ष्मीने दो हजार रुपये तथा अपने सारे गहने दे दिये। वह गहने और रुपये लेकर चला गया। किन्तु जाते समय उसने यह प्रतिज्ञा अवश्य की कि वह जल्दी ही लौटेगा।

तीसरे लड़के प्रभानाथका जीवन सबसे अधिक दुःखजनक हुआ। वह कलकत्तेमें वीणासे परिचित हुआ, तब उसने अनुभव किया कि नारी करुणा और विलासिताकी ही मूर्ति नहीं, वह शक्ति है, दुर्गा है, काली है। उसने वीणामें कालीके साक्षात् दर्शन किए। वीणा केवल एक ही वास्तविकताको जानती थी। वह यह कि हम सब गुलाम और पशुओंसे गये-बीते हैं। गुलाम-को अपने ऊपर कोई अधिकार नहीं है। उसकी जिन्दगी दूसरोंके लिए है। उस जिन्दगीसे फायदा ही क्या? दस नहीं अगर सौ, बल्कि हजार आदमी मारे जायँ, तो मुझे खुशी होगी। मैं समझूँगी कि दुनियामें हजार गुलामोंकी कमी हुई। वीणाके कारण प्रभानाथने क्रांतिकारीका काँटोंवाला मार्ग अपनाया और क्रांतिकारियोंके दलमें सम्मिलित हुआ। उसने अपने साथियोंके साथ मिलकर कानपुरमें डकैती की। फिर उन लोगोंने ट्रेनमें डाका डालनेका प्रयत्न किया। उन्होंने एक सब-इन्पेक्टरको मार भी डाला। इसके बाद प्रेमकी

आशंकासे आशंकित हो, स्वयं वीणाने प्रभानाथको ऐसे कामोंसे रोकना चाहा। उसने कहा—प्रभा, क्या तुम पीछे नहीं लौट सकते? यह सब गलत है, एकदम गलत। न जाने क्यों मेरे अंदर भय समा गया है। पर प्रभानाथ जोरसे हँस पड़ा। उसने कहा—भयकी कोई आवश्यकता नहीं। हमें मरना है—एक न एक दिन अवश्य, फिर चिन्ता क्यों? इसके बाद उसके दिलने एक स्टेशनपर पैसेञ्जर गाड़ीमें खजानेको लूटनेका निश्चय किया। कुल आठ आदमी गये। एक प्रभानाथ भी था। खजाना लूट लिया गया। छः तो सरदारके साथ कारमें बैठ गये। जब उनके सरदारने सीटी दी, तब पिस्तौलें दागते प्रभानाथ और उसके साथी मनमोहन तेजीके साथ कारकी ओर बढ़े। इसी समय विश्वम्भरदयालने उन दोनोंकी तरफ फायर किया। गोली प्रभानाथके बाँएँ हाथवाले पुट्ठेमें धँस गई। फिर दूसरी गोली मनमोहनकी जाँघमें घुस गई।

मनमोहनने कहा—तुम जाओ—और सब लोगोंके साथ कारपर चल दो। पर प्रभानाथने जोरसे कहा—सरदार, तुम चलो, हम लोग कल तक पहुँच जायँगे। कार चल दी और प्रभानाथ मनमोहनको सहारा देते हुए अन्धकारमें बढ़ने लगा। विश्वम्भरदयाल पुलिसवालोंको लेकर उनका पीछा करने लगा। प्रभानाथ मनमोहनको लादकर बड़ी दूर तक चला, पर वह भी थक गया। तब मनमोहनने उसको पानी लानेके लिए कहा, और जब वह पानीकी खोजमें निकला, तब मनमोहनने पिस्तौलसे आत्महत्या कर ली। प्रभानाथ दौड़कर आया। अन्तिम समयमें मनमोहनने प्रभानाथसे कहा—तुम इस क्रांतिकारी दलको छोड़ दो। यह बड़ा गलत रास्ता है। प्रभानाथने छिपकर अपने चाचा श्यामनाथके बँगलेमें आश्रय लिया। पर वह पकड़ लिया गया। विश्वम्भरदयालने उसको मुखबिर बनानेके लिए प्रयत्न किया। वीणाने विश्वम्भरदयालसे मिलकर प्रभासे भेंट की और बड़ी चालाकीसे अपनी अँगूठी प्रभानाथको दे दी। उस अँगूठीमें पोटेशियम साइनाइड रख दिया गया था। प्रभानाथ उसे खाकर मर गया। इधर वीणाने पिस्तौलसे विश्वम्भरदयालको मार डाला और खुद अपने मत्थेमें गोली मारकर मर गई। रामनाथ विक्षिप्त हो गये। उन्होंने अपनी अहमन्यताका अनुभव किया और समझा कि

उन्होंने अपने अहंकारके कारण अपने कुलका भयानक विनाश किया। उसी समय महालक्ष्मीके बच्चेने पुकारा—बाबा, खाना। तब उस बच्चेको छातीसे चिपकाते हुए उन्होंने कहा—बेटा, इस बूढ़ेको तुम मत छोड़ना। यहीं उपन्यासका अन्त हो गया।

उपन्यास चित्ताकर्षक है। सभी पात्रोंमें सजीवता है। कथामें कहीं भी शिथिलता नहीं आई है, कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं लक्षित होती। उपन्यास पढ़कर हम सभी पाठक एक दुःखका अनुभव करते हैं और सोचने लगते हैं कि जीवनके लिए क्या कोई सीधा राजपथ भी है? एक ही परिस्थितिमें रहकर तीन भाइयोंने अपने जीवनमें भिन्न-भिन्न पथोंको स्वीकार किया। तीनोंने अपने-अपने पथोंमें जीवनकी सच्ची गरिमा देखी। तीनोंमें विश्वासकी इतनी दृढ़ता थी कि तीनों अपने पथपर अटल रहे। पर क्या किसीने जीवनकी सच्ची गरिमा प्राप्त की? एकको अपना पथ छोड़ना पड़ा, दूसरेको अपना देश छोड़ना पड़ा और तीसरेको अपने प्राण छोड़ने पड़े। क्या यह उनकी विजय है या पराजय? परन्तु हम जीवनमें सफलता कहेंगे किसे?

अधिकांश लोग संसारमें जन्म लेकर क्षुद्र कार्योंमें व्यस्त रहते हैं। जीवन-भर क्षुद्र कार्योंमें सुख और दुखका अनुभव कर एक दिन कालका निमंत्रण पाकर वे भी सहसा चले जाते हैं। क्या उन्होंने अपने जीवनको सफल बना लिया? संसारमें कुछ लोग यश, प्रतिष्ठा और वैभव पाकर मरते हैं। उनके उस यश, वैभव और प्रतिष्ठामें भी कितनी स्थिरता है? फिर उन्हें प्राप्त करनेमें भी कितना कष्ट सहना पड़ता है? संसारमें ऐसे भी लोग हैं, जो अन्याय और अत्याचारमें रत रहकर वैभवकी अट्टालिकामें जीवन-यापन करते हैं और आजीवन भोग-विलासमें लिप्त रह कर एक दिन मर जाते हैं। मृत्यु ही सबके जीवनका अवसान होता है।

मृत्युके बाद जो दुष्कीर्ति या सुकीर्ति होती है, उससे दिवंगत आत्माओंको कितना परितोष या कष्ट होता है, यह कोई भी नहीं जानता, तो भी यह सच है कि ऐहिक जीवनमें ही हम अपनी-अपनी बुद्धि, धारणा और विश्वासके अनुसार जिसमें गौरव देखते हैं, उसीको प्राप्त कर अपना जीवन सफल मान लेते हैं। हमारी अपनी लालसाओंसे प्रेरित होकर हम लोग अपने जीवनकी

गतिको एक विशेष दिशाकी ओर ले जाते हैं। सभीके पथ भिन्न-भिन्न होते हैं। कौन अच्छा है या बुरा, इसका निर्णय कौन करेगा? यही तो जीवनके 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' हैं। कोई कुछ भी कहे या समझे, हम सभी अपने-अपने रास्तोंसे ही जाते हैं।

४

भारतके सुप्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता डा० भगवानदासजीने 'इन्दुमती' नामक उपन्यासके सम्बन्धमें उसके लेखक श्री गोविन्ददासजीको जो पत्र भेजा है, उसमें उन्होंने लिखा है—"बीस दिन हुए, इन्दुमती पढ़ना आरम्भ हुआ। मैं आवश्यक लिखाई-पढ़ाई दिनमें समाप्त कर संध्या समय उद्यानके भीतर या बाहर सड़कपर आध घंटा टहलकर सावकाश हो जाता हूँ। उसीके बाद मनबहलावके लिए आख्यानकका पठन आरंभ हुआ। पहले तो सुख ही सुखकी बात थी। हम लोगोंको कथा बहुत रुचिकर जान पड़ी। गुप्त विवाहके पढ़ते ही अनिष्टकी शंका उत्पन्न हुई। यहींसे कथामें दुःखका सूत्रपात हुआ। ललितकी बीमारीसे हम चिंतित हो गये और यह मानते हैं कि ललित शीघ्र अच्छा हो जाय। यदि नहीं अच्छा हुआ, तो ग्रन्थके लिए आदर बहुत कम हो जायगा। अन्तिम अध्याय इस हेतुसे नहीं देखता कि फिर बीचके अध्यायों-का रस कम हो जायगा।"

उपर्युक्त बातें डाक्टर भगवानदासजीने एक उपन्यासप्रेमी पाठकके रूपमें लिखी हैं। 'इन्दुमती'के लेखकके लिए यह कम प्रशंसाकी बात नहीं है कि उन्होंने अपनी कथाके मोहजालमें एक तत्त्ववेत्ताको बीस दिनों तक उलझा रक्खा। उपन्यासके सभी प्रेमी पाठक यह स्वीकार करेंगे कि ज्यों ज्यों औपन्यासिक घटनाओंका विकास होता जाता है, त्यों त्यों उनका कौतूहल बढ़ता जाता है। कथाका अन्त जाननेके लिए इतनी अधिक व्यग्रता हो जाती है कि धैर्य कठिन हो जाता है। जो लोग धार्मिक भावसे प्रेरित होकर महाभारत या रामायण या श्रीमद्भागवतका नियमपूर्वक पारायण करते हैं, उनकी दूसरी बात है। उन्हें कथाके लिए कोई कौतूहल नहीं होता। कादम्बरी या दशकुमार-चरितके समान कथा-ग्रन्थोंमें भी कथा गौण होती है। उनमें

वर्णन ही प्रधान होता है। हम उनमें कविकी कवित्व-कलामें रसका अनुभव करते हैं; पर आधुनिक उपन्यासोंमें कथा ही प्रधान होती है। कहा जाता है कि शाहजादीने एक हजार रात तक कथाओंको ऐसी निपुणतासे क्रम-बद्ध कर कहा कि शाहजादेको बराबर एक हजार रात तक कथाके लिए उत्सुकता बनी रही। यही कथाकारका सबसे बड़ा कौशल है।

अँगरेजीमें उपन्यासोंकी रोचकताके संबंधमें एक बड़ी अच्छी कहानी है। उस कहानीका मर्म यह है कि एक बार कोई नवयुवक किसी नवयुवतीके प्रेम-पाशमें बद्ध होकर उससे विवाह करनेके लिए व्यग्र हो गया। पर उस नवयुवतीकी वृद्धा अभिभाविका उस विवाहका विरोध कर रही थी। उसकी स्वीकृति पानेके लिए प्रेमीने कई बार चेष्टाएँ कीं। अन्तमें उसकी प्रेमिकाने ही एक उपाय बतलाया। वह वृद्धा उपन्यासोंकी पाठिका थी। एक उपन्यासको वह दत्तचित्त होकर पढ़ रही थी। वह बड़ा ही कौतूहलवर्धक उपन्यास था। प्रेमीने उस उपन्यासको हस्तगत कर लिया। वृद्धा उस उपन्यासको पढ़नेके लिए इतनी अधिक व्याकुल हो गई कि उसने उसी रात अपनी स्वीकृति देकर प्रेमीसे वह उपन्यास प्राप्त किया। यह बात सभी उपन्यास-प्रेमी स्वीकार करेंगे कि छात्रावस्थामें गुरुजनोंका कठोर दण्ड भी स्वीकार कर उन्होंने उपन्यासोंका कथा-रस प्राप्त किया है। एक बार किसी एक मास्टरने अपनी किसी छात्राके अभिभावकको बतलाया कि अब उनकी छात्रा होमटास्क नहीं करती है और क्लासमें अन्यमनस्क रहती है। वे समझ गए कि उसने रवीन्द्र बाबूकी 'नौका डूबी' या बंकिमचंद्रकी 'देवी चौधरानी' को कहींसे अवश्य प्राप्त कर लिया है। इसपर जब उस मास्टरको कहा गया कि तुम अपनी उस छात्राको डाँटते क्यों नहीं, तब उसने कहा, मुझमें भी तो वही दोष है। मैडम वावेरीके कारण मैं भी तो छात्रोंकी कापियाँ नहीं जाँच सका।

यदि नया उपन्यास पाकर पाठकने ठीक समयमें ठीक काम कर लिया, तो यह समझ लेना चाहिए कि उस उपन्यासमें सच्चे कथा-रसका अभाव है। वह उपन्यास नहीं, ऐतिहासिक या वैज्ञानिक ग्रन्थ होगा। उपन्यासोंकी सबसे बड़ी महत्ता यही है कि एक बार प्रारम्भ कर लेनेके बाद कोई उसे छोड़ना नहीं चाहता। जब कथा समाप्त हो जाती है, तभी पाठकका मन किसी अन्य काममें लगता है।

जीवनकी विभिन्न स्थितियोंमें विभिन्न रसोंकी अनुभूति होती है। कभी संसार हमें अत्यन्त रहस्यमय प्रतीत होता है। नगरोंके विशाल प्रासादोंमें जीवनकी न जाने कितनी लीलाएँ होती रहती हैं। प्रेम और विद्वेष, लोभ और हिंसा, वासना और असंतोषकी कितनी उग्र ज्वालाओंसे उनके भीतर ऐश्वर्यकी महिमा प्रदीप्त होती है। नगरोंके असंख्य नर-नारियोंके हृदयमें जो अज्ञात वासनाएँ हैं, वे न जाने किस घरमें किस रूपमें परिस्फुट हो रही हैं। विस्मय, कौतूहल और आतंकके भावोंसे युक्त होकर जब हम नगरोंपर दृष्टिपात करते हैं, तब एक-एक व्यक्ति हमारे लिए रहस्यमय हो जाता है और उन रहस्योंके उद्घाटनमें जीवनकी महिमा प्रदर्शित होती है। एक रिक्शा चलानेवालेकी जीवन-कथामें भी प्रेम और विद्वेषकी अलौकिकता प्रकट होती है। हम लोग नगरके मायालोकमें पग-पगपर विस्मय और आतंकका अनुभव करते हैं। न जाने कब किस घरमें सहसा कोई अपूर्व सुन्दरी पिस्तौल लेकर हम लोगोंके सम्मुख खड़ी हो जाय और एक पलमें हमारी चिर-संचित संपत्तिको लेकर तमोराशिमें विद्युत्की छटाकी तरह विलीन हो जाय! क्या यह घटना असंभव है? क्या यह सम्भव नहीं है कि पुलिसको धोखा देकर कोई सुन्दर क्रांतिकारी युवक किसी अज्ञात बंगलेमें घुस जाय और खिड़की खोलकर ज्यों ही वह कमरेके भीतर प्रविष्ट हो, त्यों ही किसी रमणीके रूप-जालमें ऐसा फँस जाय कि जीवन-भर प्रेमके उसी बन्धनसे उसकी मुक्ति न हो। ऐसी घटनाएँ सम्भव हों या न हों, पर अत्यन्त क्षुद्र कार्योंमें निरत रहकर हम लोगोंकी जो विरक्ति-सी हो जाती है, उसे हटानेके लिए हमें ऐसी ही घटनाओंके लिए कामना होती है। तभी तो चित्रपटों और उपन्यासोंमें ऐसी कथाएँ विशेष लोकप्रिय होती हैं। अँगरेजीकी एक कहानीमें बतलाया गया है कि लोगोंको जीवनमें ऐसी ही विलक्षण घटनाओंकी अनुभूति करा देनेके लिए एक क्लब स्थापित किया गया था। ऐसी व्यवस्था की जाती थी कि प्रत्येक व्यक्ति किसी कथाका नायक बनकर अपने जीवनमें एकसे एक विलक्षण घटनाओंका अनुभव करता था। यह है जीवनमें अलौकिक भावोंकी अनुभूतिकी कला। कथा-साहित्यमें उसीकी प्रचुरता रहती है।

यशपालजीकी रचनाओंमें यही कला है; किन्तु स्वयं यशपालजीने अपने

'दादा कामरेड' उपन्यासकी भूमिकामें लिखा है—"साहित्य और कलाके प्रेमियोंको एक शिकायत मेरे प्रति है कि मैं कलाको गौण और प्रचारको प्रमुख स्थान देता हूँ। कलाको कलाके निर्लिप्त क्षेत्रमें ही सीमित न रख, मैं उसे भावों या विचारोंका वाहक बनानेकी चेष्टा करता हूँ; क्योंकि जीवनमें मेरी साध केवल जीवन-यापन ही नहीं, बल्कि जीवनकी पूर्णता है। कलाका उद्देश्य है जीवनमें पूर्णताका यत्न। कथासे सम्बन्ध जोड़कर भी मैं कलाको केवल कलाके लिए नहीं समझ सकता।" उन्होंने 'दादा कामरेड' में समाजकी मौजूदा परिस्थितिमें और क्रमागत आचार और नैतिक धारणामें वैषम्य और विरोधकी ओर संकेत किया है। उनके सामने केवल एक प्रश्न है और वह है केवल परिस्थितियोंके अनुसार नैतिक धारणाका मार्ग बदलनेका।

प्राचीन कालमें नीतिशास्त्रकी शिक्षा देनेके लिए कथाओंकी रचना हुई। भारतीय साहित्यके धार्मिक उपाख्यानोंका उद्देश्य केवल धर्मकी शिक्षा देना ही है। कथाओंके द्वारा नीतिके शुष्क उपदेश सरस हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्य-मात्रमें जीवनकी विलक्षणतासे जो एक कौतूहल होता है, उसीसे कथाओंके प्रति अनुराग होता है। साधारण जीवनकी साधारण बातोंकी ओर किसीका आकर्षण नहीं होता। जीवन-निर्वाहके लिए जो बातें अत्यन्त आवश्यक हैं, उनकी उपयोगितामें किसीको संदेह नहीं रहता। पर एकमात्र उन्हीं बातोंकी चर्चासे उन्हें विरक्ति हो जाती है। वे जीवनमें कुछ असाधारणताका, कुछ विलक्षणताका अनुभव करना चाहते हैं। जो बात यथार्थ जगत्में संभव नहीं है, उसे वे कल्पना-जगत्में प्राप्त करते हैं। कथाएँ उनको यथार्थ जगत्की कटुतासे हटाकर कल्पनाके ऐसे जगत्में ले जाती हैं, जहाँ वे ऐश्वर्यके विलास, शक्तिकी महिमा और प्रेमके उल्लासके साथ मानव-जीवनकी अपूर्व गरिमा देख पाते हैं। कथाओंमें कल्पनाका ही विलास होता है। कल्पित पात्रोंके जीवनमें भिन्न-भिन्न घटनाओंकी कल्पना कर उन्हींके वर्णनसे जीवनकी महिमा या हीनता बतलाई जाती है। कथामें कलाकी यही कुशलता रहती है कि कल्पित जीवन होने पर भी उनकी यथार्थतामें लोगोंको संदेह या अविश्वास नहीं होता। तभी कल्पित पात्रोंके कल्पित सुख-दुःखके

वर्णनका इतना अधिक प्रभाव उन लोगोंपर पड़ता है कि वे स्वयं उनके साथ सुख या दुःखका अनुभव करते हैं। कथाका अन्त हो जाने पर भी उसका प्रभाव सर्वथा लुप्त नहीं होता। संसारमें कितनी ही घटनाएँ होती रहती हैं। सभी लोग अपने ही जीवनमें इतने व्यस्त रहते हैं कि उन घटनाओंकी ओर उनकी दृष्टि नहीं जाती। हम लोग कितनी ही बातोंको देखकर भी देख नहीं पाते। अन्याय या उत्पीड़न, पाप या अनाचारकी जो लीलाएँ होती रहती हैं, उन सबको कौन देखता है या देखनेका प्रयत्न करता है? परन्तु वही घटनाएँ उपन्यासोंमें वर्णित होकर हम लोगोंको जीवनकी यथार्थताका अनुभव करा देती हैं। तब उनके कारण हम लोग विक्षुब्ध या उद्विग्न हो जाते हैं। भगवान् बुद्धदेवको जरा, रोग और मृत्युके दृश्य दिखलाकर देवोंने उनके हृदयमें दुःखोंको दूर करनेके लिए एक अदम्य इच्छा उत्पन्न कर दी। उसी प्रकार उपन्यासोंमें जीवनकी भीषण परिस्थितियोंके चित्र प्रदर्शित कर लोगोंके हृदयमें उन्हें दूर कर देनेके लिए एक प्रबल प्रेरणा उत्पन्न कर दी जाती है। अमेरिकामें दासत्व प्रथाके कारण जो घोर युद्ध हुआ, इसकी प्रेरणा 'अंकिल टॉम्स केबिन' नामक उपन्यासने दी थी। इँगलैंडमें छोटे-छोटे बच्चोंको लोग ऐसे कामोंमें लगा देते थे, जिनके कारण उनका जीवन अत्यन्त दुःखमय हो जाता था। 'वाटर बेबीज'में उन बच्चोंकी दुर्दशाका ऐसा वर्णन है कि उसे पढ़ कर हृदय काँप उठता है। ऐसी ही कथाओंके कारण इंग्लैंडमें उन बच्चोंके लिए आन्दोलन हुआ और उनकी दुर्दशाका अन्त हुआ। ऐसे उपन्यास एक विशेष उद्देश्य लेकर अवश्य लिखे जाते हैं, पर उनमें जीवनकी यथार्थता रहती है। इसीसे उनका प्रभाव भी लोगोंपर पड़ता है। जो बात विवाद, तर्क और लम्बी-चौड़ी व्याख्याओंके द्वारा हृदयमें अंकित नहीं होती, वह एक कथाके द्वारा अंकित होती है। उस कथामें हम लोग नीतिकी यथार्थता नहीं, जीवनकी यथार्थता देखते हैं।

पुरुष अच्छा है या नारी, इसी बातको लेकर तोता और मैनामें विवाद हुआ। तोताने स्त्रियोंकी चरित्र-हीनताको सिद्ध करनेके लिए कितनी ही कहानियाँ कहीं। मैनाने भी पुरुषोंके दुराचारकी कितनी ही कथाएँ सुनाईं, पर न तो उनसे पुरुषोंका चरित्र गौरव सिद्ध हुआ और न स्त्रियोंका ही। व्यक्ति-

गत जीवनकी घटनाओंके वर्णनसे किसी भी नीति या सिद्धान्तकी पुष्टि नहीं होती। जीवनमें इतना अधिक वैचित्र्य है कि किसी भी एक नीतिसे जीवनका मेल नहीं हो सकता। स्वभाव-वैचित्र्य, रुचि-वैचित्र्य तथा विचार-वैचित्र्य होनेके कारण एक ही परिस्थितिमें भी दो व्यक्तियोंके कार्योंमें बड़ा भेद हो जाता है। एक जिसे अच्छा समझता है, उसीको दूसरा बुरा कहता है। यही नहीं एकके लिए जो सुखप्रद है, वही दूसरेके लिए दुःखप्रद हो जाता है। ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं हैं, जो अपनी परिस्थितिके अनुसार अपनी नैतिक धारणा नहीं बना लेता। यही कारण है कि कभी हम किसी व्यक्तिके प्रति अनुरक्ति होनेसे एक विशेष नीतिका अवलंबन करते हैं और कभी भावनाके प्रति निष्ठा रखनेके कारण ठीक उसके विपरीत भी काम कर डालते हैं। हम व्यक्तिके रूपमें जीवित रहना चाहते हैं, तभी हम जाति या देशका निर्माण करते हैं और उससे हम अपना सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। हम अपने जीवन-निर्वाहके लिए साधन चाहते हैं, तभी हम अपनी शक्तिके उपभोग और विकासके लिए एक ऐसी सुदृढ़ व्यवस्था निर्मित करना चाहते हैं कि जिससे जीवनका संघर्ष विकट न हो। हम स्वतंत्रता चाहते हैं पर उच्छृङ्खलता नहीं चाहते। इसीलिए एक बार कोई व्यवस्था निर्मित कर लेनेके बाद हमें उसीके शासनको मानना पड़ता है। स्वतंत्रताकी रक्षाके लिए स्वच्छन्दताको नियन्त्रणमें रखना पड़ता है, तभी तो व्यक्तिगत जीवनमें कितनी ही समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, हृदयके भीतर सदैव द्वन्द्व होता रहता है और किसी भी परिस्थितिमें संघर्ष विलुप्त नहीं होता। यशपालजीने ठीक कहा है कि कैसा भी सिद्धान्त क्यों न हो, व्यक्तिगत अनुभूतिसे ही उसमें अधिक तीव्रता आती है। यदि एम० ए० पास कर लेनेके बाद उनका औपन्यासिक पात्र 'भूषण' कालेजमें प्रोफेसर होकर सम्मान और आराम पा जाता, तो वह क्यों एक कम्यूनिस्ट नेता होता। विवशताने उसके विचारों और व्यवहारोंमें एक कटु परिवर्तन ला दिया। यदि उसे यह विवशता न होती, तो उसके लिए समाजवाद एक बौद्धिक विहारका साधन होता।

संसारमें जिसके लिए जो कमनीय या स्पृहणीय होता है, उसके लिए उस व्यक्तिके हृदयमें एक लालसा अवश्य होती है। उसीके कारण जीवनकी किसी

भी स्थितिमें उसे संतोष नहीं होता, क्योंकि उसकी उन वासनाओंका कोई अन्त नहीं, कोई सीमा नहीं है। सभीके मनमें जो अहंवृत्ति है, उसके कारण दूसरोंसे अपनी तुलना कर हम सभीको न अपनी योग्यताके सम्बन्धमें सन्देह होता है और न दूसरोंकी हीनता या अयोग्यताके सम्बन्धमें कोई शंका होती है। इसीसे हम जब दूसरोंको सुखी और अपनेको दुःखी देखते हैं, तब हम अच्छी तरह समझ लेते हैं कि केवल हमें अपनी योग्यता या क्षमताके अनुसार उन्नतिका अवसर नहीं मिलता; अन्य लोग हमारी उन्नतिमें बाधक होकर स्वयं सुख और सम्पत्तिके पात्र बन रहे हैं। तभी हमें विरक्तिके साथ असन्तोष होता है। ईर्ष्या, द्वेष या निन्दाके द्वारा भी अहंवृत्तिकी तुष्टि और पुष्टि होती है। इस अहंवृत्तिके विनाशसे ऐहिक जीवनकी भी समाप्ति होती है। मानव-जीवनमें जो आत्मगौरवका भाव है, वह इसीपर आश्रित है। यह गौरव-भावना विषम परिस्थितियोंमें भी बनी रहती है। उसीके कारण धैर्य, साहस और सहिष्णुताके भाव विकसित होते हैं। बात यह है कि एक बार आत्म-गौरवके भावको चैतन्य कर देनेसे मनुष्य स्वयं अपने क्षुद्र स्वार्थोंके घेरेको तोड़कर वृहद् जीवन-क्षेत्रमें सुख और संतोष पाता है।

सुखकी कामनासे प्रेरित होकर हम लोग कितने ही कार्योंमें व्यस्त हो, अपनी इच्छासे कष्ट सहते हैं, विपत्तियोंको स्वीकार करते हैं, विघ्नों और बाधाओंमें पड़कर उन्हें अतिक्रमण करनेके लिए प्रयास करते हैं, चिन्ता करते हैं और उद्विग्न होते हैं। जो सुख हमें प्राप्त होते हैं; वे क्षणिक ही होते हैं। सुखकी किसी भी स्थितिमें स्थायित्व नहीं होता। फिर भी सुखकी कामना ही हमें अपने जीवनमें सच्ची प्रेरणा देती है। अपनी ओरसे सब कुछ प्रयास करने पर भी हम यह अनुभव करते हैं कि हम अपने जीवनकी गतिपर नियन्त्रण नहीं रख पाते। सहसा कोई ऐसी बात हो जाती है, जो हमारे जीव-नकी गतिको ही बदल देती है और उसीके साथ अन्य कितने ही व्यक्तियोंके जीवनपर भी वह अपना अक्षय प्रभाव छोड़ जाती है। कितना ही क्षुद्र कोई व्यक्ति हो, पर उसका जीवन अन्य लोगोंसे ऐसा संबद्ध रहता है कि उसके एक क्षुद्र कार्यका फल उन सभी लोगोंको भोगना पड़ता है। अप्टन सिन्क्लेअरने अपने 'स्पाई' नामक उपन्यासमें लिखा है कि यह केवल संयोगकी बात है

कि कोई व्यक्ति दाहिनी ओर न जाकर बाईं ओर गया। पर उसका परिणाम यह हुआ कि एक युवतीसे भेंट हो गई, फिर प्रेम हुआ, फिर विवाह हुआ और संसारमें एक विशेष व्यक्तिका जन्म हुआ। यही तो भाग्यका पथ है। किस अलक्षित शक्तिकी प्रेरणासे कोई एक बात होती है, इसे हम जान नहीं पाते। पर इसमें सन्देह नहीं कि उसी एक छोटी बातके कारण कितने ही लोगोंका जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। यशपालजीके 'मनुष्यके रूप' में भी उसी अलक्षित शक्तिकी कथा है।

आजकल सभी सड़कोंपर मोटरें चलती हैं। मोटरकी दुर्घटना भी कोई असाधारण बात नहीं है। पर यदि एक विशेष दिन धनसिंहको मोटर-दुर्घटनाका सामना न करना पड़ता, तो न उसके जीवनमें कोई विशेष परिवर्तन होता और न सोमाके जीवनमें कोई विशेष बात होती। यही नहीं, अन्य कितने लोगोंके जीवनमें भी कोई असाधारण स्थिति न पैदा होती। एक दिन वैजनाथसे नौ मील दूर धनसिंहकी गाड़ीके सामने दो छोटे-छोटे मेमने कूद आये और उनके ऊपर छायाकी तरह एक औरत आ गिरी। पर उसका परिणाम यह हुआ कि बम्बईमें जगदीशके जीवनमें अशान्तिकी आँधी आ गई, बरकतके हाथसे भूषणकी मृत्यु हुई और मनोरमा मृतप्राय हो गई। यह संयोगकी बात है अथवा विधिका विधान है, इसे कौन कहेगा?

सोमामें रूप था और तारुण्य। घरमें विधवा होनेके कारण उसकी दुर्दशा थी। उसके ससुरने जब उसे बेच डालनेकी बात सोची, तभी उसने धनसिंहके साथ भाग जाना निश्चय किया। धनसिंह भी उसके रूपपर मुग्ध हो, उसे भगा लाया। उसकी जो दुर्दशा हुई, उसका कारण उसका रूप था। उसने सिनेमाके क्षेत्रमें जो सम्पत्ति या सफलता प्राप्त की, उसका भी कारण उसका रूप था।

भगवतीचरण वर्माके 'आखिरी दाँव' नामक उपन्यासमें भी यही घटना वर्णित हुई। 'आखिरी दाँव' की नायिका सधवा होनेपर भी अपने पति, सास और ससुरके अत्याचारोंके कारण पड़ोसके एक युवकके साथ भाग खड़ी हुई। सोमाकी तरह उसने भी अपने रूपके कारण सिनेमाके क्षेत्रमें सम्पत्ति अर्जित की। दोनोंकी दुर्दशा हुई। 'आखिरी दाँव' की नायिकाने तो आत्महत्या

कर अपनी ऐहिक लीला समाप्त कर दी, पर सोमाने जीवित रहकर जीवनकी क्या महिमा प्राप्त की, इसे कौन कहेगा ? यशपालजीका कथन है कि परिस्थितिके अनुसार नैतिक धारणाका मार्ग बदलना चाहिए। सोमा या धनसिंह या मनोरमाने परिस्थितिके अनुसार ही काम किया। उन्होंने स्वयं नैतिक धारणाकी चिन्ता ही नहीं की। परिस्थितिके कारण उनकी इच्छाओंमें भी परिवर्तन होता गया। सोमाने अपनी इच्छासे धनसिंहको स्वीकार किया। मनोरमाने भी अपनी इच्छासे विवाह किया। उन दोनोंने परिस्थितिके अनुकूल अपनी नैतिक धारणा बना ली थी। पर उनकी कथासे जो बात सिद्ध होती है, वह यही कि पाशविक वासनाओंकी प्रचंडताके कारण मनुष्य अपने जीवनकी सच्ची गरिमा खो बैठता है।

हम मनुष्यके किस रूपको यथार्थ समझें ? विचारणीय यह है कि मनुष्यके रूपको क्या सचमुच हम देख पाते हैं ? जिन लोगोंके बाह्य रूपको हम प्रतिदिन देखते रहते हैं, उनके भी अन्तः स्वरूपको जाननेमें क्या हम धोखा नहीं खाते ? अवस्थाओंके कारण जब मनुष्यका बाह्य रूप बदल जाता है, तब परिस्थितियोंके कारण उसका अन्तः स्वरूप भी बदल जाता है। तभी तो यह जानना कठिन हो जाता है कि किसी भी व्यक्तिके जीवनकी यथार्थता कहाँ है। यशपालजीने भूषणकी मृत्युके बाद अपनी कथा समाप्त कर दी। पर उपन्यासकी नायिका सोमा जीवित ही है। उसके जीवनकी समस्याका अन्त नहीं हुआ है। मनोरमा भी मरी नहीं है। उसके जीवनकी समस्याका तो आरम्भ ही हुआ है। न जाने कब, किस घटनासे उनके जीवनकी गति फिर किस ओर प्रवर्तित हो जाय। जब तक जीवन है, तब तक जीवनकी समस्या भी बनी रहेगी। वृद्धावस्थामें अपने रूपके सारे ऐश्वर्यको खोकर सोमा किसमें अपने जीवनकी यथार्थ महिमाका अनुभव करेगी, यह पाठकोंकी कल्पनापर निर्भर है। कथाकारने उसकी तरुणावस्थाके रूपकी झलक दिखाकर उसके अवशिष्ट जीवनपर परदा डाल दिया है। जीवनकी यथार्थता तो वृद्धावस्थामें प्रकट होती है। वही जीवनकी चरम अवस्था है। उसीमें जीवनके विकासका अन्त होता है। बाल्यकालके कौतूहल, युवावस्थाके उन्माद और प्रौढ़ावस्थाके उद्वेगका अन्तिम

फल हम वृद्धावस्थामें पाते हैं। उसीमें हम मनुष्यत्वका यथार्थ रूप देख पाते हैं।

देखा जाता है कि प्रायः सभी उपन्यासोंके नायक तरुण होते हैं और नायिकाएँ तरुणी। १९-२० वर्षकी अवस्थासे उनके औपन्यासिक जीवनका प्रारम्भ होता है और ३०-३५ वर्षकी अवस्थामें उसका अन्त हो जाता है। परन्तु संसारके कर्म-क्षेत्रमें ३६ से यथार्थ जीवनका आरम्भ होता है और मृत्यु ही उसका अन्त करती है। ३६ वर्षकी अवस्थाके पहले कोई व्यक्ति जो कुछ करता आया है, उसे वह अपने जीवनमें महत्ता नहीं देता। छात्रावस्थाका गौरव उसके लिए गौरव नहीं होता। युवावस्थाके आकांक्षा-पूर्ण जीवनको वह केवल स्वप्न ही मानता है—'ख्वाब था जो कुछ भी देखा, जो सुना अफसाना था।' उसमें सार नहीं रहता, उसमें यथार्थता नहीं रहती, वह केवल मोहकी स्थिति है। प्रेम और विद्वेष, मैत्री और शत्रुता, मान और अपमान, किसीमें भी दृढ़ता नहीं रहती। जिसके बिना कोई अपने जीवनको असार मानता है, उसीको वह फिर भार-स्वरूप मानने लगता है। यह आश्चर्यकी बात है कि जो उपन्यासकार जीवनका यथार्थ चित्रण करना चाहते हैं, उनके भी उपन्यासोंके नायक वृद्ध नहीं होते। बात यह है कि मोहकी अवस्था होने पर भी तरुणावस्थाको ही लोग स्पृहणीय मानते हैं। जीवनकी यथार्थताका ज्ञान होने पर भी यदि वृद्धोंको फिर तारुण्य प्राप्त हो जाय, तो वे फिर वही भूलें करेंगे, जो उन्होंने अपनी तरुणावस्थामें की थीं। यही बात अँगरेजीके एक प्रसिद्ध लेखकने अपनी एक आख्यायिकामें प्रदर्शित की है। तारुण्य-रसका पान कर चार वृद्धोंने कल्पित तरुणावस्थाकी क्षणिक स्फूर्तिमें भी अपनी सारी सद्भावनाओंको तिलांजलि दे दी। नीतिका गौरव, धर्मकी मर्यादा और समाजकी प्रतिष्ठा भूलकर वे उच्छृंखल, बाधाहीन जीवनके लिए उन्मत्त हो उठे। केवल वैज्ञानिकको ही उनके कृत्य उपहासजनक और विरक्तिप्रद हुए। तब कलाका वह उद्देश्य जो जीवनकी पूर्णताके लिए यत्न करता है, यथार्थ जीवनमें कब पूर्ण होगा? जीवनमें न तो तारुण्यका उन्माद बना रहता है और न आशंका। यह बात सच है कि हम लोग अपने जीवनमें कलाके

उच्चतम आदर्शकी पूर्तिके लिए न तो उद्विग्न रहते हैं और न प्रयत्नशील होते हैं। जीवन अपूर्ण है, संसार संघर्षमय है, स्थिति बदलती रहती है, संकटों और कष्टोंके कारण हम सदैव संत्रस्त रहते हैं। इसीसे क्षणिक सुखोंकी लालसा बनी रहती है। प्रेम, दया, सहानुभूति और सेवाके भावोंसे तृप्ति होती है। तभी अन्य लोगोंकी सुख-दुःखसे पूर्ण जीवन-कथाओंको पढ़कर हमें सन्तोष होता है। दुःख और सुख दोनों सत्य हैं और उन दोनोंकी अनुभूतिसे हृदयमें जो भिन्न-भिन्न भाव उदित होते हैं, वे भी सत्य हैं। उन्हींके कारण हमें एक अलौकिक रसानुभूति होती है। उसीमें कलाकी सार्थकता है। स्वयं यशपालजी चाहे जो समझें, मैंने तो उनकी कहानियोंमें कलाकी यही सफलता देखी है।

प्रेम और विवाहकी समस्या

१

यह तो स्पष्ट है कि समाजकी गतिके साथ साहित्य भी गतिशील होता है। जो सच्चा साहित्यकार होता है, उसकी वाणीमें युगकी वाणी रहती है। ऐसे साहित्यकारोंकी रचनाओंमें समस्त देशकी आत्मा परिस्फुट हो जाती है। उनके स्वरमें देशकी उच्चतम आकांक्षाकी ध्वनि निकलती है। उनकी कृतिमें देशका आह्वान रहता है। ऐसे साहित्यकारोंकी अनुभूतिमें इतनी व्यापकता रहती है कि वे समस्त देशको अपना सकते हैं। उनकी अनुभूति किसी एक वर्गमें ही बद्ध नहीं रहती। अनुभूतिके साथ उनमें रचना-शक्तिकी भी एक ऐसी कुशलता होती है, जिससे वे अनायास ही पाठकोंकी सहानुभूति भी प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी शक्ति और अनुभूतिके अभावसे भावोंमें जो एक स्थूलता आ जाती है, उसके कारण कलामें भी कृत्रिमता आ जाती है। भावोंकी स्थूलताको छिपानेके लिए जब शब्दोंका कृत्रिम जाल निर्मित होता है, तब शैलीकी विलक्षणतामें ही कलाका चमत्कार देखा जाता है। अनुभूतिका स्थान आवेश ले लेता है। उस आवेशमें दंभ रहता है, अभिमान रहता है और उसीके कारण एक कृत्रिम स्फूर्त्ति भी उत्पन्न हो जाती है। उसमें जीवनकी यथार्थताकी परीक्षा नहीं होती। परन्तु अपनी अहंवृत्तिके कारण अपनी ही दृष्टिसे हम जो कुछ देखते हैं, उसीको एकमात्र सत्य मानकर उसे दृढ़तापूर्वक पकड़ लेते हैं।

आधुनिक युगके प्रारंभमें पाश्चात्य सभ्यताके संघर्षसे भारतीय सभ्यतापर आघात अवश्य पहुँचा। आदर्शोंके संघर्षसे सत्यकी परीक्षाके लिए सभी साहित्यकारोंमें एक आग्रह हुआ। उसीके कारण भारतीय समाजके भीतर

सुधारकी भी भावना उत्पन्न हुई। भारतवर्षके सामाजिक जीवनमें जो दोष उत्पन्न हो गये थे, उनका निराकरण करनेके लिए चेष्टा की गई। आधुनिक युगके प्रारंभिक कालमें कितने ही सुधारक हुए। परन्तु यह तो सभी जानते थे कि दो-चार या दस-पाँच सुधार कर देनेसे सामाजिक जीवनकी जीर्णावस्था या निश्चेष्टता दूर नहीं हो सकती। ज्यों-ज्यों समाज, परिवार और व्यक्तिके जीवनकी परीक्षा की गई, त्यों-त्यों नव समाज और नव सामाजिक आदर्शके निर्माणके लिए व्यग्रता होने लगी। नव समाजके निर्माणका यह प्रयास केवल भारतवर्षमें ही बद्ध नहीं था। सारे विश्वमें यही चेष्टा प्रारंभ हुई। उसीके कारण समाज-नीतिके साथ राजनीति और साहित्यनीतिमें भी आमूल परिवर्त्तनकी भावना प्रकट होने लगी। कितने विज्ञोंने यह कहा कि 'दुनियाको बदलो' और 'जो सड़ चुका है, उसे छोड़ दो, नवीनताओंको अपनाओ, समाजकी रूढ़ियोंको तोड़ डालो, नए मनुष्यको जन्म दो।'

क्रांतिकी यह भावना कथा-साहित्यमें विशेष रूपसे स्पष्ट हुई। व्यक्तिके साथ परिवारका और परिवारके साथ समाजका जो सम्बन्ध है, उसका एक नैतिक आधार है। उसी नैतिक आधारके कारण समाजमें पाप-पुण्य और सदाचार-दुराचारका निर्णय होता है। नीतिके उस मूल आधारपर परंपरागत संस्कारोंका भी प्रभाव पड़ता है। इसीलिए जब नीतिकी वैज्ञानिक परीक्षा आरंभ हुई, तब जो संस्कार जीवनमें बद्धमूल हो चुके थे, उनपर भी कठोर आघात होने लगा। इसीसे दाम्पत्य प्रेम और विवाहके आदर्शोंने साहित्यमें एक समस्याका रूप धारण कर लिया और निर्बाध प्रेम अथवा उन्मुक्त प्रेमके चित्र कथा-साहित्यमें विशेष रूपसे अंकित होने लगे। प्रेमके लिए कोई मर्यादा अथवा सीमा बाह्य जगत्में नहीं रही। उसमें भी आर्थिक हीनताके कारण जो कष्ट स्त्रियोंको भोगना पड़ता है, उसको प्रधानता देकर उन्मुक्त प्रेमके आदर्शका प्रचार होने लगा।

यह तो स्पष्ट है कि आर्थिक कष्टकी कोई सीमा निर्दिष्ट नहीं की जा सकती। जब लोगोंमें विलासकी भावनाएँ प्रबल हो जाती हैं, तब किसी भी एक स्थितिमें संतोष नहीं होता। जहाँ एक ओर निर्धनता है, दुर्भिक्ष है और अत्याचार तथा उत्पीड़न है और दूसरी ओर संपत्ति और ऐश्वर्यका विलास है, वहाँ

असंतोषकी भावना और भी प्रबल हो जाती है। यही कारण है कि कथा-साहित्यमें प्रेमके ऐसे जो चित्र अंकित हुए, उनमें कर्त्तव्यकी गरिमा, प्रेमकी सहिष्णुता, उदारता और त्यागका वर्णन नहीं हुआ। उसमें वासनाकी अतृप्ति, असंतोष और विलासकी प्रचण्ड भावना ही प्रधान है। विचारणीय यह है कि व्यक्तिके चरित्रमें जो एक गौरव रहता है, उसका आधार कहाँ है। यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि व्यक्तिगत जीवनमें उच्छृङ्खलता आ जानेसे समाज अथवा राष्ट्रका हित नहीं हो सकता। अतएव उन्नतिके लिए यह आवश्यक है कि नव समाजके निर्माणमें भी जो नव आदर्श निर्मित हों, उनमें व्यक्तिगत उच्छृङ्खलताको स्थान न दिया जाय।

व्यक्तिवाद अथवा समाजवाद या राष्ट्रवादमें कोई विरोधकी भावना नहीं रहती। एक स्थानमें व्यक्ति सबसे पृथक् रहता है। वहाँ उसका अपना व्यक्तित्व ही सबसे अधिक स्पृहणीय होता है। उसीके विकासमें उसके जीवनकी सार्थकता है। परन्तु दूसरी ओर वह एक होकर भी अनेकोंसे ऐसा संबंध स्थापित कर लेता है कि वह अपने व्यक्तिगत जीवनको किसी प्रकार उनसे पृथक् नहीं कर सकता। वह मानो एक होकर भी अनेक हो जाता है। उसी संबधके कारण वह क्षुद्र होकर भी महान् होता जाता है। उसके व्यक्तित्वका विकास उसके उसी संबंधके विकासपर निर्भर हो जाता है। वासनाका संबंध एक मात्र उसके व्यक्तिगत जीवनसे है; परन्तु कर्त्तव्यका संबंध दूसरोंसे हो जाता है। वही कर्त्तव्य जब एक धर्मका रूप धारण कर लेता है, तब वह सभी व्यक्तियोंको एक परिवार, समाज, राष्ट्र अथवा मानव-जातिके रूपमें संगठित कर देता है। उस संगठनमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता रहनेपर भी व्यक्तिगत उच्छृङ्खलता नहीं रह सकती। उस समय स्वार्थके साथ लोक-कल्याणकी भावना काम करती है। उस लोक-कल्याणमें ही चरित्रका सच्चा माहात्म्य प्रकट होता है। स्वार्थोंमें एक क्षुद्रता हो जाती है और लोक-भावनामें एक गौरव आ जाता है।

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि एकमात्र बाह्य शासन अथवा शक्तिकी प्रेरणासे मनुष्यके हृदयमें यह विशाल संवेदना अथवा सहानुभूति नहीं उत्पन्न हो सकती। उसके लिए अंतःप्रेरणा ही होनी चाहिए। मनुष्योंके हृदयमें

प्रेमकी जो सहज भावना है, उसीके विकाससे मनुष्य अपने व्यक्तित्वका विकास करता है और उसीसे वह लोक-कल्याण और विश्व-मैत्री या विश्व-बन्धुत्वकी भावनाको स्वायत्त कर लेता है। प्रेमकी इस विशुद्ध भावनामें त्यागकी प्रवृत्ति बलवती हो जाती है। इसीसे प्रेमके भावसे मनुष्य स्वेच्छासे कष्ट सहता है। तब कष्टकी वह यातना यातना नहीं रह जाती, वह तपस्या हो जाती है। वासनाओंका संयम अथवा दमन उसकी आनंद-वृत्तिको संकुचित नहीं करता, विस्तृत कर देता है। एकमात्र रूढ़िवाद कहकर चरित्रके इस गौरवका तिरस्कार नहीं किया जा सकता। आज घर-घर कष्ट होनेपर भी जो सुख और शांतिका एक वातावरण है, उसका कारण वही पारिवारिक स्नेह, ममता और प्रेम है, जिसके कारण सेवा और त्यागमें जीवनकी सच्ची सार्थकता देखी जाती है।

व्यक्तिगत जीवनकी अपनी समस्याएँ होती है; परन्तु समाजकी भी पृथक् समस्याएँ होती हैं। समाजमें व्यक्तियोंका समूह रहनेपर भी कुछ ऐसी नीति या व्यवस्थाका प्रचलन हो जाता है, जिसके कारण किसी विशिष्ट वर्गका प्रभुत्व बढ़ जाता है। उस समय उसी विशिष्ट वर्गके संकुचित हितके लिए एक विशेष व्यवस्थाकी स्थापना भी हो जाती है। 'बहुजनहिताय' के लिए सभी युगोंमें चेष्टा की जाती है। पर उस बहुजनमें एक विशिष्ट वर्गका ही हित समाविष्ट हो जाता है। तभी समाजमें किसी-न-किसी रूपमें शोषण-नीतिका प्रचार हो जाता है। जो दारिद्र-व्रत व्यक्तिगत जीवनमें स्वेच्छासे स्वीकृत होकर तपस्याका रूप धारण करता है, वह सामाजिक जीवनमें अधिकांश जनोंके लिए अभिशाप हो जाता है। उस दरिद्रताके मूलमें ऐश्वर्य और प्रभुत्वका दंभ विद्यमान रहता है। उस दंभमें दया अथवा परोपकारकी भावना भी मानव-जीवनकी हीनावस्थाको प्रकट करती है। जहाँ लोभकी लोलुपता प्रभुत्वकी स्वेच्छाचारितासे युक्त हो जाती है, वहीं मनुष्योंकी पाशविक वासनाएँ भी उद्दीप्त हो जाती हैं और तभी अत्याचार और उत्पीड़नकी भी वृद्धि होती है। व्यक्तिगत जीवनमें भी उसका प्रभाव लक्षित होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि सभी स्थितियोंमें समाजके प्रति विद्रोहकी ही भावना मनुष्योंको समाजकी व्यवस्था या नीतिको भंग करनेके लिए प्रेरित करती है। फिर भी सामाजिक परिस्थितियोंकी विवशतासे मनुष्योंको अपने अंतःकरणके

विरुद्ध भी काम करने पड़ते हैं। पाश्चात्य साहित्यके सुप्रसिद्ध उपन्यास 'क्राइम एण्ड पनिशमेंट' में परिस्थितिकी विवशता ही जघन्य कृत्योंके लिए प्रेरित करती है। परन्तु 'आना केरेनिना' के व्यक्तिगत जीवनमें परिस्थितिकी वही विवशता नहीं है। उसके हृदयमें वासनाकी जो आँधी आई, उसीने उसके जीवनको नष्ट कर दिया।

जीवनमें क्या सत्य है और क्या असत्य, इसका निर्णय सहसा नहीं किया जा सकता। कार्यके रूपमें बहिर्जगत्में जो कुछ होता रहता है, वही एकमात्र सत्य नहीं होता। अन्तर्जगत्में भी भावोंके घात-प्रतिघातसे जो विप्लव होता रहता है, उसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। स्त्रियाँ यदि पुरुषोंके द्वारा कुपथगामिनी हो जाती हैं, तो उसमें एकमात्र पुरुषोंका ही उत्तरदायित्व नहीं रहता। इसी प्रकार यह भी नहीं कहा जा सकता कि पुरुष अपनी वासनाकी तृप्तिके लिए स्त्रियोंको कुपथपर नहीं ले जाते। अधिकांश पुरुषों और स्त्रियोंके जीवनमें कर्त्तव्योंकी भावनाओंसे ही उन पाशविक वासनाओंका दमन हो जाता है, जिनके कारण व्यक्तिगत जीवन दुःखमय हो जाता है। शरत्बाबूके 'गृहदाह' में एकमात्र भावोंके घात-प्रतिघातसे ही वह परिस्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसके कारण नायक और नायिका दोनों अपने जीवनके लक्ष्यसे च्युत हो गये। उसीके कारण दोनोंके जीवनमें दुखकी एक घटा आ गई और उनके प्रेममय गृहका दाह हो गया।

समाज और राष्ट्रके भीतर रहकर भी अपने व्यक्तित्वके कारण सभी मनुष्योंके चरित्रमें वैचित्र्य रहता है और उसीके कारण उनके जीवनकी गतिमें भी भिन्नता रहती है। उपन्यासोंमें समाजकी पृष्ठभूमिपर व्यक्तिके जीवनकी ही कथा रहती है। इसीलिए उनकी कथामें एक असाधारणता आ जाती है। विचारणीय यही है कि जिन परिस्थितियोंमें उपन्यासके नायक अथवा नायिकाके जीवनका विकास प्रदर्शित हुआ है, उनमें भावके साथ कर्मका सच्चा मेल हुआ है अथवा नहीं। तभी चरित्रकी विशेषता लक्षित होती है।

जीवनमें जो वासना है, वह वासना ही है। उसकी उग्रता और उद्दामता-पर भी संदेह नहीं किया जा सकता। मनुष्य यदि अपने अंतस्तलकी सच्ची परीक्षा करने बैठे, तो वहाँ वह वासनाओंकी संचित पंकराशि देखेगा। उच्च

या नीच, उत्कृष्ट या निकृष्ट, सभी श्रेणियोंके मनुष्योंके भीतर वासनाकी एक लोलुपता किसी-न-किसी रूपमें बनी रहती है। परन्तु उसीके साथ एक ऐसी भी प्रवृत्ति मनुष्यके मनमें रहती है, जिसके कारण वह अपनी उन वासनाओं-पर भी विजय प्राप्त कर लेता है।

समाजके प्रति विद्रोहकी भावनासे जब हिन्दीके कथा-साहित्यमें पाशविक भावनाओंको ही एकमात्र उत्तेजना दी जाती है, तब ऐसा जान पड़ता है कि मानव-जीवनमें सुप्रवृत्तियोंके लिए कोई स्थान ही नहीं, मानो एकमात्र वासना ही स्वाभाविक है और उन वासनाओंकी निर्बाध तृप्तिमें ही चरित्रका गौरव और जीवनका माहात्म्य है।

एक आख्यायिकाकार द्वारा कल्पित शेखरके प्रति सुमित्राका प्रेम किसी भी बाधाको स्वीकार नहीं करता था। इसीलिए एक रात जब सुमित्राका स्वामी कहीं बाहर चला गया था और सुमित्रा अकेली रह गई थी, तब बड़ी रात बीते शेखरकी नींद खुली। नारीकी भूख उसमें जाग उठी थी। वह उठकर सुमि-त्राके समीप आ गया और उस सोई हुई नारीको जगाकर उसने कहना चाहा कि सुमित्रा उठो, लाजका यह पर्दा फाड़ दो। कब तक नारीको अपने अंदर बंद रखोगी? समाज भले ही इसे अपराध माने, पर समाजने कब किसे खुलकर खेलनेकी आजादी दी है?

खुलकर खेलनेकी आजादीमें ही जीवनकी सार्थकता समझकर एक दूसरे आख्यायिकाकारकी नायिका लीला अपने सुखके उस सपनेको रूप देनेके लिए अपने पतिको छोड़कर चली गई, क्योंकि वह बंदीगृहसे मुक्त होना चाहती थी, शृंखलाओंको तोड़कर पिंजरेसे भाग जाना चाहती थी।

वासनाओंकी तृप्तिको ही प्रधान मानकर एक अन्य आख्यायिकाकारकी नायिका उर्मिलाने कहा—प्रत्येक बातका एक युग होता है। यौवनका भी एक मदभरा युग होता है, जिसमें विलासकी स्वाभाविक भावनाएँ निहित रहती हैं। उसीमें भावनाओंकी तृप्ति मानवके लिए अवश्यभावी है। यौवनका युग समाप्त हो जानेपर, विलासकी स्वाभाविक भावनाएँ मुरझा जानेपर उनकी तृप्तिके साधन यदि उपलब्ध हुए, तो वे असामयिक हैं। इसीलिए हिन्दीके अधिकांश आधुनिक कथाकारोंमें निर्बाध प्रेमका आदर्श

काम कर रहा है। वे यही कहना चाहते हैं कि जब तक शरीर और बुद्धिको खुलकर खेलनेके लिए कोई उद्देश्य और तदनुकूल क्षेत्र न मिले, तब तक व्यक्तिकी प्रवृत्तियाँ पंगु हैं।

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि आधुनिक कथासाहित्यका अधिकांश भाग आधुनिक समाजके यथार्थ जीवनसे बिलकुल पृथक् है। उनमें जीवनकी यथार्थता नहीं है। उनमें समाज और व्यक्तिकी सच्ची समस्याएँ भी नहीं हैं। उनमें एकमात्र तारुण्यकी उद्दाम वासनाओंके ग्लानिकर चित्र अंकित हुए हैं और उन्हींमें कलाकी कुशलता मानी गई है। संसारमें दुख है, दरिद्रता है, कष्ट है, उत्पीड़न है और अत्याचार है। उनके कारण कितने ही लोगोंका जीवन भार-रूप हो गया है। पर उन सब विषम परिस्थितियोंके बीच भी मनुष्योंके अंतःकरणमें सद्भावोंकी भी विद्यमानता है। उन्हींके कारण सभी परिस्थितियोंका अतिक्रमण कर मनुष्य उन्नतिके पथपर अग्रसर होता है। धनकी हीनतासे उसमें चरित्रकी हीनता नहीं आ जाती। यदि परिस्थितिकी विवशतासे वह कोई ऐसा काम करता है, जिससे उसके आत्म-गौरवकी हानि होती है, तो अन्तःकरणकी विशुद्धिके कारण वह उस विवशतामें भी एक गौरवका अनुभव करता ही है। तभी वह उस विवशताके प्रति विद्रोह करता है। विद्रोहकी यह भावना उसे उच्च स्थितिको ले जाती है। वह सच्चे न्याय और सुनीतिका पथ ग्रहण करता है। वह पाशविक भावनाओंको महत्ता नहीं देता। वह अपने भीतर एक ऐसी अन्तर्शक्तिका अनुभव करता है, जिसके कारण वह सभी बाधाओंको अतिक्रमण करनेके लिए उद्यत हो जाता है। क्रान्तिकी यही सच्ची भावना है, जो सभी युगोंमें प्रकट होती है। उसीमें सच्ची आत्मशक्ति है। आत्मशक्तिके ही कारण क्रान्ति सफल होती है। मार्टिन लूथर हो या कबीर, समाजमें प्रचलित दुष्प्रवृत्तियोंके विरुद्ध उनमें विद्रोहकी भावना जाग उठती है। हिन्दीके आधुनिक कथा-साहित्यमें विद्रोहकी भावनाके नहीं, कामुकताके ग्लानिकर चित्र अंकित हुए हैं। अभी तो उन्हींके प्रति विद्रोहकी आवश्यकता है।

१०—कुछ आधुनिक उपन्यास

१

आधुनिक साहित्यमें प्रेम और विवाहकी ही सबसे बड़ी समस्या है। सभी कथाओंमें प्रेमका ही वर्णन मुख्य होता है। पुरुषोंकी यह प्रेम-कथा कितने ही लेखकोंने कितने ही ढंगसे लिखी है। किसीने वैवाहिक जीवनकी महिमा बतलाई है और किसीने निर्बाध प्रेम और मुक्त भोगमें गरिमा देखी है। स्त्रीके प्रति पुरुषमात्रका जो एक आकर्षण होता है, वही पीछे प्रेमका रूप धारण कर लेता है। प्रेमकी स्थिति सांसारिक गौरव या प्रतिष्ठामें बद्ध नहीं है। वह तो छोटे-बड़े सभीके हृदयोंकी प्रवृत्तिपर आश्रित रहती है। अनुकूल आधार पाते ही उसका विकास होने लगता है। प्रेमकी यह भावना साधारण होनेपर भी विलक्षण है। उसीके ऊपर कुल, परिवार, समाज और राष्ट्रकी रचना होती है। पर प्रेमकी भावनामें असंयम या उच्छृङ्खलता आ जानेसे केवल एक व्यक्तिका ही जीवन नष्ट नहीं होता; किन्तु उसके साथ कुल, परिवार, समाज और राष्ट्रका भी नाश हो जाता है। न जाने कितने घरोंमें स्त्रीके प्रेमने कितना संघर्ष उत्पन्न कर दिया है। तभी हिन्दू समाज प्रेमकी इस भावनाको सदैव संयत रखना चाहता है। वह समझता है कि एक व्यक्तिके हृदयमें असंयत होनेपर यह प्रेम भाव कितना उग्र हो जाता है। इसी लिए हिन्दू समाजमें प्रेम, विवाहके बन्धनसे बद्ध हो जाता है। कन्याके सभी गुरुजन, कन्याके भविष्य जीवनको सुखमय बनानेके लिए उसके विवाहकी ही सबसे अधिक चिन्ता करते हैं। उनपर कन्याका यही सबसे बड़ा भार रहता है। कण्वकी तरह अधिकांश हिन्दू यही मानते हैं कि कन्या दूसरेकी सम्पत्ति है। उसको विवाहके द्वारा उसके यथार्थ स्वामीको सौंपकर वे लोग निश्चिन्त हो जाते

हैं और समझ लेते हैं कि अब उनकी जीवन-यात्रामें किसी प्रकारकी कठिनाई न होगी।

पुरुष नारीकी सेवा चाहता है, और नारी पुरुषका संरक्षण। अधिकांश तरुण साहित्यकार यह मानते हैं कि कुटुम्ब और परिवारके गुरुजनोंके द्वारा निर्दिष्ट वर-वधूका यह विवाह-बंधन इतना सस्ता और असार है कि इसमें प्रेमका कोई मूल्य नहीं है। इसी लिए आधुनिक साहित्यमें प्रेमकी जो कथाएँ लिखी जाती हैं, उन सभीके भीतर किसी न किसी रूपमें प्रचलित विवाह-व्यवस्थाके विरुद्ध भाव विद्यमान रहता है। 'सेवासदन,' 'त्यागपत्र' 'शेखर' और 'उल्का' में विवाह ही नारीके जीवनको दुखमय बनाता है। उन कथाओंकी सभी नायिकाएँ अपने दाम्पत्य जीवनसे असंतुष्ट रहती हैं। उनके पति न तो प्रेमके पात्र होते हैं और न श्रद्धाके। इसके अतिरिक्त उन नायिकाओंके सर्वगुणसम्पन्न प्रेमी और प्रिय-जन उनकी इस दुरवस्थासे द्रवीभूत होकर उनको और भी अधिक संकटमय स्थितिमें डाल देते हैं। इस प्रकार समाजके प्रति अपनी घोर विद्रोह-भावना व्यक्त कर वे अपने प्रेमकी सहानुभूति व्यक्त करते हैं। किन्तु उन नायिकाओंका जीवन दुखमय ही बना रहता है। यही नहीं, सतीत्वको पूँजीवादकी उपज मानकर हिन्दीके विद्रोही औपन्यासिक अपने पात्रोंसे सब कुछ काम करा सकते हैं। भावोंका सूक्ष्म विश्लेषण करनेमें असमर्थ होकर कुछ लेखक गन्दी बातोंके वर्णनमें ही कलाका सौष्ठव समझते हैं। प्रेमकी कथाओंमें सबसे अधिक ग्लानिकर मुझको 'गिरती दीवारें' की कथा लगी और सबसे अधिक विस्मयजनक 'उल्का' की कथा प्रतीत हुई। 'गिरती दीवारें' में न तो मैंने प्रेमका विद्रोह ही पाया है और न पाप और वासनाकी प्रचण्डता ही।

'गिरती दीवारें' का नायक चेतन विद्रोही नहीं, बदमाश नहीं, व्यभिचारी नहीं, केवल लुच्चा है। उसकी करतूतोंमें केवल टुच्चापन है। प्रारम्भमें वह जिस सौन्दर्य-सम्राज्ञीको देखनेके लिए मेलेमें निकला, उसके साथ उसने एक टुच्चा-सा ही व्यवहार किया। इसके बाद अपने मित्र अनंतके यह फतवा देनेपर कि वह एक नपुंसक है, उसने जो व्यवहार किया, उससे उसीके चेहरेपर स्याही पुत गई। तब उसके मित्रने उसको समझाया कि वह कौवा

और गिद्ध हो सकता है, स्वच्छन्द-बिहारी उकाब नहीं बन सकता। इसके लिए दिल और जिगरकी जरूरत है। इसके बाद वह जीवन-भर कौवा और गिद्ध ही बना रहा। विवाह होते ही वह अपनी साली नीलाके लिए व्यग्र हो उठा। वह उसके लिए आग हो गई। उसके साथ वह टुच्चेपनका काम करता रहा। फिर रेलगाड़ीमें यादरामकी पत्नी मन्नोपर उसकी दृष्टि गई और उसने उसके पैरपर हाथ फेरे। जब मन्नोके पति यादरामने करवट बदली, तब वह अलग हो गया। इसी प्रकारकी करतूतोंमें लिप्त रहकर उसने यह अनुभव किया कि उसके और उसकी स्त्रीके बीचमें एक अभेद्य, अदृश्य दीवार खड़ी है और पराधीन देशके सभी स्त्री-पुरुषोंके मध्यमें वही दीवारें हैं और वह सोचने लगा कि कब ये गिरेंगी, जिससे टुच्चेपनका आदर्श संसारके स्वतंत्र क्षेत्रमें स्थापित हो जाय। चेतनकी अनुभूतिकी यही कथा है कि जिसके सम्बन्धमें यह कहा गया है कि स्नेहशील, धर्मपरायण माता और शराबी एवं क्रूर पिताके व्यवहारका भावुक-हृदय चेतनपर जो प्रभाव पड़ा, वह आगे चलकर जीवनकी असमानताओं तथा रूढ़ियोंकी नींवरहित गिरती-सी दीवारोंकी सीमाओंसे और भी पुष्ट हो गया।

मैं तो यह पढ़कर अवाक् हो गया। हिन्दीमें समाज-विद्रोह और मनोविज्ञानके नामसे व्यभिचारकी लीलाओंमें कला और व्यक्तिवादकी महिमा तो कितने ही कलाकारोंने व्यक्त की है; पर यह पहला उपन्यास है, जिसमें मैंने सिर्फ टुच्चेपनमें जीवनकी गरिमा देखी।

'उल्का'में प्रेमका एक दूसरा अलौकिक रूप है। मंजु भैयाने जब सुना कि मंजुका विवाह एक ऐसे जानवरसे हो रहा है, जो चार बारमें एंट्रेंस पास हुआ और जिसके मुँहसे हिन्दी और अँगरेजीका एक शुद्ध वाक्य नहीं निकलता, वह बड़ा क्रुद्ध हुआ। ऐसा जान पड़ता है कि मानवताकी सारी गरिमा केवल परीक्षाएँ पास कर लेने और शुद्ध हिन्दी और अँगरेजी वाक्य बोल लेनेमें है।

शेखरने जब शशिके विवाहकी बात जेलमें सुनी, तब वह भी बड़ा क्रुद्ध हुआ था। शशिके लिए उपयुक्त वर पानेके सम्बन्धमें उसका दूसरा ही विचार था। उसने अपने मनमें सोचा—अच्छी तरह ब्याहना है। शिक्षा हो, धन हो, कुल हो, शील हो, चरित्र हो, रूप हो और यश हो। और इनकी कसौटी

क्या है ? डिगरी हो, बँधी नौकरी हो, बात-चीत तरीकेसे करे, कहीं निन्दा न सुनी गई हो। पर क्या ये चीजें आदमी बनाती हैं ? क्या ये आदमीको देवत्वका वह अंश देती हैं, जिससे वह किसी स्त्रीका पति हो जाय ? परन्तु अपना-अपना विचार ही तो है। चाँद भैयाने क्रुद्ध होकर कहा—'मैं तुझसे विवाह करूँगा। मैं तुझे तेरे लिए चाहता हूँ। मैं वासनाकी पूर्ति अथवा इंद्रियोंके सुखके लिए तुझे नहीं चाहता।' मंजुने कहा—'तुम्हारे प्रति मेरे मनमें जो प्रेम है, वह जीवन-मरणसे अधिक गम्भीर, अखण्ड आत्मिक परिपूर्तिकी, तृष्णाकी सर्वग्रासी, सर्वनाशी परम्परा है। तुम मेरे लिए विवाह और पति दोनोंसे बड़े हो। मैं कहीं भी रहूँगी, तुम्हारी रहूँगी। मेरे मनका सारा कौमार्य तुम्हारा है। तुम जैसे चाहो, प्रयोग कर देखो। मेरी शुचिता और सतीत्वमें कोई व्यवधान नहीं पड़ेगा। देवताका भोग लगनेके बाद संसार प्रसाद पाता है।

मंजुकी यह प्रेम-भावना देखकर मैं तो कुछ नहीं समझ सका। मैंने अपने मनमें 'पुरुष'की कट्टोकी प्रेम-भावनाका स्मरण किया और सोचा कि वह भी शायद देवताका भोग लगानेके बाद संसारको अपना प्रसाद बाँटना चाहती थी। यह बात नहीं है कि चाँद भैयाके विलक्षण उद्गारमें वासना नहीं थी, क्योंकि चाँद भैयाने स्वयं यह अनुभव किया कि मैं पापी हूँ। मेरा आत्माभिमान वासनाके एक ही हमलेसे चूरचूर हो गया। तेरे प्रति मेरे मनमें विपाक्त भावना हुई।' परन्तु उन्होंने वह विपाक्त भावना दूर कर दी; क्योंकि प्रेममें कामुकताके लिए स्थान नहीं है। मंजु भी मानती थी कि प्रेम नशा नहीं है, जीवनव्यापी चैतन्य है—आत्माकी आत्मामें परिणति और परिवेष्टन।

प्रेमकी यह भावना मेरे समान पाठक नहीं समझ पा सकते। उसे मंजुके समान नारियाँ ही समझ सकती हैं और चाँद भैया तथा प्रकाश बाबूकी तरह नायक। पर प्रेमकी यह अलौकिक भावना रखकर भी मंजुको एक ऐसे पशुसे विवाह करना पड़ा, जो बोदी अक्लका ऐसा इन्सान था कि मंजुने वैसा व्यक्ति कभी देखा तक नहीं था। कामुकता, लोलुपता, अहंकार और मूर्खताकी उस मूर्तिसे विवाह कर अंतमें अपमान और कलंककी घोर व्यथा सहकर उसको पतिगृह और पितृगृह भी छोड़ने पड़े। उसका कारण था प्रकाश। उसका कथन था कि जीवनकी सार्थकता इसीमें है कि किसी अन्याय और

उत्पीड़नसे समझौता न किया जाय। जिसे समाज तुम्हारी उच्छृङ्खलता कहता है, उसे मैं तुम्हारा विद्रोह मानता हूँ। तुम अब नारीकी मुक्ति और विकासके पथकी मंजिल बनोगी। मंजुको प्रकाशने बहिनके रूपमें स्वीकार कर लिया और यह कहा कि तुमने नियतिको पराजित कर दिया, बहिन! नियतिने सोचा होगा कि तुम आजीवन पापके परम्परानुमोदित बंधनमें बँधकर दुख भोगती रहोगी। पर तुमने नियतिके मस्तकपर लात मारकर जीवनका स्वतंत्र मार्ग अपनाया। यहीं 'अंचल'जीने मंजुकी कथा समाप्त कर दी है। परन्तु यथार्थ जगतमें तो मंजुके समान परित्यक्ता नारीकी जीवन-समस्या वहींसे आरम्भ होती है, जहाँ 'अंचल'जीने मंजुके जीवनपर यवनिका डाल दी है।

जीवनमें सभी तरहकी घटनाएँ सम्भव हैं, क्योंकि संसारमें सभी प्रकारके व्यक्ति होते हैं। समाजमें रहकर हम सभी लोग न तो इतने बड़े निर्लिप्त दार्शनिक हैं और न इतने अधिक दुर्बल और मोहाच्छन्न ही हैं कि हम अपने समाजकी वस्तुस्थितिसे ही परिचित न रहें। हम लोग घर-घर जाते हैं, लोगोंसे मिलते हैं, सभीसे सभी प्रकारके सम्बन्ध स्थापित करते हैं और अपने और दूसरेके पारिवारिक जीवनको जानते और समझते हैं। यह ठीक है कि हम सभीमें इतनी शक्ति नहीं होती कि हम व्यक्तिगत जीवनकी बातोंको लेकर समाजशास्त्रके सिद्धान्तोंका निर्माण कर सकें। पर यह भी नहीं कहा जा तकता कि हम लोग अपने पारिवारिक और सामाजिक जीवनकी बातोंकी बिलकुल उपेक्षा ही करते हैं। इसीसे जब हिन्दीके उपन्यासोंमें एकसे एक विचित्र मनोवैज्ञानिक और सामाजिक समस्याएँ हम लोग देखते हैं तब उन्हें अपने समाजके भीतर खोजनेमें हमें बड़ी कठिनाई होती है। न तो घर-घर हम लोग मंजु, प्रकाश और चाँद भैया देखते हैं और न घर-घर विजय और मंगलदेव ही पाते हैं। ऐसे चरित्र असम्भव नहीं हैं। संसारमें न तो नर-पिशाचोंकी संख्या कम है और न सज्जनोंका ही सर्वथा अभाव है। यों तो 'नरमेध' के लेखक सर्वदानंद वर्माजी छाती ठोंककर कह सकते हैं कि उनके नायकके समान व्यक्ति भी संसारमें हैं, जो अपने पिताके वृद्ध-विवाहके विरोधमें घरसे भागते हैं और उसी रातको अपने एक मित्रकी पत्नीको उसके सतीत्वसे मुक्ति देते हैं और फिर अपनी सौतेली माँको गर्भवती बनाते हैं!

यह सच है कि जहाँ 'अंचल' जीके प्रकाश बाबू रहते हैं, वहाँ 'प्रसाद' जीके मंगलदेव भी निवास करते हैं और इलाचन्द्र जोशीजीके इन्द्रमोहन भी बसते हैं। जहाँ मंजु रहती है, वहाँ 'प्रसाद' जीकी तारा और किशोरी भी निवास करती हैं। किसके वचनोंमें कितनी गरिमा है, और किसके हृदयमें कितनी विशुद्धता और सत्यता है, यह कौन समझ सकेगा? संसारमें सभी समय मनुष्यके वचनों और कृत्योंसे उनके चरित्रकी गरिमा या हीनता प्रकट नहीं होती। जहाँ सतीत्व भी पूँजीवादकी उपज है, वहाँ समाज-विरोधियोंके मातृ-प्रेमके प्रदर्शनमें भी हम लोगोंको संशय हो जाता है। वचनोंकी गरिमा 'प्रसाद' जीके मंगलदेवमें भी कम नहीं थी, तो भी उसके कारण उनकी ताराको जो वेदना भार स्वीकार करना पड़ा, उसे मंजु तभी समझ सकती है, जब वह प्रकाशके द्वारा अपना सब कुछ खोकर प्रताड़ित होती है। कहा गया है कि मंजुने नियतिको पराभूत नहीं किया। यह तो नियतिका ही खेल है कि मंजुको मंगलदेव न मिलकर चाँद भैया और प्रकाश मिल गये। मैं यह भी सोचता हूँ कि यदि चाँद भैयासे ही मंजुका विवाह हो जाता, तो क्या प्रकाशके आगमनसे शरद बाबूके 'गृहदाह' की तरह गृहदाह सम्भव नहीं था?

मंजुका पति तो नरके रूपमें पिशाच था, पर शिक्षित जनोंमें भी वासनाओं के कारण जो उलझन पैदा होती है, वह क्या शरद बाबूके 'शेष प्रश्न' में नहीं प्रदर्शित हुई? क्या एम० ए० पास सभी व्यक्ति छाती ठोंककर यह कह सकते हैं कि उनमें चरित्रकी सच्ची गरिमा है और प्रेमकी सच्ची विशुद्ध भावना? 'अंचल' जी हिन्दू समाजमें पतिव्रता नारीका उद्धार करना चाहते हैं। इसी लिए उन्होंने मंजुके लिए उसीके उपयुक्त वर ढूँढ़ लिया और सहचर भी, और इस तरह उन्होंने अपने प्रेमकी एक लोकातीत-भावनामें अपने सामाजिक विद्रोहका चरम उत्कर्ष प्रदर्शित कर दिया। प्रेमचन्दजीने भी वरदानमें 'उल्का' की ही परिस्थिति उत्पन्न कर दी है। परंतु उनकी कथाका विकास दूसरे ढंगसे हुआ है। बाल्यकालमें ही प्रताप और विरजनमें प्रेम हो गया था और विरजनने प्रतापकी माँ सुवामासे एक दिन कहा कि जब प्रतापसे मेरा विवाह हो जायगा, तब मैं बड़े आनन्दसे रहूँगी। सुवामाने उसे छातीसे लगा लिया और कहा—बेटी, वह तो तेरा भाई है। तब विरजनने कहा—हाँ,

भाई है। मैं जान गई। तुम मुझे बहू न बनाओगी। और सचमुच विरजनका विवाह प्रतापसे नहीं हुआ। उसका विवाह डिपुटी श्यामाचरणके छोटे लड़के कमलाचरणसे हुआ। माँके अनुचित लाड़-प्यारने कमलाचरणको पतंग, कबूतरबाजी और इसी प्रकारके दुर्व्यसनोंका प्रेमी बना दिया था।

वह हाटमें बुलबुल लड़ाता, गुण्डोंके संग सिगरेट पीता, पान चबाता और बेढंगेपनसे घूमता। परन्तु विरजनने अपने प्रेमसे उसे वशीभूत कर लिया और उसमें सच्चा सद्भाव भी उत्पन्न कर दिया। कमलाचरण और विरजनमें दिन-दिन प्रीति बढ़ने लगी, पर कमलाचरणकी मृत्यु हो गई। यह बात नहीं थी कि विरजन प्रतापको भूल गई। प्रतापकी उपेक्षाके कारण वह समुरालमें दिन-दिन दुर्बल होती आ रही थी। जब उसे विश्वास हो गया कि प्रताप उसे भूले नहीं तब, एक ही रातमें उसका मुखड़ा स्वर्ण हो गया। प्रतापके भावोंका विश्लेषण करते हुए प्रेमचन्दजीने लिखा है कि मानव-हृदय एक रहस्यमय वस्तु है। कभी तो वह लाखोंकी ओर आँख उठाकर नहीं देखता और कभी कौड़ियोंपर फिसल पड़ता है। प्रताप निस्सन्देह विवाहके पूर्व विरजनको अपनी बहिन समझता था, यद्यपि इस विचारमें उसे पूर्ण सफलता कभी प्राप्त नहीं हुई। कभी कभी चाँद भैयाकी तरह वह इस पवित्र सम्बन्धकी सीमाका उल्लंघन कर जाता था। कमलाचरणकी मृत्युके बाद उसने सोचा, मैं विरजनसे अपने प्रेमका पुरस्कार लूँ। वह छिपकर विरजनके घरमें घुसा। उसने देखा कि विरजन एक सफेद साड़ी पहने कुछ लिख रही है। उसके पीले चेहरेपर एक ऐसा तेज था, जिसने प्रतापकी दुश्चेष्टाओंको क्षण भरमें भस्म कर दिया। मेरे समान हिन्दीके पाठक यह सोचने लगते हैं कि हम किसमें जीवनकी सच्ची गरिमा देखें, विरजनमें या मंजुमें? यह सच है कि सतीत्वको पूँजीवादकी उपज समझनेवालेके लिए विरजनमें चरित्रकी कोई गरिमा नहीं है और न जीवनकी यथार्थता है। जीवनकी यथार्थता उनके लिए उन पापोंकी लीलाओंमें है, जिनमें वे समाजका विद्रोह देखते हैं और स्वतंत्रताका चरम उत्कर्ष।

कौन पाप है, और कौन पुण्य है, कौन रूढिवाद है और कौन सदाचारकी चिरन्तन गरिमा, इसकी विवेचना करनेका अधिकार हमारे समान पाठकोंको है भी नहीं। किस शब्दका क्या रूढ़ धार्मिक अर्थ है और किस अर्थको अपने

मनसे हटाकर हम खुली आँखोंसे 'कंकाल', 'त्यागपत्र', 'उल्का' या अन्य किसी हिन्दीके कलापूर्ण उपन्यासको देखें, यह हम लोग विज्ञजनोंके लिए ही छोड़ देते हैं। हम तो उपन्यासको उपन्यासहीकी तरह पढ़ते हैं। अपने 'निर्वासित' नामक उपन्यासके उपक्रममें इलाचंद्र जोशीजीने उपन्यासके सम्बन्धमें अपना जो मत दिया है, उसको मेरे समान ही सभी साधारण उपन्यास-प्रेमी पाठक स्वीकार करते हैं।

हम सभी उपन्यासको सबसे पहले कहानी मानते हैं। जो कहानी उपन्यास-कार सुनाना चाहते हैं, यदि वह उसे अच्छे ढंगसे कह सकनेमें समर्थ हो गया, तो वहीं उसका कर्त्तव्य पूरा हो गया। उपन्यासका सबसे पहला और सबसे बड़ा गुण यही है कि उसकी कहानी सबसे सुन्दर ढंगसे, कलात्मक सौष्ठवके पूर्ण निर्वाहके साथ कही गई हो। तभी पाठकोंमें तन्मयता होती है। इसके बाद दूसरी विशेषता यह है कि जिन आधारोंको लेकर वह कहानी गढ़ी हुई हो, वे जीवनकी सच्ची समस्याओंसे बद्ध हों। उसमें प्रेमकी सच्ची मधुरता भी हो। वह प्रेम अलौकिक नहीं, लौकिक हो। घर-घरमें स्नेहकी उसी दीप्तिसे शोक-तममें भी प्रकाश फैलता है। उपन्यासोंकी गहन समस्याओंसे जब तक हम लोगोंके जीवनका सच्चा सम्बन्ध नहीं है, तब तक हम उसमें जीवनकी यथार्थता नहीं पाते। इसी लिए उपन्यासोंकी गहन समस्याएँ ऐसी होनी चाहिए कि पाठक उन उपन्यासोंमें कथा-रसके साथ-साथ अपने भी जीवनके सम्बन्धमें कुछ सोचने और समझनेकी बात पा सके। औपन्यासिक पात्रोंकी वे समस्याएँ उनकी अपनी ही समस्याएँ हो जाती हैं और तब उनके कारण उनके मानसिक जगत्‌में भी एक हलचल उत्पन्न हो जाती है। तभी वे यह जाननेके लिए उत्सुक हो जाते हैं कि उपन्यासकारने उनकी उन समस्याओंका समाधान किस प्रकार किया। जब तक यह नहीं होता, तब तक उपन्यासकारके कल्पित पात्रोंकी कल्पित समस्याओंसे पाठकोंकी सहानुभूति नहीं होती।

संसारमें सुख और दुःख है, विलास और दैन्य है, पाप और पुण्य है। इनके सम्बन्धमें हम लोगोंको कोई सन्देह नहीं होता। हम लोग जीवनमें विषमताका भी अनुभव करते हैं, पर अपने सभी कष्टों, विषमताओं और

विपत्तियोंके भीतर हम लोग अपने जीवनमें एक गरिमाका भी अनुभव करते हैं। यदि जीवनमें किसी प्रकारकी गरिमाका भाव ही न रहे, तो जीवनको नष्ट करनेमें हम लोगोंको संकोच नहीं होगा। परन्तु साधारणसे साधारण व्यक्तिके लिए भी उसका जीवन स्पृहणीय होता है। इसके दो कारण हैं, एक तो यह है कि वह सभी स्थितियोंमें गरिमाका अनुभव करता है, दूसरा यह कि जीवनमें एकमात्र कष्टोंकी कटुता ही नहीं है, प्रेमकी सहिष्णुता भी है। प्रेमकी कथाओंसे उनके हृदयमें तब तक सन्तोषका भाव उत्पन्न नहीं होता, जब तक उन्हें उन कथाओंमें ऐसी कोई बात नहीं मिलती, जिससे वे अनिर्वचनीय तृप्तिका अनुभव करें। किस उपन्यासमें कौन आदर्श स्थापित करनेका प्रयास किया गया है, और वह आदर्श वर्तमान समाज अथवा राजनीतिके क्षेत्रोंकी माँगोंके अनुकूल पड़ता है या नहीं, इन विवेचनाओंकी ओर उपन्यास-प्रेमी पाठक ध्यान नहीं देते। इसलिए ऐसी विवेचनाओंका कोई विशेष मूल्य उपन्यासोंमें नहीं होता। उपन्यासोंमें भिन्न-भिन्न पात्र अपनी रुचियों, अनुभवों और परिस्थितियोंके आधारपर जो लम्बी-चौड़ी बातें करते हैं या विवेचनात्मक विवाद करते हैं, उनसे केवल उनके चरित्रोंका अंशतः स्पष्टीकरण होता है। उन्हींको महत्त्व देनेसे कथाकी गरिमा नहीं बढ़ती। घटनाओंको पढ़कर मनुष्योंके विचार बदलते हैं, रुचि बदलती है, विश्वास बदलते हैं और उनके आदर्श भी बदल जाते हैं। उनमें भावोंका वैपरीत्य भी हो जाता है। प्रेम घृणामें परिणत हो जाता है; प्रतिहिंसा दयाका रूप धारण कर लेती है; विद्वेष, स्नेह बन जाता है; पापकी हीनता पुण्यकी गरिमामें परिवर्तित, हो जाती है। इसी लिए 'उल्का' के समान उपन्यासोंके भीतर भावुकतापूर्ण उद्‌गारों और तर्कपूर्ण विवेचनाओंका उतना प्रभाव पाठकोंपर नहीं पड़ता जितना पात्रोंकी जीवन-घटनाओंके साथ उनके चरित्रका मेल करा देनेसे। जहाँ यह मेल स्वाभाविक रूपसे नहीं होता, वहीं कथा पाठकोंको विरक्तिजनक हो जाती है। हिन्दीके अधिकांश उपन्यासोंमें इसी गुणका अभाव है, जिसके कारण उनमें कथा रसकी पुष्टि नहीं होती है।

२

आधुनिक युगमें सामायिक साहित्यकी इतनी वृद्धि हो रही है कि साहित्य-पाठके संबंधमें कितने ही विज्ञोंने अपने विचार प्रकट किए हैं। यह तो स्पष्ट है कि सामायिक साहित्यका अधिकांश भाग अस्थायी होता है, परन्तु वह उपेक्षणीय नहीं होता। किसी भी युगमें जो विचार-धारा प्रवर्तित होती है, उसका प्रचार सामयिक साहित्यके द्वारा ही होता है। आधुनिक युगमें जो नव विचार-धारा फैल रही है, उसका भी प्रमुख साधन सामयिक साहित्य है। बेन्सन नामक एक विज्ञका कथन है कि सामायिक साहित्यमें समकालीन लोगोंकी जीवन-गाथाएँ विशेष महत्त्वपूर्ण होती हैं, क्योंकि उन्हींसे पाठकोंको अपने युगकी भिन्न-भिन्न विचार-धाराओंका ज्ञान हो जाता है। फिर भी अधिकांश जीवन-गाथाओं और आत्मकथाओंमें कर्मक्षेत्रकी जितनी चर्चा होती है, उतनी भावक्षेत्रकी नहीं होती। पर भाव-जगत्में ही कर्मक्षेत्रकी सच्ची प्रेरणा-शक्ति रहती है। यह भाव-जगत् जितना ही रहस्यमय होता है, उतना ही जटिल भी। बाल्यकालसे लेकर वृद्धावस्था तक मनुष्योंके अंतर्जगत्में प्रतिदिन भावोंका विलक्षण उत्थान-पतन होता रहता है। उसका विशद विवरण आत्म-कथाओंमें भी सम्भव नहीं है। उनमें भी बहिर्जगत्की जितनी यथार्थता रहती है, उतनी अंतर्जगत्की सत्यता नहीं रहती। फिर भी यह सच है कि स्वयं एक व्यक्तिके लिए अपने अंतर्जगत्की बातें जितनी यथार्थ होती हैं, उतनी बहिर्जगत्की कोई महत्त्वपूर्ण घटना भी सच नहीं होती। इसीलिए साहित्यके क्षेत्रमें उपन्यासोंका एक विशेष स्थान हो गया है। उपन्यासका जगत् कल्पनाका जगत् होता है। उसके पात्र कल्पित होते हैं, पर उसमें भाव-जगत्की यथार्थता रहती है। कल्पित पात्रोंके कल्पित जीवनमें भी युगकी भावना प्रत्यक्ष हो जाती है। यह सच है कि उपन्यासमें किसी एक व्यक्तिकी ही जीवन-कथा रहती है। अपने-अपने जीवन-नाटकके मुख्य अभिनेता सभी व्यक्ति होते हैं, पर उनका व्यक्तिगत जीवन सबके साथ ऐसा सम्बद्ध रहता है कि वे किसी भी प्रकार अपनेको विश्वकी जीवन-लीलासे पृथक् नहीं कर सकते। वे एक तटस्थ दर्शक रूपसे निरपेक्ष होकर अन्य लोगोंकी जीवन-लीलाओंको नहीं देख

सकते। व्यक्तिकी यही सबसे बड़ी विशेषता है कि एक स्थानमें वह सबसे पृथक् हो जाता है और दूसरे स्थानमें वह सबके साथ सम्बद्ध हो जाता है। वह एक होकर भी परिवार, समाज और राष्ट्रकी रचना कर अनेक बन जाता है; पर अपने व्यक्तित्वको वह किसी भी रूपमें खो नहीं देता है। उसीके लिए उसमें त्यागकी वृत्ति होती है और प्राप्तिकी लालसा भी। इसीलिए विश्वके कर्मक्षेत्रमें उसे संघर्ष करना पड़ता है और सहयोग भी। उसमें प्रेम रहता है और विद्वेष भी। उसमें सहानुभूति होती है और घृणा भी। भावोंके वैपरीत्यके कारण सभी मनुष्योंका जीवन संघर्षसे परिपूर्ण रहता है। आत्म-कल्याणके लिए वह स्वेच्छासे आत्म-नियन्त्रण स्वीकार कर समाजका शासन निर्मित करता है और आत्म-कल्याणके पथपर बाधा होनेसे वह समाजके प्रति विद्रोह भी करता है। वह केवल बहिर्जगत्में ही विद्रोह नहीं करता, वह अपने अंतर्जगत्में भी विद्रोह करता है। इसीलिए भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके जीवनमें भिन्न-भिन्न समस्याएँ उत्पन्न होती रहती हैं। उन समस्याओंका संबंध एकमात्र बहिर्जगत्से ही नहीं रहता, अंतर्जगत्से भी रहता है। बाहर शान्त और सुव्यवस्था रहने पर भी भीतर भावोंकी एक प्रचंड आँधी बह सकती है और उसके कारण मनुष्यका जीवन अस्तव्यस्त हो जाता है। आधुनिक उपन्यासकार व्यक्तिके जीवनमें उसके इसी संघर्षका विवरण देते हैं। तभी सत्यका यथार्थ रूप लक्षित हो जाता है।

मनुष्यकी सामाजिक प्रवृत्तियोंका ऐतिहासिक विश्लेषण हो सकता है, पर उसकी मानसिक कामनाओंका विश्लेषण बड़ा जटिल है। इसीलिए वह सदैव अपने लिए एक स्वप्न-जगत्का निर्माण करता है। उपन्यास भी उसी स्वप्न-जगत्की कथा है। इतिहासका सम्बन्ध राष्ट्रसे है, उपन्यासका व्यक्तिसे। संसारमें कितनी ही बड़ी-बड़ी घटनाएँ होती हैं, जिनके कारण विश्वका कर्मक्षेत्र विक्षुब्ध हो जाता है। पर सभी व्यक्तियोंके जीवनपर उनका प्रभाव समान रूपसे नहीं पड़ता। 'वनफूल' ने अपने 'स्वप्न-संभव' नामक उपन्यासमें यतीनकी कथामें इसी बातको स्पष्ट किया है। 'यतीन' समाचार-पत्रोंमें हिन्दू-मुसलमानोंके दंगेका समाचार पढ़ उद्भ्रान्त हो उठा। वह सोचने लगा कि क्या अब मनुष्यत्व विलुप्त हो उठा है? दंगेके

कारण उसके लिए सारा वायुमंडल विषाक्त हो उठा था। परन्तु सर्वसाधारण इन बातोंका क्या अर्थ समझेगा? मझली दीदीको देशकी बात सोचनेकी शक्ति कहाँ है? अपनी अति क्षुद्र दैनिक कार्य-प्रणालीकी अत्यन्त छोटी-छोटी बातें ही उनके लिए एकमात्र सत्य हैं। उनके अपने दुःखोंका अन्त ही नहीं। यतीन स्वयं जिस स्वप्न-लोककी सृष्टि कर उसीको सत्य समझ बैठा है और उसपर विश्वास रखता है, वह रूढ़ वास्तविकताके आघातसे बार बार चूर्ण-विचूर्ण हो जाता है। उससे उसे जो कष्ट होता है, उसको कौन समझेगा और किसे वह समझावेगा? केवल मझली दीदीकी ही बातें नहीं, मध्य-वित्त बंगाली जीवनके ग्लानिजनक चित्रके टुकड़े बीच-बीचमें आकर उसके स्वप्न-लोगको म्लान कर डालते थे; परन्तु वह स्वप्नको छोड़कर और किसी चीजकी सृष्टि नहीं कर सकता था। वास्तविकताके आघातसे वह स्वप्न भी अक्षुण्ण नहीं रह पाता था। वह सोचता था कि जीवनके प्रतिक्षणमें जो बातें घटी हैं, घटती हैं और घटेंगी — उनका चित्र अंकित करनेके लिए उसके पास यथेष्ट रंग ही कहाँ? यह तो नाटक ही नहीं, महानाटक है। अतीत, वर्त्तमान तथा भविष्यत् इस नाटकके दृश्य-पट हैं। इन्द्रिय-ग्राह्य एवं इन्द्रियातीत सभी कुछ इसके पात्र-पात्री हैं। यही लिखकर क्या इसका शेष किया जा सकता है? विस्तृत नीलाकाशमें मेघोंका क्या ही अपूर्व अस्तर है, वहाँ क्या कोई नाटक हो रहा है? एक अदृश्य नाटकका अद्भुत अभिनय उसकी आँखोंके सामने अभिनीत होने लगा। इतनी देर तक वह समझ नहीं सका था कि वह स्वयं भी एक अभिनेता है, अनजाने नाटक कर रहा है। इस बार जानकर वह अपना पार्ट अदा करने लगा। इसमें संदेह नहीं कि यह सारा भू-मण्डल एक व्यक्तिके लिए केवल रंगस्थल मात्र है। उसमें वही मुख्य पात्र है। वह अपने ही सुख-दुःखसे अपने जीवनका यथार्थ मूल्य निर्दिष्ट करता है और अपने जीवनके उसी मूल्यसे विश्व-जीवनकी महत्ता या हीनताको स्वीकार करता है। सभी व्यक्तियोंकी जीवन-गाथाओंमें मनुष्यत्वका यही सच्चा रूप प्रदर्शित होता है। सच्चा उपन्यासकार भी देश और समाजकी विभिन्न परि-स्थितियोंके भीतर अपने पात्रोंके व्यक्तित्वका विकास करता है। उसमें देश और काल गौण होते हैं, व्यक्ति प्रमुख होता है। उसके अपने जीवनके विकासमें

देश और कालका जो प्रभाव पड़ता है, उसका प्रदर्शन तो उसमें अवश्य होता है; पर अपने व्यक्तित्वके कारण चरित्रका उत्थान-पतन होनेसे वह जिस गौरव या हीनताको प्राप्त करता है, उसीकी अनुभूति पाठकोंके लिए मुख्य होती है।

'बर्जीनिया उल्फ' नामकी एक लेखिकाने अपने एक लेखमें लिखा है कि उपन्यासोंको पढ़नेके लिए भी एक विशेष कलाकी आवश्यकता होती है। वह कठिन होती है और जटिल भी। बात यह है कि पाठकोंमें भी कथा-रसकी सच्ची अनुभूतिके लिए एक विशेष कल्पना-शक्ति और सूक्ष्म दृष्टि चाहिए। तभी वह उपन्यासोंके कल्पित पात्रोंको ऐसा अपना लेता है कि वे उसके लिए चिरपरिचित व्यक्ति हो जाते हैं। यही कारण है कि किसी एक उपन्यासको पढ़ते समय पाठकोंको अन्य उपन्यासोंके कल्पित पात्रोंका स्मरण हो आता है और उनकी तुलनाकर जीवनकी यथार्थताको अनायास ही समझ लेता है। तभी पात्रोंकी सजीवता भी लक्षित होती है। यह सच है कि हिन्दीके आधुनिक उपन्यासकारोंकी अधिकांश कृतियोंमें सच्ची रसानुभूति प्राप्त करनेके लिए साधारण पाठकोंको एक विशेष कठिनता अवश्य होती है। कितने ही विज्ञोंकी मार्मिक आलोचनासे वह कठिनता कम नहीं होती, बढ़ ही जाती है। हिन्दीके आधुनिक उपन्यासकारोंमें अंचलजीका एक विशेष स्थान हो गया है। कितने ही विज्ञोंने उनके उपन्यासोंकी मार्मिक आलोचनाएँ की हैं। उनमें मतभेद भी है। कथा-साहित्य और काव्य-साहित्यके संबंधमें जितना मतभेद होता है, उतना अन्य विषयोंके ग्रन्थोंके संबंधमें नहीं होता। बात यह है कि काव्य और कथामें हम अपनी रुचिका जितना अनुसरण करते हैं, उतना अन्य विषयोंके ग्रन्थोंमें नहीं करते। काव्यों और उपन्यासोंकी सफलता भी तभी लक्षित होती है जब वे विशेष लोकप्रिय हो जाते हैं। परन्तु एकमात्र लोकप्रियताके आधारपर किसी श्रेष्ठ कलाकी कृतिका यथार्थ गौरव निश्चित भी नहीं किया जा सकता। लोकरुचिके परिवर्त्तनके साथ लोकप्रियता भी विलुप्त हो जाती है। पर इसमें सन्देह नहीं कि कथाकी विशेषता तभी लक्षित होती है, जब वह पाठकोंको तन्मय कर देती है। अंचलजीके औपन्यासिक पात्र चाहे विद्रोहका झण्डा खड़ा करें या उदात्त भावोंसे युक्त होकर अपने आदर्शकी रक्षा करें, यदि उनकी कथामें पाठक तन्मय हो गए, तो कथाकारके

रूपमें उनकी सफलतामें सन्देह नहीं किया जा सकता। अंचलजीके उपन्यासोंके संबंधमें श्री धर्मवीर भारतीने लिखा है कि उनके सभी उपन्यासोंकी कथा तथा भूमि निम्न मध्यवर्ग है और उनके पात्र रूढ़िग्रस्त सामाजिक अनुशासनके विरुद्ध विद्रोह करते हुए अंतमें एक विराट् आन्दोलनमें अपने विद्रोहको समाहित कर देते हैं। वास्तवमें आजके निम्न वर्गकी नैतिक कुण्ठाओंसे उद्भूत वैयक्तिक विद्रोहके लिए यही एक स्वस्थ दिशा हो सकती है। अतएव पाठकोंको अंचलजीकी इसी विशेषतापर ध्यान रखकर उनके उपन्यासोंको पढ़ना चाहिए, तभी उनकी कलाकी कुशलता उन्हें ज्ञात हो जायगी।

अंचलजीका सबसे नया उपन्यास है 'मरुप्रदीप'। धर्मवीर भारतीजीके शब्दोंमें अंचलजीने जो समस्या इसमें उठाई है, उसके प्रति वे पूर्णतया जागरूक हैं। उन्होंने उसका ऐतिहासिक विश्लेषण किया है। उस समस्याका स्वस्थ जनवादी समाधान भी उन्हें मालूम है। उसकी पृष्ठभूमिमें उन्होंने अपने सभी पाठकोंका तटस्थ अंकन किया है। 'मरुप्रदीप' नामकी सार्थकताके संबंधमें धर्मवीर भारतीने लिखा है जिस निम्न मध्यवर्गका चित्रण अंचलजीने किया है, वह वास्तवमें अब सिवा मरुस्थलके और क्या है, जिसका जर्रा-जर्रा बिखर चुका है। रस और जलके नामपर जहाँ केवल मृगतृष्णाएँ हैं, मरीचिकाएँ मात्र हैं, उस धरातलपर चलनेवाली निष्पाप आत्माएँ गहरे अन्धेरेमें भटक रही हैं। कथाकारने उनके पथ-प्रदर्शनके लिए एक दीप बालुकी वेदिकापर स्थापित किया है। यह दीप उनके मार्ग प्रशस्त करेगा। उन्हें एक नए जनवादी समाधानकी ओर ले चलेगा।

'मरुप्रदीप' की समस्या और उसके जनवादी समाधानको समझनेके लिए उसके कथा-भागकी ओर पाठकोंको ध्यान देना होगा। आधुनिक भारतवर्षकी कितनी ही समस्याएँ हैं—आर्थिक, नैतिक, बौद्धिक, और सामाजिक। बात-चीतके रूपमें उपन्यासके प्रमुख पात्रने उन सभीकी चर्चा की है। सच पूछिए तो उपन्यासका अधिक अंश ऐसी चर्चाओंसे ही पूर्ण हुआ है। पर उपन्यासका मुख्य विषय है हिन्दू-विधवाके जीवनकी समस्या। उसीपर कथा निर्मित हुई है। कथा-वस्तुमें कोई असाधारणता नहीं है। शान्ति एक विधवा युवती थी। उसकी उम्र बाईस वर्षकी हो गई थी। विमल उसका मुँहबोला

भाई था। वह कालेजमें प्रोफेसर था। वह विवाहित था। उसकी स्त्रीका नाम था उषा। अपने इस मुँहबोले भाई और भाभीके पास पहुँचकर शान्ति सब कुछ भूल जाती थी। एक बार अपने भाई विमलको साइकिलपर आते देख, वह जमीनपर कूदकर ताली बजाकर कहने लगी, भैया आ गए, और उनसे शिकायत करने लगी कि उसका छोटा भाई हरि पाँच-छः घूँसे पीठपर मारकर भाग गया है। बाईस-तेईस वर्षकी शान्तिकी यह शिकायत न सुनकर विमल हँस पड़ा और शान्ति अपने भाईको बुला लानेके लिए कूदती फाँदती आँगनमें पहुँच गई। परन्तु बाईस वर्षकी शान्तिके इस अस्वाभाविक अल्हड़पनपर पाठकोंको उतना आश्चर्य नहीं होता, जितना उसकी बातचीत-पर। उसमें असाधारण गम्भीरता है। किन्तु अल्हड़पनकी यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं रही। शान्ति उसके सामने आनेमें झिझकने लगी। ज्यों ही विमलके कालेजसे लौटनेका समय होता, त्यों ही वह भाग निकलती। भैयाका स्वप्न और उसका जागरण उठते-बैठते, साथ रहते थे। उसका हृदय भैयाके चरणोंपर लोट-लोट जाना चाहता था, पर वह उसके सामने नहीं आती थी। पूछनेपर शान्तिने कहा कि दूरत्वके व्यवधानसे तुम्हारे स्वरूपकी छवि अधिक उज्ज्वल और प्रशान्त हो जाती है। मुझे दूर ही रहने दो; मुझे इससे अधिककी न लालसा है, न अधिकार। परन्तु विमलने कहा, यह तो पलायन है। विमलने उसको समझाया कि विधवा होनेसे नारीका सुखपूर्वक जीनेका अधिकार कहीं नहीं जाता। मैं तुम्हें इस अन्धेपनसे आजाद करूँगा। कुछ दिनोंके बाद जब शान्तिकी सास बीमार पड़ गई, तब उसे ले जानेके लिए उसके ससुर आये। शान्तिने दृढ़ स्वरमें कहा—'मैं यहाँसे कहीं नहीं जाऊँगी।' कालेजसे लौटनेके बाद विमलने भी कहा—'आज स्वार्थ-वश तुम्हारे श्वशुर ले जानेके लिए आये हैं। मैं नहीं समझता कि तुम्हें जाना चाहिए।' शान्तिने कहा—'अब अपने मनका संतोष और संपूर्त्ति मैं किसी तरह खोना नहीं चाहती। मैं तुम्हारे पास यहीं रहूँगी। तुम्हें छोड़कर, लगता है, कहीं न जा सकूँगी।' इसके बाद विमलने इस्तीफा दे दिया। उसने निश्चय किया कि नौकरी करूँगा ही नहीं। पढ़-लिखकर जो कमा सकूँगा, कमाऊँगा। विमलके विदा-आयोजनमें कालेजके सब अध्यापकों और

छात्रोंने भाग लिया। शानदार प्रीतिभोज दिया गया। भैयाकी बहिन होनेके कारण वह भी विमलके साथ उस आयोजनमें गई और फूलोंसे लद गई। वहीं शान्ति विमलके एक प्रिय छात्र कमलाकान्तसे परिचित हुई। इसके बाद शान्ति लड़-झगड़कर माँ-बापके रोकनेपर भी आर्य-कन्या पाठशालामें नौकरी करने लगी। तब विमलसे शान्तिकी भेंट कम होने लगी। विमल इससे विक्षुब्ध हो गया। उसके इस विक्षोभको देखकर एक दिन बातचीतमे शान्तिने कहा—'मेरे जीने-मरनेका सम्बन्ध तुम्हींसे है। मैं तुम्हींसे लिपटी पड़ी हूँ। तन और मनकी सम्पूर्ण तन्मयतासे तुम्हें प्यार करती हूँ। तुम्हें चाहकर अब किसी औरको चाहनेकी अधमता मैं नहीं करूँगी।' विमलने कहा—'क्या मैं तुम्हारे प्रेमका प्रतिदान दे सकूँगा? मैं विवाहित हूँ। अपनी स्त्रीके प्रति मेरा कर्त्तव्य है। मुझे प्यार करनेमें कोई सार नहीं। प्रेमके संसारमें उषाको छोड़कर मेरे साथ तुम्हारा अस्तित्व कहाँ है? मैं चाहता हूँ, तुम विधियों, निषेधोंमें न खोई रहो। तुम चाहे जिसे प्यार करना, चाहे जिसे घृणा करना।' विमलके इस उत्तरसे पाठकोंको अवश्य आश्चर्य होना चाहिए, क्योंकि कुछ ही क्षण पहले शान्तिके कुछ दिनों तक सिर्फ न आनेके कारण उसने खिन्न होकर कहा था—इस बीरानेमें अकेले चलना अब उतना असंभव नहीं लगता। आठ वर्षका अतीत पीछे छूट जायगा। इसके बाद कमलाकांतके कारण शान्ति सोशल सर्विस लीगमें काम करने लगी। कुछ समयके बाद गर्म शीशे जैसी लालसा उसके पूरे शरीरमें असह्य वेदना पैदा करने लगी। उसने विमलसे कहा—तुम मेरे मनकी पीर क्या जानोगे? विमलने उत्तर दिया—तुम अपने प्यारकी विवशता देखो, उससे जो पाना असंभव है, उसकी तृष्णा क्यों करती हो? किन्तु दिन-रात पुरुषोंके सम्पर्कमें आनेके कारण शान्ति जानने लगी कि आकर्षणमें कैसी आग होती है और कैसा कठिन होता है पुरुषकी आँखका अंगारा। जब विमल कार्यवश कलकत्ता जाने लगा, तब शान्तिने कहा—'तुम्हारे जानेके बाद मेरी वेदना कैसी निष्ठुर हो जायगी, कह नहीं सकती।' विमलने कहा—मैं तुम्हारा ही हूँ, बिलकुल तुम्हारा। जीवित तुम्हारा, मरनेपर तुम्हारा। दूर रहूँ या पास रहूँ, शरीर तुम्हारा नहीं, मेरा भी नहीं; पर यह अकम्पित मन, इसे कौन लेगा? परन्तु उसका यह मान-

सिक भाव कार्यरूपमें कभी प्रत्यक्ष नहीं हुआ। उसे स्वयं लोक-निन्दाका भय था। शान्तिके लिए विधि-निषेधका अर्थ नहीं था, पर वह स्वयं उससे बद्ध था। उसके जानेके बाद एक दिन कमलाकांतने शान्तिका हाथ अत्यन्त स्नेहपूर्वक अपने हाथोंमें लेते हुए कहा—जिन्दगी खंडित हो जानेके लिए नहीं। उस समय शान्तिने न जाने क्यों बड़े आवेग-भरे यत्नसे कमलाकांतके हाथोंमें दबे अपने स्वेदसिक्त हाथोंको नहीं खींचा। उसके मनके तूफानकी सीमा न रही। कमलाकान्तने उसके कन्धेपर अपना सिर रखकर कहा—इस स्वर्गीय उत्तेजनाको पाप कहना कितना बड़ा पाप है! शान्ति उसकी छातीकी सजीवतामें आश्रय ढूँढ़ती बोली,—पर इसका अंत कहाँ होगा? परन्तु जब कमलाकान्त उत्तेजनासे विकल हो उठा, तब वह छटपटाती चीखकर बोली—'छोड़ दो, छोड़ दो मुझे।' वह घर आ गई। विमलके घर लौटने पर रोते-रोते उसने सारी बातें बता दीं। उसने कहा—मुझे इस आगसे तुम क्यों नहीं उबारते? विमलने कहा—तुम इसे असंयम और कदाचार क्यों कहती हो? यह वासनाका कलुष नहीं है, जीवनका प्रवाह है। परन्तु कमलाकान्तके कृत्यका अनुमोदन उन्होंने नहीं किया। उन्हें लज्जा हुई कि उन्होंने ऐसे अनधिकारी व्यक्तिके सम्पर्कमें शान्तिको सौंप दिया। अन्तमें विमलने उससे कहा—न जाने किन पुण्योंका प्रभाव है, जो मुझे तुझ-सी बहिन मिली। यह कहकर विमलने शान्तिके पैरोंपर अपना सिर रख दिया। शान्तिने कहा—'अब तुम बराबर मेरे हृदयमें गूँजते रहो।' फिर वह विमलके पास नहीं आई। हरिने आकर बतलाया कि वह अपनी ससुराल जा रही है। जब वह जानेके समयमें अपने भैयाको प्रणाम करने आई, तब उसने कहा—अब सारे दुःख-दुर्भाग्यकी उपेक्षा कर सकती हूँ। अपराध क्षमा कर देना। यह यन्त्रणा कभी और न भोगनी पड़े, यह आशीष मैं तुमसे चाहती हूँ।' फिर हाथ जोड़कर शान्ति चली गई। यहीं कथाकी समाप्ति हो गई है।

सारा उपन्यास पढ़ जानेके बाद साधारण पाठकोंकी समझमें सचमुच यह नहीं आता कि आखिर समस्या क्या थी और उसका जनवादी समाधान किस प्रकार हुआ। यह भी समझना कठिन है कि निष्पाप आत्माओंके पथ-प्रदर्शनके

लिए कथाकारने कौन-सा दीप बालूकी वेदिकापर स्थापित किया है। विमलका कहना था कि स्वतंत्रताके अर्थ होते हैं, बड़ीसे बड़ी गलती कर सकनेका अधिकार। उस अधिकारका उपभोग न तो विमलने किया और न शान्तिने। यदि कमलाकान्तने उन्हींके सिद्धान्तके अनुसार शान्तिके साथ व्यवहार किया, तो वह अक्षम्य कैसे हो गया? यह भी स्पष्ट नहीं होता कि विमल चाहता क्या था। उसे विधवा कहकर आजीवन बाँझ बना देनेवाले झूठे विधानसे नफरत थी। आध्यात्मिकताके लिए वह नशेबाजके अतिरिक्त कोई शब्द नहीं कह पाता था। एक जगह विमलने स्पष्ट रूपसे कहा कि शान्तिका पुनर्विवाह करना या माँ बनना उसके लिए गौण था। उसके सामने प्रमुख था शान्तिका मानवीय नव-जन्म। वह चाहता था कि शान्ति जीवनको उसके रूपमें अपनावे। दूसरे स्थानमें उसने कहा है—मेरी आत्मामें दरार पड़ गई। मैं चाहता हूँ कि तुम विवाह करो, अपनेको सार्थवती करो। तुम जीवन सृजनका अनुवर्त्तन करो। नारीके माता बननेका अधिकार छीननेवाला किस शास्त्र-साधनाकी दुहाई देगा? अब देखा नहीं जाता। इतना अव्यवस्थित, उत्साह-हीन, अनुतप्त मैं कभी न था। तुम्हें फैसला करना है, परन्तु जब अपनी घृणित लिप्सा या नारकीय आसक्तिके लिए शान्तिको असीम वेदना होने लगी, तब विमलके भीतर कर्त्तव्य और प्रेमकी बेदाग प्रेरणा पूरे वेगसे उभड़ी। जो बात उसके निकट इतनी साधारण ही नहीं, नैसर्गिक और जीवन-विज्ञानानुमोदित थी, उसीको लेकर केवल उसके आभास मात्रसे कोई सतवन्ती अपार अखण्ड दुख पा सकती है, यह उसके लिए कल्पनातीत था। उन्होंने स्वीकार किया, तुम जितनी घृणा करना चाहो, मुझसे करो। मैंने तुम्हारे भीतर यह आग लगाई है, पर तुमने स्वर्गके सौरभसे मुझे भर दिया। उन्होंने मान लिया कि पवित्रताके प्रति नारीका हृदय श्रद्धा और अनुरागसे परिपूर्ण रहता है। परन्तु शान्तिका दमन उसके लिए केवल मानसिक गुलामीका ही रूप रहा। उसने कहा कि ऐसे दमनका कोई नैतिक आधार नहीं। दमनसे विश्वासों और सिद्धान्तोंको नहीं कुचला जा सकता। ऐसे बलिदानका मूल्य आत्महत्यासे अधिक नहीं। मनकी प्रमादी मोहावस्था वह है। फिर भी उसे विवाह करनेके लिए उन्होंने नहीं कहा—इसीलिए यह कहना बड़ा कठिन हो जाता है कि जब शान्ति

विमलको छोड़कर ससुराल चली गई, तब विमलको विक्षोभ हुआ या संतोष।

हिन्दू-समाजमें विधवाका जीवन एक समस्याके रूपमें अभी तक विद्यमान है। कितने ही सामाजिक उपन्यासोंमें उसकी चर्चा की गई है। बंकिम बाबूने 'विषवृक्ष'में विधवाका विवाह करा दिया था, परन्तु उसका अंत दुःखमय ही प्रदर्शित हुआ। 'आँखकी किरकिरी'में रवीन्द्र बाबूने एक विधवाकी उद्दाम कामनाके वेगका वर्णन किया है, परन्तु उसका अन्त विवाहमें नहीं हुआ। जिस कामनाके उद्दाम विस्फोटके कारण मायाने अपनी सखीके शान्ति और सुखसे पूर्ण जीवनमें अशान्ति और अव्यवस्था ला दी, उस कामनाका सहसा ऐसा विलोप हो गया कि उसने अपने प्रेमपात्र बिहारीके साथ विवाह करना अस्वीकार कर दिया। प्रेमचन्दजीने अपने प्रेमा या प्रतिज्ञा-पालन नामक उपन्यासमें विधवाओंका विवाह कराया है, परन्तु उन्हींके एक दूसरे उपन्यासमें बाल्यकालके प्रेमकी दृढ़ता रहने पर भी विधवाने अपने मृत पतिकी स्मृतिमें ही अपना वैधव्य जीवन व्यतीत करनेका निश्चय किया। पतिके अत्याचारके विरुद्ध विद्रोहकी भावना तो कितनी ही सधवा नायिकाओंमें प्रकट हुई है। पतिका परित्याग कर सधवा स्त्रीने दूसरे लोगोंका आश्रय लिया है। परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि अधिकांश उपन्यासोंकी नायिकाओंमें अपने प्रेमी जनोंके प्रति प्रेम रखकर भी विवाहके लिए व्यग्रता नहीं प्रदर्शित हुई है। 'श्रीकान्त' की राजलक्ष्मीने भी श्रीकान्तकी पूर्ण सेवाके बाद भी उसके पत्नीत्वको स्वीकार नहीं किया। अचलजीके 'मरुप्रदीप'में विधवा जीवनका कोई समाधान नहीं हुआ। विमलके विचार केवल विचार मात्र रह गए। कर्मक्षेत्रमें उनकी विरोध-भावना कार्यरूपमें कहीं भी प्रकट नहीं हुई। सात वर्षों तक विमलने शान्तिको नारी-स्वातंत्र्य और विद्रोहकी जो शिक्षा दी, उसका जो अंतिम परिणाम हुआ, वह मानो उनके विचारकी क्रूर विडम्बनाका सूचक था। विमल केवल एक स्वप्नद्रष्टा अथवा विचारक ही हैं। उनकी सारी विद्रोह भावना केवल विचार-जगत्में परिमित रही।

एक अंशमें श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशीके स्वप्नद्रष्टा सुदर्शनके साथ अंचलजीके विमलकी तुलना की जा सकती है। सुदर्शनका लक्ष्य था देशोद्धार, विमलका उद्देश्य था समाजोद्धार। पर दोनोंके उद्देश्यका एक ही परिणाम

हुआ। विमलको अपने विचारोंकी प्रेरणाके लिए शान्ति मिल गई और सुदर्शनको धनी बहिन। मुंशीजीने लिखा है कि जब सुदर्शन अंबालालकी धनी बहिनसे परिचित हुआ, तब कुछ ही समयके बाद सबसे अधिक स्थान धनी बहिन लेने लगी। स्त्रीके सामने हृदय खोलना पुरुषको मोक्षसे भी अधिक आकर्षक मालूम होता है, सच्चिदानंदसे भी अधिक आह्लादक मालूम होता है। पर स्त्री यदि शिष्या हो, यदि वह पुरुषको पूजती हो, यदि त्रुटि देखना उसे पसन्द न हो और उसमें स्वतंत्र विचार-वृत्तिका कौशल न हो, यदि पुरुष-द्वारा रचित शब्दजालकी मोहिनीके वशीभूत होनेकी निर्बलता उसमें हो, तो वह पुरुषको क्षणभरके लिए प्रेरणा प्रदान करती है, उसके व्यक्तित्वको विकसित करती है, उसके संस्मरणको महाकाव्यका रूप प्रदान करती है, उसके भावीको भव्य बनाती है, उसे ऐसी प्रचण्ड महत्ताका भान कराती है कि उसकी मानवता स्वाभाविक रूपका तिरस्कार कर दैवी विस्तारको प्राप्त होती है और क्षणभरके लिए वह देवोंकी बराबरीका बना हो, ऐसा मानने लगती है। क्या कोई कह सकता है कि यदि मेरी मोडलीन न होती, तो ईसा मसीह सचमुच पैगम्बर हो सकता था? मुंशीजीने सुदर्शन और धनी बहिनके संबंधमें जो ये बातें लिखी है, वे विमल और शान्तिके संबंधमें भी चरितार्थ होती हैं। शान्तिके लिए विमल सब कुछ था और विमलके लिए शान्ति सब कुछ थी। विमलके लिए भी शान्ति सामान्य लड़की नहीं थी। उसने भी उसकी आँखोंमें अगाध गांभीर्य देखा और उसकी वाणीमें अभूतपूर्व प्रेरणा सुनी। उपन्यासके अन्तमें जब सुदर्शन तीन वर्ष तक विलायतमें रहनेके बाद धनी बहनसे मिलनेके लिए गया, तब दीपकके प्रकाशमें उसे एक विचित्र उल्लासका प्रोत्साहन जान पड़ा। तीन वर्षकी अशक्ति जाती रही। स्वप्न-द्रष्टाकी दृष्टिसे उसको एक लड़का, एक लड़की भीष्मप्रतिज्ञा लेते हुए दिखाई दिए। सुदर्शनके रक्तमें अपरिचित प्रफुल्लता आ गई। उसी समय एक संस्काररहित आवाजने पूछा—कौन हो भैया? क्या काम है? सुदर्शनने सिर ऊँचा किया। एक लड़की अथवा एक स्त्री दरवाजेमें खड़ी थी। उसके बाल बिखरे हुए थे। निर्बलताके काले दाग उसकी बड़ी-बड़ी आँखोंके आस-पास थे। उसका मुँह जीर्ण और निस्तेज था। उसके अंचलके नीचे एक बच्चा था। वह सुदर्शनको पहचान

न सकी। सुदर्शनने उसको देखा, उसने कहा, मैं कल आऊँगा। दो छलांगमें वह दरवाजेके बाहर निकला। एक जंगली क्रूर विडम्बना करते हुए हास्यने सारा वातावरण अमानुषी कर दिया। कौन कह सकता है कि यदि कुछ वर्षोंके बाद विमलसे शान्तिकी भेंट हुई होगी, तो दोनोंकी स्थितिमें भी वैसा ही विलक्षण भाव-परिवर्त्तन न हुआ होगा? कौन जाने प्रौढ़ावस्थाकी चिन्तासे जर्जर और निस्तेज तथा पाँच-छः बालकों और बालिकाओंके पालन-पोषणके भारसे पीड़ित पिता होनेके कारण जीर्ण-शीर्ण विमलको देखकर शान्ति भी उसे न पहचान सकी हो? कौन कह सकता है कि विमलके तारुण्यकी उद्दाम विद्रोह-भावना वृद्धावस्थाकी शिथिलतामें परिवर्त्तित होकर कर्कशता न बन गई हो? लेखकने जहाँ उपन्यासका अन्त कर दिया है, वहाँ न तो उसके जीवनका अन्त हुआ है और न शान्तिके जीवनका। ऐसी अवस्थामें कौन कह सकता है कि तारुण्यके प्रभात कालमें जो भावका माधुर्य रहता है, वह वृद्धावस्थाके नैराश्यपूर्ण अन्धकारमें बना रह सकता है?

'मरुप्रदीप' की कथा-वस्तुकी तुलना शरत् बाबूके 'पथनिर्देश' नामक उपन्याससे भी की जा सकती है। दोनोंकी कथा-वस्तुमें एक समता भी है। हेम भी गुणेन्द्रको उसी तरह भैया मानती थी, जिस प्रकार शान्ति विमलको भैया समझती थी। हेमकी माँ सुलोचनाने गुणेन्द्रके यहाँ आश्रय लिया था, इसीलिए वह गुणेन्द्रकी माँ हो गई और हेमकी बहिन। परन्तु गुणेन्द्र और हेमके हृदयमें प्रेमकी भावना उत्पन्न हो गई थी। सुलोचना उसे जान गई थी। यदि वह चाहती, तो हेमका विवाह गुणेन्द्रसे कर देती। केवल समाज-का विचार कर उसने हेमका विवाह अन्यत्र निश्चित किया। हेमने रोते रोते गुणेन्द्रसे कहा—तुम्हारे पैर पड़ती हूँ गुणी भैया, तुम इस संबंधको तोड़ दो। परन्तु वह संबंध टूटा नहीं, एक रईसके घर हेमका विवाह हो गया और सोलह वर्षकी अवस्थामें ही वह विधवा होकर गुणेन्द्रके घरमें फिर आ गई। अपने अन्तिम समयमें सुलोचनाको अपनी कृतिके लिए पश्चात्ताप हुआ। उसने गुणेन्द्रसे कहा—मैं खूब जानती हूँ कि तू किसी दिन हेमको प्यार करता था। एक बार और कोशिश करे, तो क्या उसे फिर प्यार नहीं कर सकेगा? गुणेन्द्रने कहा—उसे तो चिरकालसे प्यार करता हूँ माँ; तब भी करता था, अब भी

रता हूँ। सुलोचनाकी मृत्युके बाद हेम वैधव्य जीवनकी सब कठोरताओंका ालन करने लगी। उसने गुणेन्द्रसे पूछा—मैं जिस मार्गपर चल रही हूँ, ह क्या ठीक है? गुणेन्द्रने उत्तर दिया—अगर उसमें तुम्हें आनन्द लता हो, शान्ति मिलती हो, तो निश्चय ही वह ठीक मार्ग है। हेमने हा—पर मुझे तो इसमें कुछ भी नहीं मिलता। इसके बाद एक दिन हेम छ बैठी - गुणी भैया, विधवाका विवाह होना क्या अच्छा है? गुणेन्द्रने त्तरमें कहा—पहले यह बताओ कि क्या तुम अपने पतिको प्यार करती थीं? मने कहा—नहीं। तब गुणेन्द्रने कहा—मगर जो सती-साध्वी होती हैं, वे पने पतिसे प्रेम करती हैं। विधवा होनेके बाद भी वे अपने पतिकी स्मृति-क्षा कर दूसरा विवाह नहीं करतीं। तुम्हारी माँकी तरह वे अपने मनमें यह ावना रखती हैं कि मरनेके बाद मैं अपने पतिके पास जा रही हूँ। हेम ोली—मुझे तुम लोगोंने जबरदस्ती बाँधकर ब्याह दिया था; परन्तु मैं भी ती-साध्वी हूँ, क्योंकि मरते समय मैं भी यह भावना रखूँगी कि मैं तुम्हारे ास जा रही हूँ। हेम गुणेन्द्रको कितना प्यार करती थी, इस बातको गुणेन्द्र ूरे विश्वासके साथ जानता था। वह स्वयं भी उसे प्यार करता था। परन्तु उस समय उसके मुँहसे साफ-साफ सुनकर भी वह किसी भी तरह अपने मनकी बात नहीं कह सका। अंतमें जब उसने कहा कि तुम्हारे चले जाने पर मैं कैसे जिऊँगा, तब हेम बोली, मैं समझ गई, तुम मुझे दुर्गतिकी ओर खींच ले जाना चाहते हो। वह ससुराल चली गई। वहाँ गुणेन्द्रकी बीमारी और घरकी दुर्व्यवस्थाकी खबर पाकर जब वह गुणेन्द्रके घर आई, तब गुणेन्द्रने अपनी मौसीसे उसका परिचय देते हुए कहा—यह मेरी बहिन है। उसकी यह बात सुनकर हेम औंधी होकर उसके पैरोंपर गिर पड़ी और अपना मुँह छिपाकर रोने लगी। वह बोली—क्या मैं इस दुःखको सह सकूँगी? गुणेन्द्रने कहा—जरूर सह सकोगी। जब तुम यह समझोगी कि प्रेमको महा महिमासे अन्वित करनेके लिए विच्छेदने सिर्फ तुम जैसी अतुल ऐश्वर्यशालिनीके द्वारपर ही आकर हमेशा हाथ पसारे हैं, वह अल्पप्राण क्षुद्र प्रेमकी झोपड़ीमें अवज्ञासे नहीं गया है, तब तुम सब सह सकोगी। प्रेमकी इस महिमाको स्वीकार कर लेनेके बाद जीवनकी सभी वेदनाओंका लोप हो जाता है। वहीं सब समस्या-

ओंका भी समाधान हो जाता है परन्तु यही बात शान्ति और विमलके संबंधमें नहीं कही जा सकती। विमलने सोचा था कि शान्तिको पाकर वह अवश्य कुछ कर जावेगा। एक नया प्रयोग कर समाजकी खोई धाराको दिशाका निर्देश देगा। पर उसके व्यक्तिपर शान्तिका जो अनुराग था, उसे वह अवांछनीय मानता था। वह चाहता था कि वही निष्ठा, वही अनुराग वह उस प्रवृत्तिपूरक जीवनके प्रति दिखावे, जो पग-पग पर उसे अपनी ओर खींचा करता है। स्वयं शान्ति उसीके सहारे अपना जीवन-यापन करना चाहती थी। उसका कहना था, जिधर तुम ले चल रहे हो, उधर प्रेम नहीं, नफरतका राज्य है। मैं इसी आत्म-दाहको बरकानेके लिए तुमसे भागती हूँ। फिर भी शान्ति विमलहीके साथ कलकत्ता जाना चाहती थी। विमल भी उसे अपने साथ ले जाना चाहता था, परन्तु वह यह भी समझता था कि शान्ति मेरे साथ अकेली जायगी तो रहेगी कैसे? वह अपनी स्त्री उषाको भी ले जाना चाहता था। परन्तु उषा नहीं गई और अन्तमें वह ससुराल चली गई। अपनी अपनी इच्छाओंके विरुद्ध शान्ति और विमल दोनोंको पृथक् होना पड़ा। ऐसी स्थितिमें दोनोंकी समस्या ज्योंकी त्यों रह जाती है।

श्री धर्मवीरजीने यह ठीक लिखा है कि उपन्यासोंके पात्रोंमें अपना निजका व्यक्तित्व होना चाहिए। उसी व्यक्तित्वके आधारपर कथाकी गति निर्भर रहती है और कथाका जो अंत होता है, वह पाठकोंको अनिवार्य प्रतीत होता है। एक ही परिस्थितिमें अपने-अपने व्यक्तित्वके कारण भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके द्वारा भिन्न-भिन्न काम होते हैं। औपन्यासिक पात्रोंके प्रति पाठकोंकी जो सहानुभूति हो जाती है, उसका कारण यह है कि उन्हें कथाके विकासमें जरा भी सन्देह नहीं होता। वे उसमें जीवनकी यथार्थता देख लेते हैं। मनुष्य मात्रमें स्वभावकी जो दुर्बलता होती है, उसके प्रति पाठकोंको विरक्ति नहीं होती; परन्तु जीवनकी स्वाभाविक गतिमें विभिन्न भावोंका जो उत्थान-पतन होता है, व्यक्तिमें जो निरन्तर अंतर्द्वंद्व होता है और उसके कारण व्यक्तिके चरित्रमें जो उत्थान-पतन होता है, उन्हींसे पाठक जीवनके यथार्थ गौरव या यथार्थ हीनताकी अनुभूति उपन्यासोंमें प्राप्त कर लेते हैं। सिद्धांत कितना ही, उच्च क्यों न हो, उपन्यासोंमें पाठकोंको जो अनुराग होता है, उसका कारण

सिद्धांत या आदर्शकी महिमा नहीं है। जीवनमें उन सिद्धांतों या आदर्शोंका अनिवार्य परिणाम देखकर ही वे उनका यथार्थ मूल्य निर्दिष्ट करते हैं। स्वयं विधवा-विवाह समाजकी एक समस्या है। परन्तु 'आँखकी किरकिरी' की माया अथवा 'पथनिर्देश' की हेम अथवा 'मरुप्रदीप' की शान्तिकी समस्या उनकी अपनी समस्या है। इनसे विधवा-विवाहका समर्थन हो अथवा न हो, पाठकोंको उन्हीं पात्रोंके चरित्र-विकासके प्रति अनुराग होता है। इसीलिए उपन्यासोंमें उनके चरित्र-निरूपणमें पाठक जब जीवनका स्वाभाविक विकास देखते हैं, तब उनकी यथार्थतामें उनको संदेह नहीं होता। 'आँखकी किरकिरी' और 'पथनिर्देश' के साथ 'मरुप्रदीप' को पढ़नेपर पाठकोंको यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि किनके चरित्र-चित्रणमें अधिक यथार्थता है। उसी यथार्थताके कारण पाठकोंको 'माया' अथवा 'हेम' के प्रति जो सहानुभूति उत्पन्न होती है, वह 'मरुप्रदीप' की 'शान्ति' के प्रति नहीं होती। यही नहीं, 'आँखकी किरकिरी' अथवा 'पथनिर्देश' से उन्हें जो कथारस प्राप्त होता है, वह 'मरुप्रदीप' से प्राप्त नहीं होता।

भिन्न-भिन्न देशों, भिन्न-भिन्न लोगों और भिन्न भिन्न युगोंमें भिन्न-भिन्न आदर्शोंका प्रचार होता है। उन आदर्शोंके भीतर गौरवकी एक भावना विद्यमान रहती है। सभी व्यक्तियोंके हृदयमें गौरवके लिए एक कामना होती है। परन्तु गौरवके संबंधमें सभी व्यक्तियोंकी एक-सी धारणा नहीं होती। किसी न किसी रूपमें अपनी उस महत्त्वाकांक्षाकी पूर्त्तिके लिए सभी व्यक्तियोंको संघर्ष करना पड़ता है। हिन्दू समाजमें जिन बातोंको लेकर आन्दोलन किया जाता है, उन्हींमें जीवनकी समस्याओंका अंत नहीं हो जाता। हिन्दू समाजके अंतर्गत कितनी ही ऐसी जातियाँ हैं, जिनमें विधवा-विवाह प्रचलित है और तलाक प्रथा भी; परन्तु उन जातियोंके भीतर भी नारी-जीवनकी समस्याएँ विद्यमान हैं। शरत् बाबूके कुछ उपन्यासोंमें उन समस्याओंका दिग्दर्शन होता है। 'मोपासाँ' ने अपने एक उपन्यासमें 'जेनो' नामक एक स्त्री-पात्रकी सृष्टि की है, जिसने जीवनमें सदैव सच्चे गौरवके लिए कामना की, पर उसे अपने यथार्थ जगत्में हीनताका ही अनुभव हुआ। उसके पिताकी यह इच्छा थी कि वह अपनी कन्याको सभी सद्गुणोंसे युक्त और सुखोंसे पूर्ण बना दे।

उसका बाल्यकाल सुख और शान्तिके वातावरणमें व्यतीत हुआ। इसके बाद उसका विवाह निश्चित हुआ। जिस व्यक्तिसे उसका विवाह निश्चित हुआ था, उसमें सौन्दर्य था और यथेष्ट आकर्षण। 'जेनी' उसके प्रेममें तल्लीन हो गई। विवाहके बाद कुछ समय तक उसका जीवन सुखके साथ व्यतीत हो गया। परन्तु इसके बाद उसका सुखस्वप्न भंग हो गया। ज्यों ज्यों उसे यथार्थ जगत्की कटुताका अनुभव हुआ, त्यों त्यों उसे अपने पतिसे घृणा होने लगी। वह अपनी मातापर विशेष श्रद्धा रखती थी। परन्तु जब अपनी माताकी मृत्युके बाद उसने उसके कुछ पत्र पढ़े, तब उसने देखा कि उसकी माताके चरित्रका भी पतन हो गया था। तब मनुष्य मात्रकी सत्प्रवृत्तियोंपर उसका विश्वास नहीं रहा। वह सर्वथा निराश हो गई। इसके बाद उसे एक पुत्र हुआ। अपने पुत्रपर उसने अपने हृदयके सारे संचित प्रेमको न्योछावर कर दिया। परन्तु उसका पुत्र भी दुराचारी निकला। उस पुत्रने अपनी माताकी संपत्तिको नष्ट कर दिया। अंतमें उसने अपनी माताको एक पत्र लिखा कि जिस युवतीके साथ वह अपना जीवन व्यतीत कर रहा था, वह एक पुत्र प्रसव कर मर गई। उसने अपनी मातासे प्रार्थना की कि वह उस शिशुका लालन-पालन करे। जेनीने उस शिशुको स्वीकार कर लिया और कहा कि जीवन न तो उतना अच्छा है और न बुरा, जितना लोग समझते हैं। प्रेमके ममत्वने उस वृद्धाकी नैराश्यपूर्ण स्थितिमें भी उसके हृदयमें एक नवीन आशाका संचार कर दिया। 'मैनेडिथ' ने अपने एक उपन्यासमें 'डायना एण्टोनिया' नामक एक पात्रकी सृष्टि की है। उसमें रूपका असाधारण सौंदर्य था और स्वभावकी मधुरता थी। कितने ही युवक उससे विवाह करनेको व्यग्र थे। उसने स्वेच्छासे विवाह किया। परन्तु वह नारी जीवनमें स्वच्छंदता चाहती थी। उसी स्वच्छंदताके कारण उसने सदैव संघर्ष किया। पतिसे उसका विच्छेद हुआ। उसे लोक-निन्दा सहनी पड़ी। अंतमें कितनी ही विषम परिस्थितियोंका अतिक्रमण कर उसे अपने एक भक्त और अनुरक्त प्रेमीसे विवाह करना पड़ा और तब उसने कहा कि क्या विवाहमें ही मेरा अन्त होना चाहिए? सच तो यह है कि प्रेमके त्याग और वासनाकी लोलुपताके कारण नारीके जीवनमें सदैव संघर्ष होता है। तरुणावस्थामें प्रेमके उन्मादके कारण समस्या

उत्पन्न होती है। प्रौढ़ावस्थामें यथार्थ जगत्से संघर्ष होने पर प्रेमकी आशंका और चिंताकी समस्या आ जाती है। अंतमें जब वृद्धावस्थाकी शिथिलता आ जाती है और सारे प्रयासोंकी विफलता स्पष्ट हो जाती है, तब प्रेम ममत्वकी समस्या आती है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें मनकी इन्हीं स्थितियोंमें यथार्थता लक्षित होती है। तरुणी और वृद्धाके मानसिक भावोंमें बड़ा भेद होता है। कौन कह सकता है कि जीवनका यथार्थ मूल्य केवल तारुण्यकी उद्दाम प्रवृत्तिमें ही है?

मुंशीजीने अपने 'स्वप्नद्रष्टा' नामक उपन्यासमें लिखा है: 'स्त्रीके हृदयमें स्वभावजन्य दो इच्छाएँ सदा ही वास करती है। एक इच्छा है पुरुषोंकी प्रशंसा प्राप्त करनेकी। इस इच्छाकी पूर्तिके लिए धनाढ्य स्त्रियाँ बाल सँवारनेमें, मुँह रँगनेमें, विविध रंगकी रेशमी साड़ियाँ खरीदने और पहननेमें, अलंकारके वैविध्यसे सजानेमे सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करती हैं। शिक्षित स्त्रियाँ तेजस्वी गिनी जानेमें, बातचीतसे मुग्ध करनेमें, गुलामीकी परम्पराको जालमें पकड़ रखनेमें विद्वत्ताका व्यय करती हैं। और गरीब और अशिक्षित स्त्री पतिके मित्रोंकी प्रशंसा प्राप्त करनेके लिए भोजन बनाती है, पानी भरती है, परिश्रम करती है, व्रत करती है, बच्चोंका पालन-पोषण करती है। और दूसरी इच्छा शांति प्राप्त करने व शांति प्रदान करनेकी रहती है। यह इच्छा बहुत बार स्पष्ट नहीं दीखती; बहुत बार दबी रहती है। पर सभी स्त्रियोंके अन्तरमें स्थानपर निश्चिन्तताके बैठनेकी और किसीको निश्चिन्त करनेकी इच्छा होती है। अशान्त, आडम्बरयुक्त, भाग्यहीन, बुभुक्षित जीवनमें भी स्त्रीका किसीकी गोदमें शान्ति प्राप्त करनेका व किसीको अपनी गोदमें शान्ति देनेका एक अस्पष्ट किंतु अचल स्वप्न रहता ही है। इन दो विरोधी इच्छाओंसे खिचकर तनकर प्रत्येक स्त्रीके जीवनका जहाज डगमगाता है। कभी-कभी दोमेंसे एक हवाके प्रबल होनेपर जहाज जल्दीसे चलता है, कभी दोनों वायु एक दिशामें बहते ही जहाज किसी अनुपम तीरपर लंगर डाल यात्रा पूरी करता है।' ये दो इच्छाएँ मरुप्रदीपकी शान्ति और उषामें भी व्यक्त हुई हैं। शान्ति अनुभव करती थी कि व्यक्तिकी पूजासे ही उसे अवकाश नहीं मिलता। वह समझती थी कि जीवनकी छोटी बात स्त्रीकी पूँजी है। दैनिक

जीवनकी छोटी दुनियाकी तुच्छतामें लिप्त रहनेवाला उसका एकाकी जीवन झूठे दंभकी उपासना नहीं करना चाहता था। फिर भी जब कमलाकान्तने उसकी उच्चताकी प्रशंसा की, तब उसका अंतःकरण रोमांचित हो उठा। यही नहीं, उसने यह भी देखा कि कमलाकान्तके मुखपर सत्य और आंतरिकताका प्रकाश था। जब कमलाकान्तने यह कहा कि आपकी अनुभूति भीतर-भीतर कर मैंने कितना बल संचय किया है, इसकी कृतज्ञता प्रकट करना असंभव है, तब उसे ऐसा जान पड़ा कि यह तो किसी सहभोक्ताकी प्राण-ध्वनि है। पुरुषकी मनुहारभरी प्रशंसाका रूप नारीके लिए उन्मादक होता है। फिर भी उसने अनुभव किया कि पुरुषकी भूखी-प्यासी लालसा है, जो इस प्रकार उसके सामने जमीनसे सिमटती चली आती है। एक विमल है जो 'मरुप्रदीप' की भाँति अधिकाधिक दूर होता जाता है, दूसरा कमलाकान्त है, जो कामनाकी मसाल बनकर प्रतिक्षण अपने झुलसानेवाले धुएँलेपनसे तन-मनको अशुचि करता है। अपनी वासनाके विस्फोटसे शान्तिको पश्चात्ताप हुआ और विधवा होनेके कारण उसने सब कुछ छोड़कर ससुरालमें आश्रय लिया। यह सम्भव है कि हिन्दू-विधवाके आदर्शका पालन कर उसने अवशिष्ट जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत कर लिया हो, पर किसीकी कल्पित मूर्तिको हृदयमें रखकर उसने शान्ति प्राप्त की। तो भी स्त्रीमात्रके लिए वासनाकी यह समस्या बनी रहती है। 'स्वप्नद्रष्टा'में जब सुलोचना अपने प्रेमी केकीसे निराश हो गई, तब उसने कहा कि सब पुरुषोंको मैं धिक्कारती हूँ। पुरुष-मात्र बदमाश हैं और स्त्री-मात्र मूर्ख। उस समय प्रोफेसर कापड़ियाने उसको बताया कि स्त्री केवल लोभी है जीवनकी और पुरुष केवल धूर्त है, पर दोनों मिले बिना क्या क्या कभी रहे हैं? हम पुरुष सभी पहले पशु हैं और फिर देव। मनुष्योंकी इन पाशविक प्रवृत्तियोंके उन्मादके कारण जीवनकी समस्या चिरंतन बनी रहती है। मनुष्य यदि केवल पशु रहता, तो उसके जीवनमें कोई समस्या न आती। यदि वह एकमात्र देव होता, तो भी उसके जीवनमें कोई प्रश्न न उठता। परन्तु उसमें जो सत्प्रवृत्तियोंके साथ असत्प्रवृत्तियाँ हैं, उनके कारण उसके जीवनकी समस्या सदैव बनी रहती है। सामाजिक अनुशासन बदलते रहेंगे; परन्तु जीवनकी समस्या लुप्त न होगी। सभी युगोंमें और सभी देशोंमें

समाजकी चाहे जो व्यवस्था हो, मानवीय जगत्में अंतःसंघर्ष होता ही रहेगा और उसीके कारण व्यक्तियोंके जीवनमें सदैव समस्याएँ उत्पन्न होती रहेंगी।

कथाओंके पाठसे साधारण पाठकोंको तभी सन्तोष होता है, जब वे लेखकके द्वारा निर्मित कथा-जगत्में स्वच्छंदतापूर्वक विचरण कर उल्लासका अनुभव करते हैं। सभी कथाएँ उनको एक नए जगत्में ले जाती है, जहाँ उन्हें नए नए लोगोंसे परिचय प्राप्त होता है। उन सभीके सुख-दुखपूर्ण जीवनकी लीलाओंको देखकर उन्हें कौतूहल होता है, विस्मय होता है और गौरव तथा हीनताका भी अनुभव होता है। किसी भी युगकी कथा पढ़नेसे हमें उस युगका सामाजिक जीवन प्रत्यक्ष हो जाता है। उस युगकी सारी परिस्थितियाँ विदित हो जाती हैं और उनमें हम जीवनका विकास भी देख लेते हैं। हिन्दीके आधुनिक उपन्यासोंमें कथाकी जो एक नीरसता लक्षित होती है, उसका कारण यह है कि किसी सिद्धान्त अथवा विचारकी पुष्टिके लिए कल्पनाके प्रयासके द्वारा विभिन्न पात्रोंकी सृष्टि की जाती है। धर्मवीरजीने लिखा है कि अधिकांश प्रगतिवादी कथाकार अपने कथा-निर्माण और चरित्र-निरूपणमें अत्यधिक यान्त्रिक हो जाते हैं और उनकी कलामें यथार्थकी तीखी चोट न रहकर प्रचारकी छिछली ध्वनि आ जाती है। अंचलजीके उपन्यासोंमें रूढ़िग्रस्त सामाजिक अनुशासनके विरुद्ध विद्रोहको प्रदर्शित करनेके लिए जिन पात्रोंकी सृष्टि की गई है, उनमें भी यह विशेषता नहीं है कि उनके प्रति पाठकोंकी सहानुभूति हो और वे उनमें जीवनकी यथार्थता देख सकें।

———

१०—कल्पना और सत्य

१

हिन्दीमें उपन्यास आधुनिक युगकी सृष्टि है। परन्तु गत चालीस वर्षोंसे उसका विकास ऐसे ढंगसे हो रहा है कि कितने ही आधुनिक उपन्यास भी अब आधुनिकताकी परिधिसे बाहर होते जा रहे हैं। उसका मुख्य कारण है भारतीय राजनैतिक क्षेत्रमें नव-विचार-धाराका प्रचार। एक समीक्षकका कथन है कि कथा-साहित्यमें प्रेमचन्दका युग जैनेन्द्र और भगवतीप्रसाद वाजपेयीके बाद समाप्त हो चुका। प्रेमचन्दजीके युगकी यह विशेषता बतलाई जाती है कि उस समय आदर्शवादिता, संतुलित राष्ट्रीय चेतना एवं प्रारम्भिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषणका सूत्रपात ही हुआ था। अब उसकी परंपरा विकसित होकर यथार्थवादी रोमांस और प्रौढ़ मनोवैज्ञानिक चिन्तन-शैलीमें बदल गई है। यह भी कहा गया है कि उपन्यासोंके पात्रोंमें स्वतः विकसित होनेकी प्रवृत्ति होती है। सब कुछ समाज ही नहीं है, व्यक्तिका भी अस्तित्व होता है। उपन्यासोंमें उसका चित्रण न होनेसे कुछ उपन्यासकारोंको अपनी कृतियोंमें सफलता नहीं मिली है।

प्रगतिशील लेखकोंके संबंधमें भी कहा गया है कि यशपाल और अंचलके समान लेखकोंके उपन्यासोंमें काल्पनिक वर्ग-संघर्षकी जो गुत्थियाँ हैं, उनके कारण उनके उपन्यास कथावस्तुकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण नहीं सिद्ध हो सके हैं। उन्होंने यथार्थवादको साम्यवादी आवरणमें लपेट रखा है। फलस्वरूप उनके प्रायः सभी पात्रोंके शरीरपर वर्ग-चेतनाका मुलम्मा लगा हुआ है, जो यथार्थ जीवनसे अलग है।

उक्त समीक्षकके कथनानुसार अश्क, अज्ञेय, प्रभाकर माचवे, डा० देवराज और धर्मवीर भारतीने एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करनेकी चेष्टा की है, जिसमें

व्यक्तिको व्यक्तिके रूपमें स्वीकार किया गया है और व्यापक मान्यताओंको हटाकर पात्रोंकी असलियत देखनेकी चेष्टा की गई है। अधिकांश समीक्षाओंमें भिन्न भिन्न उपन्यासकारोंके सम्बन्धमें कुछ ऐसे ही ढंगकी समीक्षा की जाती है।

रुचि-वैचित्र्यके कारण भिन्न-भिन्न लोगोंको भिन्न-भिन्न उपन्यास रुचिकर होते हैं। लोकरुचिमें भी परिवर्त्तन होता रहता है। यह संभव है कि एक युगमें जो उपन्यास विशेष लोकप्रिय होता है, वह दूसरे युगमें अपनी लोकप्रियता खो बैठे। परन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि अब आधुनिक समाजमें जिस नव-विचार-धाराका प्रचलन हो रहा है अथवा भिन्न-भिन्न वादोंका जो परस्पर संघर्ष हो रहा है, उसके कारण लोकरुचि इतनी परिवर्त्तित हो गई है कि अब प्रेमचंद, जैनेन्द्र अथवा भगवतीप्रसाद वाजपेयीकी रचनाएँ लोकप्रिय नहीं रही हैं? जैनेन्द्र और भगवतीप्रसाद वाजपेयी तो अभी तक नए-नए उपन्यासोंकी रचना करते जा रहे हैं। क्या यह कहा जा सकता है कि किसी विशिष्ट विचार-धाराका अनुसरण करनेके कारण अब उनकी रचनाएँ विगत युगकी वस्तुएँ हो गई हैं? इसी प्रकार क्या यशपाल और अंचलकी रचनाओंके संबंधमें यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उनकी रचनाओंकी अपेक्षा अश्क, अज्ञेय अथवा प्रभाकर माचवेके नए प्रयोगोंका स्थायी प्रभाव समाज-पर पड़ रहा है?

सच तो यह है कि ऐसा कोई भी उपन्यासकार नहीं है, जिसके संबंधमें समीक्षकोंमें मत-वैपरीत्य न हो। यह भी देखा जाता है कि किसी एक उप-न्यासकारकी रचनाओंमें कलाका सौष्ठव देखते समय अधिकांश समीक्षक गांधीवाद, समाजवाद या अन्य किसी वादकी विशेषता प्रदर्शित करते हैं। ऐसे उपन्यासोंके नायकोंका चरित्र-गौरव समीक्षकोंको तभी लक्षित होता है, जब वे साम्यवाद या अन्य किसी वादके सिद्धान्तोंसे प्रेरित होते हैं। एक समीक्षकने औपन्यासिक पात्रोंमें सामाजिक प्रगतिके लिए एक निश्चयात्मक दृढ़ता देखकर उपन्यासकारके कला-कौशल्यकी प्रशंसा की है। उनका कथन है कि उन पात्रोंमें एक अक्षय विश्वास रहता है और यह विश्वास ही उन्हें संघर्षोंमें आगे बढ़नेकी प्रेरणा देता है। अंचलजीके औपन्यासिक पात्रोंके विषयमें कहा गया है कि वे अपनेमें एक सीमित वैयक्तिक विद्रोह करके नहीं

रह जाते। उनका विद्रोह एक विराट् सामाजिक क्रांतिका अंग हो जाता है। परन्तु साधारण पाठक बारबार इन उपन्यासोंको पढ़नेपर भी यह नहीं समझ पाते कि किस प्रकार पात्रोंका वैयक्तिक विद्रोह एक विराट् सामाजिक क्रांतिका अंग हो गया है। क्या उन लेखकोंके उपन्यासोंके पात्रोंका इतना अधिक प्रभाव आधुनिक समाजपर पड़ रहा है कि उसके कारण समाजमें चारों ओर क्रांति हो रही है? यह ठीक है कि कुछ उपन्यासकारोंने अपने नायकोंके चरित्रमें सामाजिक विद्रोहके द्वारा गौरव प्रदर्शित किया है; परन्तु उस गौरवको क्या सभी पाठक अनायास आत्मसात कर लेते हैं?

आधुनिक उपन्यासोंकी एक बड़ी विशेषता मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। ऐसे लेखकोंकी रचनाओंमें कुछ समीक्षक मनोविज्ञानके ज्ञानकी गरिमा देखकर कलाकारकी कलाका अपूर्व सौष्ठव देखते हैं। इस संबंधमें एक विज्ञने लिखा है कि मनोवैज्ञानिक नायकका चरम विकास अज्ञेयके 'शेखर' में हुआ है और चरम पतन इलाचंद्र जोशीकी 'परदेकी रानी'के नायक इंद्रमोहन तथा 'प्रेत और छाया'के नायक पारसनाथमें हुआ है। उनके इस कथनका अभिप्राय विज्ञजन समझ सकते हैं। भगवतीचरण वर्माके संबंधमें एकने लिखा है कि गाँधीवादका आदर्श कवच पहनकर वे अपने उपन्यास 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में वैज्ञानिक समाजवादके विरोधी हो गए हैं और उन्होंने साम्यवादकी पीठमें छुरा भोंक दिया है। किन्तु 'घरौंदे'में रांगेय राघवने भगवती जैसे दृढ़ कर्मशील नायककी रचना कर रोमांटिक उपन्यासके पथ-भ्रष्ट नायकको ऐतिहासिक विकासकी सहज क्रांतिकारी धाराकी ओर मोड़ दिया है। सभी उपन्यासकार भिन्न-भिन्न चरित्रोंकी सृष्टि करते हैं। सभीमें चरित्रकी गरिमा या हीनता प्रदर्शित होती है। परन्तु यह समझमें नहीं आता कि कोई उपन्यासकार किस प्रकार किसी नायककी सृष्टि कर अन्य उपन्यासोंके पथ-भ्रष्ट नायकको क्रांतिकारी धाराकी ओर मोड़ देता है। क्या उस नायकके चरित्रको देखकर सभी उपन्यासकार इतने प्रभावित हो उठते हैं कि वे उसीका अनुसरण कर अपने नायकको भी क्रांतिकारी बनानेमें अपनी कलाकी सफलता समझते हैं?

साधारण पाठक उपन्यासोंमें सबसे पहले कथाकी सरसता ही खोजते हैं। वे यह समझ ही नहीं पाते कि किस प्रकार उपन्यासकारका कोई कल्पित पात्र

साम्यवादकी पीठपर छुरा भोंकनेमें समर्थ हो जाता है। इसमें संदेह नहीं कि कथामें सरसता लानेके लिए भिन्न-भिन्न उपन्यासकारोंने भिन्न-भिन्न पद्धतियोंका अवलंबन किया है। पहले उपन्यासोंमें कथाकी सरसता घटना-वैचित्र्यपर निर्भर रहती थी। अधिकांश उपन्यासोंके अधिकांश पाठक अभी तक ऐसे ही घटनाप्रधान उपन्यासोंमें कथाका सच्चा रस पाते हैं। ऐसे उपन्यास अभी तक लोकप्रिय हैं। परन्तु चरित्रप्रधान उपन्यासोंमें भी कथाकी कम सरसता नहीं रहती। इसीसे कथा-साहित्यमें चरित्र-वैचित्र्यकी सृष्टि हुई है।

साधारणतया एकसे एक विलक्षण घटनाओंका वर्णन कर कथाकार पाठकोंके हृदयमें कौतूहलकी इतनी अधिक वृद्धि कर देते हैं कि पाठक उस कथाका अंत जाननेके लिए अत्यन्त व्यग्र हो जाते हैं। और तब क्या हुआ, यह जाननेकी जो तीव्र इच्छा पाठकोंके हृदयमें उत्पन्न हो जाती है, उसपर कथाकी सरसता निर्भर रहती है। उपन्यासकारोंके कल्पना-जगत्में एक-से-एक विलक्षण परिस्थिति अचानक उपस्थित हो जाती है। उसीके कारण पाठकोंको कौतूहल होता है और विस्मय भी। यदि उसीके साथ उनके हृदयमें कल्पित पात्रके प्रति भक्ति, श्रद्धा या सहानुभूतिका भाव उत्पन्न हो गया, तो कथाकी सफलतामें कोई सन्देह नहीं रह जाता। घटनाकी विलक्षणताके साथ चरित्रकी गरिमा भी प्रकट होती है। वही गरिमा पाठकोंके लिए किसी भी पात्रको चिर-स्मरणीय बना देती है।

उपन्यास-जगत्में यह सर्वथा संभव है कि कोई युवक किसी अपरिचित नगरमें घूमनेके लिए निकले और किसी गलीके भीतर घुसते ही सहसा किसी ऐसे घटना-चक्रमें पड़ जावे, जिसकी उसने कल्पना तक न की हो। संयोग-वश जो एक छोटी बात हो जाती है, उसके कारण किसीके जीवनकी गति ही परिवर्त्तित हो जाती है। भिन्न-भिन्न घटनाओंके द्वारा चरित्रकी विशेषताको प्रदर्शित कर उससे जीवनकी गरिमा प्रकट करनेका प्रयास ऐसे घटनाप्रधान उपन्यासोंमें किया जाता है।

कथाओंके प्रति पाठकोंको जो अनुराग होता है, उसका मुख्य कारण यह है कि हम सभी लोग मानव-जीवनमें एक वैचित्र्यका अनुभव करते रहते हैं। जीवनमें वैचित्र्य होनेके कारण संसार रहस्यमय प्रतीत होता है और लीलामय

भी। न जाने कब, किस परिस्थितिमें किसीको क्या हो जाय, इसीका अनुभव कर हम लोगोंके मनमें आशंका होती है और कौतूहल तथा विस्मय भी। बहिर्जगत्में जिस प्रकार संयोगवश कल्पनातीत बातें हो जाती हैं, उसी प्रकार हम लोगोंके अन्तर्जगत्में भी भावोंका विलक्षण उत्थान-पतन होता रहता है। न जाने कब स्नेह विद्वेषमें परिणत हो जाय! हम लोगोंका जो एक स्वार्थ-भाव होता है, उसमें भी कम जटिलता नहीं होती। हम लोगोंके कार्योंमें भावोंके साथ विचारोंका संघर्ष होता रहता है। हम सोचते कुछ हैं और करते कुछ हैं। कभी-कभी हम अपनी इच्छाके विरुद्ध काम करते हैं। नीतिका कैसा भी सिद्धान्त क्यों न हो, और उसपर हमारा कैसा भी दृढ विश्वास क्यों न हो, किसी विशेष परिस्थितिमें पड़कर हम उस नीतिको छोड़ बैठते हैं और अपना विश्वास भी खो बैठते हैं।

संसारमें हम लोगोंकी चाहे जो स्थिति हो, परन्तु हम अपने जीवनमें एक गौरवका अनुभव करते हैं और उसीके साथ एक हीनता भी हम लोगोंके मनके भीतर छिपी रहती है। किसी एक विषयमें हम लोगोंकी विशेष क्षमता रहती है और अन्य किसी विषयमें हम लोगोंमें एक अक्षमता भी विद्यमान रहती है। क्षमताके कारण हम जैसे अपनी उन्नति कर लेते हैं, उसी प्रकार अक्षमताके कारण हम लोगोंका पतन भी हो जाता है। कहाँ, कौन दुर्बल है और कहाँ कौन सबल, यह केवल विशेष स्थितिमें प्रकट होता है। कभी अक्षमतामें भी चरित्रकी एक ऐसी गरिमा प्रकट होती है, जिसके कारण कोई व्यक्ति हम लोगोंके अनुरागका पात्र हो जाता है। चार्ल्स डिकिन्सके एक पात्रने अपनी पौत्रीके लिए सदैव जुआ खेलनेमें अपनी सारी संपत्ति नष्ट कर डाली। उसके चरित्रकी इस दुर्बलताके कारण उसकी उस पौत्रीकी मृत्यु तक हो गई। फिर भी उस कथाका वर्णन ऐसे ढंगसे हुआ है कि उसकी ओर हम लोगोंकी सहानुभूति ही होती है।

एकमात्र बाह्य परिस्थितिसे ही हमारे जीवनकी गति निर्दिष्ट नहीं होती। मनकी भी एक विशेष परिस्थिति होती है, जिससे विवश हो, हमें कोई कार्य करना पड़ता है। जीवनके संघर्षमें हम अपने उन संस्कारोंको भी छोड़ बैठते

हैं, जो हमारे हृदयमें बद्धमूल रहते हैं। बाह्य जीवनमें कितनी ही समता क्यों न स्थापित हो जाय, अन्तर्जीवनमें सदैव एक विषमता बनी रहती है। इसीसे एक ही परिस्थितिमें भी भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न काम करते हैं। तभी तो सभी व्यक्तियोंकी जीवन-कथा कौतूहल-प्रद होती है।

उपन्यासोंमें जीवनकी यथार्थता और पात्रोंके स्वतः विकासकी जो चर्चा की जाती है, उसका कोई विशेष अर्थ नहीं होता। कथाओंमें मुख्यतया लेखककी अपनी अनुभूतिकी ही प्रधानता रहती है। यह तो स्पष्ट है कि उपन्यासका जगत् लेखककी कल्पनासे ही उद्भूत होता है। औपन्यासिक पात्र उसीकी कल्पनामें जन्म लेते हैं। वही उनके जीवनका विधाता होता है। वह उनके चरित्रका निर्माण करता है और उस चरित्रका विकास प्रदर्शित करनेके लिए भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें भिन्न भिन्न घटनाओंकी कल्पना करता है। देश और कालके अनुसार किसी भी उपन्यासके सामाजिक जीवनके चित्रणमें यथार्थता अवश्य रहती है। परन्तु उस सामाजिक जीवनके भीतर कल्पित घटनाओंके द्वारा कल्पित पात्रोंके चरित्रका जो विकास प्रदर्शित होता है, उसकी यथार्थता एकमात्र भाव-जगत्की यथार्थता है। पात्र कल्पित होते हैं, उनके जीवनकी सभी घटनाएँ कल्पित होती हैं; परन्तु यदि उपन्यासकारमें कलाकी सच्ची कुशलता है, तो उनके भाव-जगत्में हम एक ऐसी यथार्थता पाते हैं, जिसके कारण वे कल्पित पात्र भी पाठकोंको चिर-परिचित सहचरके समान प्रतीत होने लगते हैं। यही नहीं, उनमें हम अपने जीवनका भी यथार्थ चित्र पा जाते हैं।

मेरेडिथके प्रसिद्ध उपन्यास 'इगोइस्ट' के संबंधमें प्रसिद्ध है कि मेरेडिथके कितने ही परिचित व्यक्तियोंने उनपर यह दोषारोपण किया कि मेरेडिथने उन्हींको इगोइस्टके रूपमें प्रदर्शित किया है। तब मेरेडिथने कहा कि हम सभी लोग इगोइस्ट हैं। बात यह है कि मानवीय जीवनमें एक सहज क्षमता और अक्षमता होती है। उसके कारण सभी लोगोंमें भावोंकी एक समता भी आ जाती है। तभी हममें दूसरोंके प्रति सच्ची सहानुभूतिका भाव उत्पन्न होता है। अपनी इसी सहज प्रवृत्तिके कारण जो एक सहृदयता हममें आ जाती है, उससे हम अन्य लोगोंके जीवनकी विभिन्न परिस्थितियोंमें उनकी विभिन्न मानसिक

स्थितियोंको भी समझ लेते हैं। तभी हम जान जाते हैं कि कहाँ जीवनकी सच्ची गरिमा है और कहाँ सच्ची हीनता।

उपन्यासोंके मायालोकमें जीवनकी जो लीला प्रदर्शित होती है, उसके प्रारंभ, विकास और अंतके संबंधमें उपन्यासकारोंको कोई संदेह नहीं रहता। वह एक निश्चित उद्देश्यसे अपने उपन्यासका आरंभ करता है और उसीके अनुसार अपने उपन्यासका ऐसा अंत करता है कि उसके संबंधमें पाठकोंको भी कोई संदेह नहीं रह जाता। एकमात्र किसी सिद्धांतका प्रचार करनेके लिए यदि किसी उपन्यासका निर्माण होता है, तो उसमें लेखकको तभी सफलता मिलती है, जब वह उस सिद्धांतका अनिवार्य फल किसीके जीवनमें प्रदर्शित करता है। उपन्यासकारोंको अपने कल्पित पात्रोंके जीवनकी यथार्थताके संबंधमें पाठकोंका सच्चा विश्वास प्राप्त करना पड़ता है। उसमें घटनाओंका ऐसा विन्यास रहता है कि जो परिणाम प्रदर्शित होता है, वह सर्वथा अनिवार्य प्रतीत होता है। हिन्दू समाजमें धर्मके बाह्य अनुष्ठानोंके प्रति जो एक प्रबल श्रद्धाका भाव प्रचलित है, उसीको प्रमुख मान लेनेपर धर्मका यथार्थ भाव विलुप्त हो जाता है।

रवीन्द्र बाबूके 'गोरा' नामक उपन्यासमें गोराकी जो विलक्षण कथा वर्णित हुई है, उसमें घटनाओंके द्वारा ऐसी अनिवार्य परिस्थिति उत्पन्न कर दी गई है कि सभी पाठक लेखक-द्वारा प्रदर्शित धर्म-तत्त्वको अनायास ही स्वीकार कर लेते हैं। अपने जिन धार्मिक भावोंको पुष्ट करनेके लिए गोराने सदैव तर्क किया; जिनके पक्ष-समर्थनमें वह सदैव निरत रहा; जिनके लिए उसके हृदयमें कभी शंकाका भाव उत्पन्न नहीं हुआ, उनको वह एक ही क्षणमें खो बैठा। हिन्दू धर्मके गौरवके उस प्रबल समर्थकको यह जान पड़ा कि वह स्वयं हिन्दू नहीं है। उसके हृदयपर एक प्रबल आघात हुआ। परन्तु उसने धर्मके यथार्थ तत्त्वको बिना किसी तर्क और युक्तिके आत्मसात कर लिया। यहीं उपन्यासकारोंकी सच्ची कला-कुशलता प्रकट होती है।

आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्यमें समस्यामूलक या मनोवैज्ञानिक जिन उपन्यासोंका निर्माण हो रहा है, उनमें कथाकी जो नीरसता रहती है, उसका सबसे बड़ा कारण यह है कि उनमें अन्तर्जगत्के भावोंके साथ बहिर्जगत्की

घटनाओंका मेल नहीं होता। अधिकांश पात्रोंका जीवन इतना असाधारण होता है कि वह पाठकोंके लिए एक पहेलीके समान दुर्बोध हो जाता है। उपन्यासकार प्रयोगवादी हो अथवा प्रगतिवादी, पर अभी तक ऐसे कम चरित्र अंकित हुए हैं, जिनका इतना अधिक प्रभाव पाठकोंपर पड़ा हो कि वे चिरस्मरणीय हो गए हों। कथा-साहित्यमें शैलीकी नवीनता अवश्य आ गई है। भाषामें भी एक विशेष सौष्ठवका विकास हो रहा है। रूप और शिल्पके लिए व्यग्रता होनेके कारण कितने ही वादोंकी प्रतिष्ठा भी हो गई है। परन्तु शैलीकी विलक्षणता, भाषाका सौष्ठव, वादोंकी विवेचना और भावोंका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण होने पर भी अधिकांश उपन्यास इतने नीरस होते हैं कि उन्हें पूरा पढ़ डालनेके लिए पाठकोंको प्रयास करना पड़ता है।

उपन्यासोंका जगत् सचमुच कल्पनाका मायालोक होता है। एक जादूगरकी तरह क्षण भरमें उपन्यासकार हमारे सामने असीम विश्वके एक क्षुद्र कोनेमें जीवनकी लीलाके लिए एक क्षुद्र रंगभूमि निर्मित कर देता है। वहाँ एक व्यक्तिके सुख दुखकी क्षुद्र लीलाएँ प्रकट होती हैं। क्रमशः वही लीलाएँ एक ऐसा रूप धारण कर लेती हैं कि हम उनमें पड़कर आत्म-विस्मृत हो जाते हैं। तब वह मानो एक क्षुद्र व्यक्तिकी जीवन-कथा न होकर मानव-जातिकी कथा हो जाती है। यह सच है कि देश और कालके अनुसार विभिन्न परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जानेसे मानव-जीवनकी विभिन्न लीलाएँ दृग्गोचर होती हैं। जो बात एक देशमें संभव है, वह दूसरे देशमें संभव नहीं होती। अँगरेजीके प्रसिद्ध उपन्यास 'मेयर आफ केस्टरब्रिज' की परिस्थिति भारतवर्षमें संभव नहीं है और न रवीन्द्रबाबूके प्रसिद्ध उपन्यास 'नौका डूबी' की समस्या इँग्लैंडमें उत्पन्न हो सकती है। परन्तु उनके कारण उन पात्रोंको अपने जीवनमें जो अनुभूति हुई है, उसे समझनेमें देश और कालका व्यवधान बाधक नहीं होता। कल्पित होनेपर भी उन पात्रोंके प्रति पाठकोंकी ऐसी सहानुभूति हो जाती है कि उनका अनिवार्य अन्त देखकर भी मनमें एक वेदना होती है। 'मेयर आफ केस्टर ब्रिज'का अन्त दूसरे ढंगसे प्रदर्शित हो नहीं सकता था। उसका जैसा चरित्र है, उसीके अनुसार उसका अन्त हुआ है। इसी प्रकार 'नौका डूबी'में एक विलक्षण परिस्थिति उत्पन्न हो जानेके कारण रमेश और नलिनीमें सच्चा

प्रेम-भाव रहनेपर भी विवाह सम्भव नहीं हुआ। कमला अन्तमें अपने पतिसे मिल गई। परन्तु रमेश और नलिनीका फिर मिलन नहीं हुआ। उनके जीवन-नाटकपर वहीं परदा गिराकर लेखकने पाठकोंके हृदयमें उन दोनोंके प्रति एक विलक्षण वेदनाका भाव उत्पन्न कर दिया है। पाठक सोचते रह जाते हैं कि उन दोनोंने अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत किया होगा।

हिन्दीके अधिकांश तरुण उपन्यासकारोंकी प्रवृत्ति वर्त्तमान युगकी उन्हीं विचार-धाराओंको भारतीय जीवनमें प्रदर्शित करनेकी ओर है, जिनके कारण विश्वके कर्मक्षेत्रमें एक नव क्रान्ति उदित हो रही है। क्रान्तिकी जो भावना भारतके राजनैतिक क्षेत्रसे समाजके क्षेत्रमें आई है, वह अत्यन्त सीमाबद्ध है। साधारण भारतीय स्त्री-पुरुषोंकी जो जीवन-समस्याएँ हैं, उनसे ये समस्याएँ सर्वथा पृथक् हैं। तरुण साहित्यकारोंके तरुण नायकोंकी समस्या उन्हींमें बद्ध रहती है। इसीसे एक समीक्षकने लिखा भी है कि "भगवतीचरण वर्माजीके 'तीन वर्ष,' उपेन्द्रनाथ अश्कके 'सितारोंके खेल' और रांगेय राघवके 'घरौंदे' नामक उपन्यासोंमें यूनिवर्सिटीके तरुण विद्यार्थी ही नायक हैं। अश्कजीका नायक गर्ल्स होस्टलके एक कमरेमें आत्म-विकासका प्रयत्न आरम्भ करता ही है कि वहाँसे बाहर गिरकर अस्पतालमें अपनी प्रेमिका द्वारा मारा जाता है। हिन्दीके एक दूसरे तरुण साहित्यकार अंचलजीके उपन्यासोंकी बड़ी प्रशंसा है। कहा गया है कि उनके सब उपन्यासोंमें युगोंके बद्धमूल संस्कारोंके विरुद्ध जीवनदायिनी नई बौद्धिक चेतनाका संघर्ष वर्णित हुआ है। पर विद्रोहकी प्रेरणा कालेजके तरुण प्रोफेसरोंके द्वारा ही प्रकट होती है। वे सभी यह चाहते हैं कि नारी अपने जीवनको व्यर्थ बनानेवाले रूढ़िगत संस्कारोंसे मुक्ति पा ले। इसी उद्देश्यसे कथाओंका जो निर्माण होता है, उसमें न तो समाजका यथार्थ चित्र ही अंकित हो पाता है और न मानवीय भावोंका सच्चा रूप। इसीसे घटनाओंके विन्यासमें भी एक कृत्रिमता आ जाती है।

भिन्न-भिन्न युगोंमें भिन्न-भिन्न आदर्शोंकी स्थापना होती है। देश और कालकी परिस्थितिके अनुसार आदर्शोंमें भी परिवर्त्तन होता रहता है। पर मानव-हृदयके भीतर मानव-जीवनके गौरवके प्रति विश्वासकी एक दृढ़ता भी बनी रहती है। मनुष्योंके अन्तर्जगत्में जो एक द्वन्द्व निरन्तर होता रहता है, उसमें

ादर्शोंका नहीं, विभिन्न मानवीय भावोंका संघर्ष होता है। प्रेम और वासना, भ और गर्व, प्रतिहिंसा और दया आदि भावोंके कारण हृदयमें सदैव लचल मची रहती है।

हिन्दू समाजमें आजकल विधवाओंकी जो समस्या है, वह अन्य जातियोंमें हीं है। परन्तु नारीकी समस्या तो सभी युगों और सभी देशोंमें विद्यमान हती है। नैतिकता और अनैतिकताके विचार भी समाजमें बदलते रहते हैं। ः सामाजिक अनैतिकताके अतिरिक्त एक मानवीय अनैतिकता भी होती है। मलमानों और ईसाइयोंमें जो विवाह-सम्बन्ध सर्वथा उचित है, वह हिन्दू माजमें अभी अनुचित समझा जाता है। यदि अज्ञेयजीका शेखर मुसलमान ाता, तो शशिके साथ उसके प्रेम-सम्बन्धमें कोई अनौचित्य लक्षित न होता। ते-द्वारा परित्यक्ता शशिसे वह विवाह भी कर लेता। परन्तु छल, वंचना, विश्वासघात, अत्याचार आदिमें कोई भी व्यक्ति नैतिकताकी ल्पना नहीं करेगा। इसी प्रकार सच्ची सेवा, स्नेह और त्यागमें कोई अनैति-ता नहीं सोच सकेगा। समाजका कैसा भी सुधार किया जाय, पुरुषों ौर नारियोंके पारस्परिक सम्बन्धके लिए कोई भी ऐसी नीति निश्चित हीं की जा सकती, जिससे प्रेमकी समस्या दूर हो जाय। किसी ो उपन्यासकी कथावस्तुकी परीक्षा करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भावोंमें ोड़ा हेर-फेर हो जानेसे जीवनकी सारी बातें किस प्रकार बदल जाती हैं।

'सुबहके भूले' इलाचंद्र जोशीजीका नया उपन्यास है। जोशीजीके बंधमें कहा गया है कि उन्होंने उपन्यासोंमें जीवनकी यथार्थताको बिना किसी ावरणके प्रस्तुत करनेकी सदैव चेष्टा की है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उनकी बसे बड़ी विशेषता है और उसीके कारण हिन्दीके आधुनिक उपन्यासकारोंमें नका प्रमुख स्थान है। पर 'सुबहके भूले'में उन्होंने एक बड़ी सरल कथा ख्खी है। उसमें उनकी कलाका कोई चमत्कार नहीं है। उसके सभी पात्र ात्यन्त साधारण व्यक्ति हैं। न उनके जीवनमें कोई असाधारणता है और न ावोंमें कोई जटिलता। उसमें प्रेम और वासनाकी प्रचण्ड लीलाएँ अंकित हीं हुई हैं। उसे पढ़नेसे ऐसा जान पड़ता है कि देश और समाजकी चाहे सी भी विषम परिस्थिति हो, साधारण व्यक्ति अपने साधारण जीवनकी

आवश्यकताओंकी पूर्तिमें संलग्न रहकर सुख और संतोषके साथ अपनी जीवन-यात्राको समाप्त कर लेता है। समाजमें विषमता होने पर भी विद्रोहकी भावनासे वह समस्त समाजसे संघर्ष करनेके लिए उद्विग्न नहीं रहता। अपनी परिस्थितिके अनुकूल वह अपना एक समाज बना लेता है। समाजकी प्रचलित व्यवस्थामें कितने ही दोष हों, उसे उसके लिए कोई विशेष चिंता नहीं होती। उन दोषोंके कारण उसके जीवनमें कोई बाधा नहीं होती। साधारण कार्योंको सम्पन्न करनेमें ही वह अपने जीवनकी सफलता समझता है। उग्र प्रतिहिंसा, उग्र विद्वेष, उग्र वासना और उग्र असंतोषकी ज्वाला उसके जीवनमें नहीं धधकती। कैसी भी परिस्थिति क्यों न हो, वह अपनी उन्नतिके लिए अवसर ढूँढ़ ही लेता है और अवसर मिलनेपर वह अपनी उन्नति भी कर डालता है।

'सुबहके भूले' की कथाका सार दो-चार पृष्ठोंमें अच्छी तरह दिया जा सकता है, क्योंकि उसमें घटनाओंकी कोई विलक्षणता नहीं है। 'बंबईमें एक गंदी बस्तीकी सीमापर टीनके एक शेडमें बैजनाथ काछी रहता था। उसका एक साथी था। उसका नाम था महाबीर कुर्मी। दोनों सोच-विचार-कर दूधका व्यवसाय करने लगे। दूधके व्यवसायमें उन्हें अच्छा लाभ होने लगा। तब बैजनाथ कुछ दिनोंके लिए बंबई छोड़कर अपने देश गया। वहाँ गाँवमें उसने झमिया नामकी एक विधवा देखी। झमिया अपनी एक लड़कीके साथ अपनी मौसीके घर रहती थी और कष्टमय जीवन व्यतीत करती थी। उसे देखते ही बैजनाथका जी ललचा गया। उसने निश्चय कर लिया कि जैसे भी हो, वह उसे हथियाकर ही रहेगा। अंतमें उसने झमियाको वशीभूत कर लिया। झमिया उसके साथ बम्बई चली आई। वह जैसी स्वस्थ और सुन्दर थी, वैसी ही सुशील और शान्त भी थी। महावीर भी उसे देखकर बैजनाथके भाग्यकी प्रशंसा करने लगा। वह भी इच्छा करने लगा कि उसीकी तरह सयानी, समझदार और हमदर्द कोई औरत उसे भी मिल जाती। बैजनाथ और महावीरका एक सम्मिलित परिवार हो गया। महावीर झमियाको भौजी कहने लगा और झमिया भी उसे देवर मानने लगी। एक दिन बैजनाथ अचानक मर गया। झमिया शोक-सागरमें निमग्न हो गई। महावीर समझ नहीं सका

कि वह अपनी भौजीको किन शब्दोंमें सान्त्वना दे। दो-चार दिन झमिया शोकसे अधीर रही। पर कुछ समयके बाद वह आकस्मिक चोट भी उसे सहनीय हो गई। तब वह अपने और अपनी लड़कीके जीवन-निर्वाहकी चिन्ता करने लगी। महावीरने उसे दिलासा दी कि जब तक मेरे दममें दम है, तब तक मैं तुम्हें अनाथ बननेके लिए नहीं छोड़ सकता।

'महावीरने बैजनाथका कारबार बढ़ा दिया और अपना भी। फिर उसने अपनी भौजीकी राय लेकर एक सम्मिलित डेयरी खोल दी। एक दिन झमियाने अपने देवर महावीरसे कहा कि तुम किसी अच्छी लड़कीसे विवाह कर डालो। महावीरने उत्तर दिया कि किसी अजनबी लड़कीको घरमें लानेसे हम लोगोंकी जिंदगीका ढर्रा ही एकदम बिगड़ जायगा। पर झमिया विवाहके लिए बारबार हठ करने लगी। उसने कहा कि मैं खुद तुम्हारे लिए लड़की खोज दूँगी। हताश होकर महावीरने कहा—मैं तुम्हें अपने मनकी बात किसी भी तरह न समझा सकूँगा। झमियाने कहा—मैं सब कुछ समझती हूँ। बात यह थी कि झमियाके प्रति महावीरके हृदयमें जो प्रेम था, उसको वह अपने मनके भीतर मनोरथकी तरह छिपाता ही आया था। झमिया उसे समझ भी गई थी। जिस ढंगसे वह रहती आई थी, उसके कारण महावीरको पति बना डालनेमें उसे कोई कठिनाई नहीं थी। वहाँ कोई ऐसा समाज नहीं था, जो इसमें बाधक होता। फिर भी उसने पंडितजीके कहनेसे महावीरका विवाह करा दिया।

'महावीरकी स्त्रीका नाम मालती था। प्रारंभमें मालतीके कारण कुछ अशांति हुई। परन्तु उसके कारण उनके जीवनमें कोई अव्यवस्था नहीं आई। झमियाकी लड़की गुलबिया कुछ बड़ी हो गई थी। झमियाने उसको स्कूल भेजनेका निश्चय किया। वह हिन्दू समाजकी स्थितिसे अपरिचित नहीं थी। फिर भी उसने सोचा कि वह अपनी लड़की गुलबियाको बड़े आदमियोंकी तरह रखेगी, उसे पढ़ाएगी और दहेजके लायक काफी रुपया जमाकर पढ़े-लिखे नए फैशनवाले बाबू समाजके किसी लड़केके साथ वह उसे ब्याह देगी। समाजका कोई बन्धन उसके इस मनोरथको नष्ट नहीं करेगा। गुलबियामें असाधारण प्रतिभा थी। स्कूलमें प्रविष्ट होते ही वह बड़ी तेजीसे तरक्की करने

लगी। स्कूलमें उसका विशेष मान होने लगा। बड़े घरकी लड़कियोंसे भी उसका परिचय हो गया। कुछ लड़कियोंके माँ-बापने अपनी लड़कियोंको एक साधारण स्थितिके 'भैया'के यहाँ जानेसे मना कर दिया। फिर भी कुछ लड़कियोंसे उसका संबंध बना रहा। विद्याके क्षेत्रमें उन्नति करनेके कारण उसका नाम भी बदल दिया गया। वह गुलबियासे गिरिजा बन गई।

'गिरिजाने किसन नामक एक गरीब लड़केको भी पढ़ाना शुरू कर दिया। किसन बचपनसे ही उसके साथ खेलता आया था। इसके बाद गिरिजाने इंटरमीडिएट पास कर लिया। बी० ए० में पहुँचकर वह सब लड़कियोंकी नेत्री बन गई और तब उसने कहना आरंभ किया कि प्रत्येक नारीको इस बातका पूरा अधिकार है कि यदि वह आजके युगके पुरुष-परिचालित समाजद्वारा निर्धारित किसी नियमको अपनी जातिके लिए अपमानकर और अपनी प्रगतिके लिए बाधक समझे, तो पूरी ताकतसे उसका उल्लंघन करे। विद्रोहका यह भाव उसकी अनुभूतिका नहीं, ज्ञानका फल था।

'कुछ समयके बाद किसनके आगे एक नई दुनिया उद्घाटित हुई। उसने अनुभव किया कि जबसे गुलबिया गिरिजामें बदल गई, तबसे उसके और गिरिजाके बीचमें एक बहुत बड़ा व्यवधान हो गया है। इसी लिए वह विद्याके पथपर स्वयं खूब उत्साहसे अग्रसर होता गया। फेशनेबिल समाजके लुभावने वातावरणके बीचमें अच्छा स्वागत पानेके बाद गिरिजाको अपने घरका सारा वातावरण अत्यन्त विजातीय, नीरस और निर्जीव लगने लगा। उसे अपनी स्थितिसे बड़ा क्रोध हुआ। बी० ए० पासकर वह फैशनकी रंग-बिरंगी दुनियामें पिंजर-मुक्त पंछीकी तरह उल्लास-भरी उड़ान भरने लगी। परन्तु फैशनेबिल मंडलीके लोग भी उससे कतराने लगे। हेमकुमार नामक एक युवकसे उसका परिचय हुआ। उसने उसे बताया कि हमारे देशके तथाकथित फैशनेबिल समाजका दृष्टिकोण बड़ा ही छिछला, बहुत ही संकीर्ण होता है। मैं आपका परिचय एक ऐसे नए समाजसे कराऊँगा, जो फैशनेबिल होते हुए भी समाजके उच्च और निम्न स्तरके बीचमें किसी वंशगत या कृत्रिम भेद-भावको नहीं मानता। वह समाज है सिनेमा-समाज।

' सिनेमा-समाजमें प्रविष्ट होकर गिरिजाने आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त कर ली। वह अभिनेत्री, निर्मात्री और निर्देशिका बन गई। किसन भी काफी उन्नति कर चुका था। गिरिजाने उसीको अपने एक खेलमें प्रधान नायककी भूमिकाके लिए चुना। गिरिजाके व्यवहारसे किसन खिन्न हो गया था। पर गिरिजाने किसनको बतलाया कि कुछ वर्षोंके लिए गुलबिया जीवनकी सीधी राहमें चलते हुए भटक गई थी। पर सुबहकी भूली हुई वह गुलबिया उल्टे-सीधे रास्तेसे होकर शामको फिर घर चली आई। गिरिजा और किसनको 'अखण्ड ज्योति' नामक फिल्ममें बड़ी सफलता मिली। झमियाकी मृत्यु हो गई। झमियाकी मृत्युके एक वर्ष बाद गिरिजा और किसनका विवाह हो गया। तब गिरिजाने उसीके द्वारा अपने मातृ-मंदिरमें अपनी माताके चित्रका उद्घाटन कराया।' यहीं कथाकी समाप्ति हो गई है।

सभी लोगोंकी जीवन-धाराएँ एक ही रूपसे नहीं बहतीं। झमिया और गिरिजाकी तरह सभी स्त्रियाँ विषम परिस्थितिमें रहकर उन्नतिके उच्च शिखरपर नहीं पहुँच जातीं। अन्य कितने ही उपन्यासकारोंने झमिया और गिरिजाकी तरह स्त्रियोंको बंबईमें लाकर और सिनेमा-जगत्में प्रविष्ट कराकर उनका अधः-पतन प्रदर्शित किया है। इलाचंद्र जोशीजीको यह अभीष्ट नहीं था। उन्होंने कल्पनाका मधुर लेप लगाकर यथार्थ जीवनकी कटुताकी अनुभूतिको आच्छन्न कर दिया है। वे अपने पात्रोंके जीवनके भाग्य-विधाता हैं। वे यदि चाहते, तो गिरिजाको और भी अधिक गौरव प्रदान कर सकते थे। आधुनिक युगमें तो ऐसी प्रतिभा-सम्पन्न नारी स्वाधीन भारतके सचिवमंडलमें सम्मिलित होकर शासनका भी भार ले सकती है।

यह कहना कठिन है कि उपन्यासकारमें पहला गुण क्या होना चाहिए। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि उसमें जीवनके प्रति एक तीव्र कौतूहलका भाव अवश्य होना चाहिए। आरनोल्ड बेनेटके संबंधमें कहा गया है कि वह कभी उपदेशक, प्रचारक या विचारक नहीं बना। उसने एक कलाकारकी तरह जीवनके सच्चे उल्लासको अंकित किया है। उसका कथन था कि मैं सदैव यह प्रयत्न करता हूँ कि लोग देखें कि संसार सचमुच लीलास्थल है। इसमें संदेह नहीं कि कल्पित समस्याएँ उत्पन्न कर कितने ही कथाकार जीवनका

ऐसा चित्र खींचते हैं कि उसमें एक विभीषिका उत्पन्न हो जाती है। यह जानना कठिन हो जाता है कि जीवनकी यथार्थता कहाँ है। घटनाओंके विन्यासमें जब तक कोई अनिवार्य स्थिति लक्षित नहीं होती, तब तक पाठकोंको कथाके प्रति सच्चा विश्वास भी नहीं होता और न पात्रोंके प्रति सच्ची सहानुभूति। महावीरने जब अपने मित्रसे झमियाका किस्सा सुना, तब उसके मनकी जीभमें पानी भर आया था। यह बात नहीं कि महावीरके हृदयमें झमियाने हलचल उत्पन्न नहीं कर दी थी। बैजनाथकी अपेक्षा उसमें अधिक गुण-गौरव भी था। गुलबिया तक बैजनाथकी अपेक्षा महावीरकी ओर अधिक आकृष्ट हो गई थी। ऐसी स्थितिमें वासनाके उन्मादसे झमियाके जीवनमें भी आँधी आ सकती थी और महावीरकी गुप्त वासना उसे कोई भी काम करनेके लिए विवश कर सकती थी। बैजनाथके हृदयमें संदेह उत्पन्न कर एक विषम परिस्थिति उत्पन्न की जा सकती थी। स्त्रीके संबंधमें मैत्रीकी विशुद्ध भावना भी ऐसा संदेह उत्पन्न कर सकती है। रवीन्द्र बाबूकी 'आँखकी किरकिरी' में ऐसी ही स्थितिमें ऐसा ही संदेह उत्पन्न किया गया है। इसी प्रकार कालेजमें उच्च शिक्षा प्राप्त करते समय गिरिजाका परिचय जिस श्री-सम्पन्न युवकसे हुआ, उसके कारण प्रेम और वासनाका द्वन्द्व भी संभव था। बात यह है कि उपन्यासोंमें अधिकांश उपन्यासकार अपनी इच्छाके अनुसार पात्रोंका निर्माण करते हैं। पर घटनाओंके द्वारा ऐसी अनिवार्य परिस्थिति प्रदर्शित नहीं करते, जिससे पात्रोंके जीवनकी यथार्थतामें पाठकोंको सन्देह न हो।

जोशीजीकी गिरिजाने सामाजिक विषमतासे क्षुब्ध होकर सिनेमा-जगत्में अपने जीवनका गौरव प्राप्त किया। पंडित देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त'ने अपने 'प्रवाह' नामक उपन्यासमें रेखा नामकी जिस नायिकाकी सृष्टि की है, उसने सामाजिक विषमतासे क्षुब्ध होकर राष्ट्र-सेवाका पथ स्वीकार किया और उसीमें अपने जीवनकी सार्थकता समझी। यह बात नहीं है कि गिरजाके जीवनमें वही बात प्रदर्शित नहीं की जा सकती थी। गिरिजा भी जब कालेजमें उच्च शिक्षा प्राप्त कर रही थी, तब श्री सम्पन्न व्यक्तियोंकी कितनी ही लड़कियोंसे उसका परिचय हो चुका था। उन्हींमेंसे किसी एक लड़कीसे विशेष घनिष्ठता

हो जाने पर गिरिजा भी मस्तजीकी रेखाकी तरह उसके भाईके सम्पर्कमें आ सकती थी। सम्पर्कके बाद परिचय, परिचयके बाद घनिष्ठता और घनिष्ठताके बाद प्रेम-भाव उत्पन्न होना बिलकुल स्वाभाविक है। दोनोंमें दृढ़-भाव उत्पन्न हो जानेपर सामाजिक विषमताके कारण उनका विवाह तो असंभव था। तब इस विडंबनासे प्रताड़ित होकर गिरिजा भी रेखाकी तरह समाजको चुनौती दे सकती थी और राष्ट्रकी सेवामें संलग्न हो सकती थी। परन्तु घटनाओंके द्वारा क्या उन दोनोंके जीवनमें यह अनिवार्य स्थिति उत्पन्न की गई है कि गिरिजा केवल अभिनेत्री ही हो सकती थी और रेखा केवल राष्ट्रसेविका ही बन सकती थी? क्या उनके चरित्र-चित्रणमें लेखकोंने यह बात प्रदर्शित की है कि उनके लिए और दूसरा मार्ग ही नहीं था?

भारतकी वर्त्तमान राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितिके कारण जो एक नव-विचार-धारा फैल रही है, उसको स्पष्ट करनेके लिए कितने ही उपन्यास लिखे गए हैं। पंडित देवीदयाल चतुर्वेदी ऐसे उपन्यास लिखकर विशेष प्रसिद्धि पा चुके हैं। जोशीजीकी कलामें मनोवैज्ञानिक यथार्थवादकी विशेषता है। चतुर्वेदीजीकी रचनाओंमें एक आदर्शवादकी विशेषता लक्षित होती है। कितने ही समीक्षकोंका कथन है कि मस्तजी एक ऐसे जागरूक जीवन द्रष्टाके रूपमें उपन्यासकार हैं, जो परिवर्त्तनशील जगत्में देशके विभिन्न वर्गोंमें उत्पन्न होनेवाली प्रवृत्तियोंके प्रति सजग हैं। समाज और राजनीतिके सम्बन्धमें उनका अपना दृष्टिकोण है। भारतके स्वतंत्र होनेके पूर्व और द्वितीय महायुद्धके मध्य भारतीय विचार-धारामें जो एक परिवर्त्तन आ गया है, उसीकी पृष्ठभूमि-पर उनका 'प्रवाह' नामक उपन्यास निर्मित हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि लोक या किसी जन-समाजके बीच कालकी गतिके अनुसार जो गूढ़ और चित्य परिस्थितियाँ खड़ी होती रहती हैं, उनको गोचर रूपमें सामने लाना और कभी-कभी निस्तारका मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यासोंका काम है। परन्तु औपन्यासिक जगत्में जो कुछ भी काम किया जाता है, वह ऐसे सहज रूपमें होता है कि कथाके प्रवाहमें कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती।

'प्रवाह' की कथा प्रयागके दो परिवारोंको लेकर आरंभ हुई है। 'रेखा अपनी विधवा माताके साथ प्रयागमें रहती थी। उसकी माँ वहीं एक

पाठशालामें अध्यापिका थी। पड़ोसमें एक तिवारीजी रहते थे। उनका एक पुत्र था लीलाधर और पुत्री थी लता। दोनों परिवारोंमें बड़ा हेल-मेल था। लीलाधर जब तक प्रयागमें रहा, रेखाने कभी उससे खुलकर बात नहीं की। किन्तु जब वह कालेजकी पढ़ाई पूरी कर लखनऊ चला गया, तब रेखाके मनमें अज्ञात रूपसे एक ऐसी आकांक्षा जागने लगी, जिसमें लीलाधरके सामीप्यका स्वप्न समाया था। रेखाकी इस मनोदशाको लता जानती थी और अपने भैया लीलाधरके साथ अपनी प्रिय सहेली रेखाके विवाहकी चर्चा भी वह अपने घरमें चलाना चाहती थी। किन्तु रेखाने ऐसी चर्चा न चलानेकी लतासे कसम ले ली थी। रेखा जानती थी कि विषमताओंसे पूर्ण इस समाजमें ऐसी संभावना मृगतृष्णा-मात्र है। कुछ समयके बाद लीलाधरका विवाह अन्यत्र हो गया। रेखाकी माँका भी देहान्त हो गया। रेखा उसी शालामें अध्यापिका नियुक्त हो गई। लीलाधर भी लखनऊमें डिपुटी कलेक्टर हो गया था।

'एक दिन मकर-संक्रातिके पर्वपर लता, लीलाधर और उसकी पत्नी अलकासे अचानक रेखाकी भेंट हो गई। लीलाधर अपने विवाहके बाद रेखाकी आंतरिक भावनाओंको जान गया था। इसीलिए जब रेखासे अचानक भेंट हो गई, तब उसके मनमें एक हलचल-सी मच गई। उसने रेखाके घर आनेके लिए तो कह दिया, पर वह आ नहीं सका। बहिन और पत्नीको गोरखपुरमें अपने पिताके पास छोड़कर वह फिर प्रयाग आया—सिर्फ यह कैफियत देनेके लिए कि वह रेखासे क्यों नहीं मिल सका। लीलाधरके स्पष्टीकरणसे रेखा वस्तुस्थितिको समझ गई। उसे संतोष भी हो गया और उसने आजीवन कुमारी रहकर राष्ट्र-सेवा करनेका संकल्प कर लिया। जब लीलाधरने रेखाको विवाह कर लेनेके लिए कहा, तब उसने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया—विवाहको ही क्यों आप जीवनकी पूर्णता समझते हैं? आपको संतोष होना चाहिए कि यह रेखा सदा कुमारी रहकर जितना काम कर सकेगी, उतना विवाहित होकर नहीं। दुनियाका माया-मोह मानवको कर्त्तव्यच्युत ही करता है। माया-ममताकी भूल-भुलैया मानवको त्यागके पथपर चलने नहीं देती।

'यह बात नहीं है कि रेखामें नारी-सुलभ भावनाएँ नहीं थी। किन्तु

समाजकी विषमतासे क्षुब्ध होकर उसने उन भावनाओंको सयत्न दबा लिया था। उसके लिए सबसे बड़ा सुख यह था कि लीलाधरके हृदयमें उसके लिए गहरी आत्मीयता सुरक्षित है। इससे अधिक किसी सुखकी चाह उसे नहीं थी।

'एक बार जब लीलाधर एक रातके लिए उसके घरमें पहुँचा, तब रेखाने अपने ही कमरेमें उसके सोनेकी व्यवस्था की। उसे देखकर लीलाधर स्तब्ध रह गया। शरच्चद्रके एक नायककी तरह लीलाधरने कहा कि सूने घरमें अनात्मीय नर-नारीका केवल एक ही संबंध है—पुरुषके निकट औरत सिर्फ औरत ही है। परन्तु रेखाने भी शरत्बाबूकी नायिकाकी तरह उत्तर दिया—मैं उन नारियोंकी जातिकी नहीं हूँ, जो पुरुषके भोगकी वस्तु हैं। उसने अपने विचारों और कार्योद्वारा निष्काम कर्मकी महत्ता अपने जीवनमें प्रकट की। राष्ट्र-सेवाके भावसे प्रेरित होकर वह कलकत्ता गई। हिन्दू-मुसलमानोंका दंगा होनेपर समाचार-पत्रोंमें उसकी हत्याका समाचार प्रकाशित हुआ। परन्तु वह मरी नहीं थी। वह नोआखालीमें जाकर सेवा-कार्यमें संलग्न रही। जब लीलाधरकी बहिन लताके विवाहका निमंत्रण उसे मिला, तब वह लीलाधरके घरमें आई और अपनी जीवन-भरकी कमाई ढाई हजार रुपये लताको भेंटकर फिर सेवाके मार्गपर चली गई।' यही 'प्रवाह' की संक्षिप्त कथा है।

रेखाके चरित्र-गौरवके संबंधमें पाठकोंके मनमें संदेह नहीं हो सकता। फिर भी उन्हें यह शंका अवश्य होती है कि यदि रेखाका विवाह लीलाधरसे हो जाता, तो क्या वह राष्ट्रकी सेवामें संलग्न होती और यह समझती कि दुनियाकी माया-मोह मानवको कर्त्तव्य-च्युत ही करता है? क्या सचमुच उसके हृदयमें विवाहकी लालसा नहीं थी? यह ठीक है कि रेखामें त्याग और संयमकी पवित्र भावनाएँ हैं, भारतीय मर्यादाओंका भी उसे सदा ध्यान रहा है। समाजका स्तर ऊँचा उठानेके लिए उसने आसपासके गाँवोंमें शिक्षाका प्रचार किया तथा ग्रामीणोंको चर्खा और तकली चलानेका अभ्यास कराया।

लीलाधरके इस कथनमें किसीको संदेह नहीं हो सकता कि क्षितिजकी रेखा और प्रयागकी रेखामें बहुत कुछ साम्य है। क्षितिजकी रेखाको मानव कभी छू नहीं सकता, उसे पा नहीं सकता। प्रयागकी रेखा स्नेहमयी होते हुए भी इसी

प्रकार स्पर्शसे परे है—विचारों और चरित्रकी कठोर और अचल शिला। परन्तु पाठक यह नहीं समझ पाता कि उसमें ऐसे भावकी दृढ़ता आ कैसे गई ? उसने अपने मनमें ही लीलाधरको आराध्य देव मान लिया था। परन्तु इससे यह तो नहीं कहा जा सकता कि लीलाधरने उसकी जान-बूझकर उपेक्षा की ? तब किस अनिवार्य परिस्थितिके कारण रेखाने यह कौमार्य-व्रत धारण कर लिया ?

'सुबहके भूले'में गिरिजाने एक बार अपनी प्रधान अध्यापिका मिस बोरासे यह प्रश्न पूछा कि आप अविवाहित क्यों हैं ? बोराने जो उत्तर दिया, उससे गिरिजाके साथ पाठकोंको भी संतोष हो जाता है। अपने प्रेमीकी कृतघ्नता और विश्वासघातसे क्षुब्ध होकर उसने निश्चय किया था कि वह आजीवन कुमारी रहेगी। परन्तु यदि यही प्रश्न रेखासे पूछा जाता, तो वह क्या कहती ? रेखाने लीलाधरसे विवाह न हो सकनेके लिए अन्य किसीको नहीं, बल्कि अपने भाग्यको ही दोषी समझ लिया और उसने यह भी मान लिया कि उसका उत्तरदायित्व समाजकी आर्थिक विषमताओंपर है।

यह सच है कि दहेजकी कुप्रथाके कारण कन्याओंके विवाहमें बड़ी कठिनता होती है। परन्तु जहाँ प्रेम-विवाह संभव है, वहाँ भी क्या यह कहा जा सकता है कि नारीके जीवनमें प्रेमकी समस्या उत्पन्न नहीं होती ? सच तो यह है कि जीवनमें ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं और उनके कारण भावोंका इतना घात-प्रतिघात होता है कि किसी भी समयमें प्रेम उपेक्षा अथवा घृणाके रूपमें बदल सकता है। प्रेमकी समस्या आर्थिक समताके द्वारा हल नहीं हो सकती। वह बहिर्जगत्की समस्या नहीं है। वह तो अन्तर्जगत्की समस्या है और वहीं व्यक्तिका भाव-वैचित्र्य लक्षित होता है। फिर यह भी कैसे कहा जा सकता है कि रेखा और लीलाधरमें आर्थिक विषमता होनेके कारण विवाह असंभव था ? हिन्दू समाजमें जाति-भेद विवाहके लिए सबसे बड़ा बाधक हो सकता है, यद्यपि 'सुबहके भूले'के अनुसार झमिया तकको यह विश्वास था कि आजकल जो एक नया बाबू समाज हो गया है, वहाँ जातिभेद भी विशेष बाधक नहीं है।

लीलाधरका जैसा चित्र अंकित किया गया है, उससे यह प्रतीत नहीं होता कि रेखाके साथ लीलाधरके विवाहमें कोई विशेष बाधा उत्पन्न हो सकती थी। लेखकने अपने उपन्यासमें रेखाके लिए ऐसी अनिवार्य स्थिति नहीं उत्पन्न की है, जिससे रेखाके कौमार्य-व्रतपर पाठकोंको सहसा विश्वास हो जाय।

उपन्यासोंमें घटनाओंके विन्यासमें ही कथाकारकी सच्ची कला प्रकट होती है। ऐसा कोई भी श्रेष्ठ उपन्यास नहीं है, जिसमें विभिन्न घटनाओंके द्वारा चरित्रका विकास वर्णित न हुआ हो। विभिन्न घटनाओंके द्वारा ही किसीके जीवन और चरित्रकी विशेषता लक्षित होती है। हिन्दीके अधिकांश उपन्यासोंकी कथावस्तुमें यह शिथिलता लक्षित होती है। जीवन अनंत हैं और उसकी समस्याएँ भी अनंत हैं। तभी तो जीवनके प्रति हम लोगोंमें सदैव एक कौतूहलका भाव बना रहता है। उसीके कारण आदिकालसे लेकर अभी तक एकसे एक विलक्षण कथाओंका निर्माण होनेपर भी कथा-साहित्यकी ओर लोगोंका अनुराग बना ही रहता है।

११—ऐतिहासिक उपन्यास

(१)

आधुनिक हिन्दी साहित्यमें देश, जाति, समाज और परिवारकी समस्याओंको लेकर कितने ही उपन्यास लिखे गये। ऐसे उपन्यासोंकी रचना अभी तक हो रही है। इनमेंसे कुछ उपन्यास विशेष लोकप्रिय भी हुए हैं। पर उन्हीं उपन्यासोंको देखकर ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दी साहित्य भारतीय जनतासे दूर ही रहता जा रहा है। भारतीय जनताके नामसे उनमें जो कुछ लिखा जा रहा है, उसमें मध्यमवर्गकी ही लालसाएँ, वासनाएँ, महत्त्वाकांक्षाएँ और दुर्बलताएँ अंकित हो रही हैं। जो सचमुच भारतीय जनता है, उसके न तो सच्चे सुखोंकी ओर ध्यान दिया जाता है और न सच्चे दुखोंकी ओर।

हिन्दीके अधिकांश कलाकार मध्यमवर्गका ही प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। अपने ही भाव-जगत्में लीन रहनेके कारण उन्होंने यथार्थ भारतीय जीवनकी सचमुच उपेक्षा की है। सच तो यह है कि वर्तमान युगमें असन्तोष और क्रान्तिकी भावनासे प्रेरित होकर उन्होंने किसानों और मजदूरोंके जीवनका जो चित्र अंकित किया है, उसमें उन्हींके संघर्ष और असन्तोषके भाव व्यक्त हुए हैं। भारतीय जनताका सच्चा सुख, सच्चा उल्लास, सच्चा प्रेम और सच्चा दुःख ये सभी अधिकांश कलाकारोंके लिए उपेक्षणीय हो गये हैं। जीवनमें केवल तीव्र बुभुक्षा, असन्तोष और अशान्तिकी ज्वाला ही नहीं रहती, उसमें स्नेह, सुख, विश्वास, सहिष्णुता और उल्लासका भी समावेश होता है। हम लोगोंके जीवनमें सुख-दुख, आशा-निराशा, प्रकाश-अन्धकारका कुछ ऐसा

मेल रहता है कि उसके कारण जीवन स्पृहणीय हो जाता है। मध्यमवर्गके सुखोंकी तुलनामें दीन जनोंके सुख क्षुद्र प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार उनके कष्ट, व्यथा और अनुराग भी मध्यमवर्गके लोगोंके लिए तिरस्करणीय होते हैं। इसीसे वे मजदूरों और किसानोंके जीवनमें कहीं गरिमा नहीं देख पाते।

जीवनमें न तो एकमात्र असन्तोषका ही आधिपत्य रहता है और न संघर्षका। भिन्न-भिन्न लोगोंके हृदयोंमें भिन्न भिन्न कारणोंसे भावोंका उत्थान-पतन होता रहता है। जहाँ प्रेम है वहाँ त्याग, सहिष्णुता और सेवाके कारण ममत्वका जो दृढ़ बन्धन तैयार हो जाता है, उसको अभावोंका कष्ट भी नष्ट नहीं कर पाता। प्रेम, सहानुभूति, सेवा, और त्यागको जीवनसे पृथक् कर देनेके बाद जीवन बीभत्स हो जाता है। प्रेमके ही कारण हम कष्टोंको स्वेच्छासे स्वीकार लेते हैं। हम शरीरके कष्टोंको ग्रहण कर हृदयके सुखोंको प्राप्त कर लेते हैं। तभी तो दैन्यावस्थामें भी जीवनकी एक गरिमा रहती है। आधुनिक सामाजिक उपन्यासोंमें विलासप्रियताका जो चित्र अंकित होता है, उसमें हम जीवनकी सच्ची गरिमा नहीं देख पाते।

यह हर्षकी बात है कि हिन्दीमें ऐतिहासिक उपन्यासोंकी भी वृद्धि हो रही है। साहित्यके नवजागरण-कालमें ऐतिहासिक उपन्यासोंकी एक विशेष महत्ता है। बात यह है कि ऐतिहासिक उपन्यासोंमें हम अतीत गौरवको प्रत्यक्ष देख लेते हैं और उससे हम जीवनकी चिरन्तन महिमाको जान लेते हैं। इतिहासमें राष्ट्रका उत्थान-पतन मुख्य विषय होता है। उसमें व्यक्तिके अपने जीवनकी विशेष महत्ता नहीं रहती। राष्ट्रके उत्थान-पतनमें जिन व्यक्तियोंका हाथ रहता है, उनका वर्णन राष्ट्रके अंग होनेसे ही इतिहासमें निबद्ध होता है। स्वयं व्यक्तिका चरित्र उसमें गौण स्थान ही पाता है। उपन्यासमें व्यक्तिकी ही प्रधानता रहती है। देशके कर्मक्षेत्रमें राष्ट्रीय जीवनका जो निर्माण होता है, उसमें हम एक व्यक्तिके चरित्रको प्रधानता देकर उसीके सुख-दुखमें देश और कालकी विशेष परिस्थितिकी प्रतिच्छाया देख लेते हैं। देशके भीतर जो विकट संघर्ष होता है, जो घोर युद्ध होता है, क्रान्तिकी जो भयानक आँधी आती है, उसमें हम एक व्यक्तिके पारिवारिक जीवनमें प्रेम और त्यागकी अपूर्वता देखकर जीवनकी चिरंतन महिमाको प्राप्त कर लेते हैं।

इतिहासके पृष्ठोंमें जो राजा, सम्राट्, सेनापति, नेता और शासक अपने-अपने विशेष प्रभुताशाली पदोंके कारण अपने कृत्योंसे राष्ट्रके उत्थान और पतनमें विशेष प्रभाव डालनेके कारण प्रख्यात हो गये हैं, उनके मानवीय भावोंका उत्थान-पतन हम उपन्यासोंमें पाते हैं। उन उपन्यासोंमें उनके अपने प्रेम, विद्वेष, कष्ट, वेदना, आकांक्षा और सुखका वर्णन रहता है। वे एकमात्र राष्ट्रके कर्णधार नहीं रहते, वे मनुष्य होकर पिता, पुत्र, पति और प्रेमीके रूपमें भी प्रदर्शित होते हैं। तब हम उनके चरित्रमें जीवनकी गरिमा या हीनताका अनुभव करते हैं।

हिन्दीके आदिकालमें अन्य भाषाओंके ऐतिहासिक उपन्यासोंका अनुवाद हुआ। बंकिम बाबूके अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यास अभी तक प्रसिद्ध हैं। उनके बाद रमेश बाबूके 'बंग-विजेता', 'माधवी-कंकण', 'जीवन-प्रभात' और 'जीवन-सन्ध्या' भी लोकप्रिय हुए। राखालचन्द्र वन्द्योपाध्यायके 'करुणा' और 'शशांक' नामक ऐतिहासिक उपन्यासोंने भी हिन्दी साहित्यमें अपना एक स्थान बना लिया। उन्हींके बाद हिन्दीमें मौलिक ऐतिहासिक उपन्यासोंकी रचना होने लगी। बाबू वृन्दावनलाल वर्माने कितने ही ऐतिहासिक उपन्यासोंकी रचना कर हिन्दीमें सबसे अधिक कीर्ति प्राप्त की है। उनके उपन्यासोंके बाद कुछ ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास प्रकाशित हुए हैं, जिनसे हिन्दी-साहित्यकी विशेष गौरव-वृद्धि हुई है। यशपालजीका 'दिव्या' नामक उपन्यास और आचार्य चतुरसेन शास्त्रीका 'वैशालीकी नगर-वधू' नामक उपन्यास हिन्दी साहित्यके स्थायी ग्रन्थ-रत्न हैं। इन दोनोंमें उपन्यासकारोंने औपन्यासिक कलाकी सच्ची निपुणता प्रदर्शित की है।

ऐतिहासिक उपन्यासोंमें लेखकोंकी सबसे बड़ी कुशलता ऐतिहासिक वातावरण उपस्थित करनेमें है। यह तो सच है कि उपन्यास इतिहास नहीं है। औपन्यासिक पात्रोंके निर्माणमें कल्पना ही काम करती है, पर पात्रोंके चरित्र-विकासमें तत्कालीन परिस्थितियोंका ही प्रभाव पड़ता है। इसलिए ऐतिहासिक उपन्यासोंके पात्रोंके चरित्रमें हम लोग तत्कालीन समाजकी सारी विशेषताएँ जान लेते हैं। उस युगकी विचारधारा, आदर्श और प्रचलित रीति-नीतिके कारण मनुष्योंके व्यक्तिगत जीवनकी गति किस प्रकार एक विशेष परिस्थितिमें

पढ़कर क्रमशः विकसित होती है, यह हमें ऐतिहासिक उपन्यासोंसे ज्ञात हो सकता है।

यह सच है कि ऐतिहासिक उपन्यासोंके पात्रोंमें भी कथारसकी पुष्टि विभिन्न पात्रोंके जीवनमें भावोंके उत्थान-पतनसे लक्षित होती है। परन्तु भावोंके उस उत्थान-पतनके साथ हमें तत्कालीन युगका जो ऐतिहासिक चित्र दृग्गोचर होता है, उससे कथा-रसके उपभोगमें अधिक तीव्रता आ जाती है। स्काट, ड्यूमा, ह्यूगो, और डिकिन्सके उपन्यासोंकी यही विशेषता है। बंग भाषाकी औपन्यासिक रचनाओंमें भी वही विशेषता लक्षित होती है। बंकिम बाबूकी आयेशा अथवा रमेश बाबूकी जुलेखाके जीवनमें हम विभिन्न मानवीय भावोंका केवल घात-प्रतिघात ही नहीं देखते हैं; किन्तु उनमें युगकी जीवन-धाराका प्रभाव भी देख पाते हैं। यह सच है कि भारतीय इतिहासमें न 'आयेशा' है और न 'जुलेखा' और उनके न रहनेसे भारतीय इतिहासमें हम किसी प्रकारके अभावका अनुभव भी नहीं करते। परन्तु 'दुर्गेशनन्दिनी' और 'माधवी-कंकण' में उनके न रहनेसे उन उपन्यासोंका माधुर्य ही नष्ट हो जाता। बंकिम बाबूके ऐतिहासिक उपन्यासोंके सभी कल्पित पात्रोंके व्यक्तित्वमें इतना अधिक आकर्षण है, मानो उन्हींमें उनके युगोंकी सच्ची आत्मा विद्यमान है।

विमला और गजपति, दलिनी बेगम और शैवलिनी, चन्द्रशेखर और प्रताप, नवकुमार और कपाल-कुण्डला, लुत्फुन्निसा और मृणालिनी आदि ऐसे चरित्र हैं कि कोई भी पाठक उन्हें भूल नहीं सकता। इतना ही नहीं, उनके चरित्रकी तुलनामें इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्तियोंके चरित्र उपेक्षणीय हो जाते हैं।

रवीन्द्र बाबूने एक स्थानमें लिखा है कि विधिप्रणीत इतिहास और मनुष्य-रचित कहानी दोनोंके मेलसे संसार बना है। मनुष्यके लिए सिर्फ अशोक और अकबर ही सत्य नहीं हैं। जो राजपुत्र मणि-माणिक्यके अनुसंधानमें सात समुद्रको पारकर चला जाता है, वह भी सत्य है। हनुमानने गंधमादन पहाड़को उखाड़ लिया, इसकी भी सत्यतामें उसे सन्देह नहीं है। कौन अधिक प्रमाणित है और कौन कम प्रमाणित है, यह उनके लिए कसौटी नहीं है। कथाकी दृष्टिसे कौन सच्चा है, यही उसकी सत्यताकी यथार्थ कसौटी है।

इतिहासमें पात्र लेखककी सृष्टि नहीं है। परन्तु ऐतिहासिक उपन्यासमें सभी पात्र लेखककी उपज हैं। इसका फल यह होता है कि इतिहासके एक ही पात्रको हम भिन्न-भिन्न उपन्यासोंमें भिन्न-भिन्न रूपोंमें देखते हैं। यह संभव है कि किसी उपन्यासमें कोई पात्र ऐतिहासिक व्यक्तिसे बहुत कुछ मिलता जुलता हो, पर दोनों एक कभी नहीं हुए हैं। इसीलिए एक विद्वान्ने लिखा है कि श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासोंसे भी इतिहासका काम नहीं लिया जा सकता। उनमें ऐतिहासिक घटनाओंका अनुसरण कर पात्रोंका वर्णन भले ही किया जाय, पर उनकी जीवनकी घटनाएँ ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं होतीं। सच तो यह है कि उपन्यासोंमें बाह्य संसारकी जो घटनाएँ दृग्गोचर होती हैं, वे स्वयं महत्त्वपूर्ण नहीं होतीं। औपन्यासिक पात्रोंको अपने जीवनकी अभिव्यक्तिके लिए किसी देश और कालका आश्रय लेना पड़ता है। यहीं तक उनकी ऐतिहासिकता है। ज्यों ही उनकी जीवन-लीला आरम्भ होती है, त्यों ही हमारा ध्यान देश और कालसे हटकर उन पात्रोंपर केंद्रीभूत हो जाता है।

२

हिन्दीके प्रसिद्ध कवि 'दिनकर'ने 'कुरुक्षेत्र' नामक एक ऐतिहासिक काव्य लिखा है। वे 'महारथी कर्ण' नामक काव्यकी रचनामें दत्तचित्त हैं। उन्होंने अपने एक लेखमें इस प्रश्नका उत्तर दिया है कि महाकाव्योंके लिए अधिकांश हिन्दी कवि अतीतकी ओर क्यों जाते हैं। उनका कथन है कि घटनाओं और नायकोंके सम्बन्धकी अनुभूतियाँ समय-समयपर बदलती रहती हैं और इन्हीं बदली हुई अनुभूतियोंको चित्रित करनेके लिए कलाको भी अपना रूप बदलना पड़ता है। असल सवाल नायक या घटनाके चुनावका नहीं, उनके सम्बन्धमें समकालीन अनुभूतिकी व्याख्याका है। कविका विषय चाहे वह कहींसे भी लिया गया हो, उसके अपने समयसे दूर नहीं होता। कविगण उनके माध्यमसे अपने समयकी व्याख्या किया करते हैं। इसके अतिरिक्त जो घटना या चरित्र अपनी प्राणवत्ताके कारण अनेक कवियोंको लाँघकर हमारे पास जीवित रह सकता है, निश्चय ही उसमें कुछ ऐसे गुण होंगे

जो सम्पूर्ण मानवताको झंकृत कर सकते हैं। ऐतिहासिक विषय काल्पनिक विषयोंकी अपेक्षा प्रायः कुछ अधिक सुपरिचित और विश्वसनीय होते हैं।

हिन्दीमें ऐतिहासिक महाकाव्य तो कम लिखे गये हैं, पर ऐतिहासिक नाटकों और उपन्यासोंकी अधिक रचना हुई है। अधिकांश ऐतहासिक नाटक अतीत कालके अन्धकारमय और विलुप्त जीवनपर प्रकाश डालते हैं। उनमें ऐतिहासिक घटनाओंका इतना महत्त्व नहीं रहता, जितना तत्कालीन जीवनके चित्रका। उसीसे हमें कौतूहल होता है, विस्मय होता है, आतंक होता है, श्रद्धा होती है और मानव-जीवनकी चिरन्तन गरिमापर दृढ़ विश्वास भी होता है। अतीत कालमें जीवनकी जो समस्याएँ थीं, उनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रहता। हमें अपने वर्तमान कालकी समस्याओंमें व्यस्त रहना पड़ता है। यह बात दूसरी है कि वर्तमान कालकी समस्याओंको सुलझानेमें हमें अतीत कालके आदर्शोंसे सहायता मिल जाय; पर एकमात्र वर्तमानकालकी अनुभूतिके आधारपर यदि हम अतीत कालकी घटनाओं और नायकोंके जीवनकी व्याख्या करें, तो हम उनके चरित्रका यथार्थ गौरव नहीं प्राप्त कर सकेंगे।

वृन्दावनलालजी वर्माने हिन्दीमें कितने ही ऐतिहासिक उपन्यासोंकी रचना कर अच्छी ख्याति प्राप्त की है। उनकी रचनाओंकी प्रशंसा सभी लोगोंने की है। उनके उपन्यासोंका प्रधान कर्मक्षेत्र बुंदेलखंड है। उनके तीन उपन्यास विशेष प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुए हैं—गढ़कुंडार, झाँसीकी रानी और मृगनयनी। 'गढ़कुंडार' में एक ऐतिहासिक घटनाका वर्णन है। सन् १२८८ में बुंदेलोंने कुंडारगढ़के खंगारोंका नाश किया था। उस समय खंगार-नरेश हुरमतसिंह कुंडारके अधिपति थे। उनके पुत्रका नाम था नागदेव। सोहनपाल बुंदेला उन्हींकी सहायतासे अपने बंधुओंको पराजित कर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था। उसकी एक लड़की थी हेमवती। जब नागदेवने उसको देखा तब उसे ऐसा जान पड़ा, मानो दुर्गा ही पृथ्वीपर अवतीर्ण हो गई हो। वह हेमवतीपर मुग्ध हो गया। सोहनपाल क्षत्रिय था और नागदेव खंगार, इसलिए उनका विवाह संभव नहीं था। नागदेवने हेमवतीको प्राप्त करनेके लिए सभी प्रकारकी चेष्टाएँ कीं, पर उसकी चेष्टाएँ विफल हुईं। सोहनपाल किसी

प्रकार अपने परिवारके साथ कुंडारगढ़से निकल आये; पर खंगारोंको नष्ट करनेके लिए उन्होंने एक षड्यंत्र रचा। हुरमतसिंहके पास खबर भेजी गई कि सोहनपाल अपनी कन्या देनेके लिए तैयार है। विवाहका दिन भी निश्चित हो गया। उस दिन जब खंगार मदिरा-पान कर बेहोश हो गये थे, तब बुंदेलोंने उनपर आक्रमणकर उनका संहार कर डाला। इसके बाद कुंडारमें सोहनपालका प्रभुत्व हो गया। 'मृगनयनी' में ग्वालियरके राजा मानसिंह तोमरके विवाहका वर्णन है। मृगनयनी गूजर-कुलकी थी। वह राई गाँवके एक दरिद्र किसानकी कन्या थी। वह अपने शारीरिक बल और परम सौन्दर्यके लिए प्रसिद्ध थी। उसके बल और रूपपर मुग्ध होकर मानसिंहने उससे विवाह कर लिया। 'झाँसीकी रानी' में लक्ष्मीबाईकी समस्त जीवन-कथा वर्णित है। लेखकने स्वयं लिखा है कि इतिहासके कंकालमें मांस और रक्तका संचार करनेके लिए मुझको उपन्यास ही अच्छा साधन प्रतीत हुआ। इसीलिए किसी भी ऐतिहासिक घटनाको उन्होंने एक उपन्यासका रूप दे दिया है। उनके उपन्यासोंके अधिकांश पात्र ऐतिहासिक हैं।

संसारमें कितनी ही घटनाएँ होती हैं; परन्तु सभी घटनाओंका एक-सा ऐतिहासिक महत्त्व नहीं रहता। इतिहासमें केवल कुछ प्रमुख घटनाओंका ही समावेश किया जाता है। इसी प्रकार किसी विशेष युगमें जन्म लेनेसे ही कोई व्यक्ति इतिहासमें स्थान नहीं पा जाता। ऐतिहासिक व्यक्तियोंमें युगकी गरिमा देखी जाती है। वर्माजीके ऐतिहासिक पात्रोंके अस्तित्वमें संदेह नहीं किया जा सकता और न उपन्यासोंमें वर्णित घटनाओंकी सत्यताके विषयमें कोई तर्क किया जा सकता है। विचारणीय यह है कि क्या उनके उपन्यासोंमें युगका सच्चा गौरव पात्रोंके चरित्रमें प्रदर्शित हुआ है?

मध्ययुगमें जीवनका एक विशेष आदर्श था। यह सच है कि जब युगका अन्त होता है, तब उसके आदर्शका भी लोप हो जाता है। पर लुप्त हो जाने पर भी आदर्शका गौरव नहीं नष्ट होता। सभी युगोंमें अपने युगके आदर्शसे लोगोंको अपने जीवनमें प्रेरणा मिलती है। मध्ययुगमें राष्ट्रमें देशभक्तिकी वह भावना काम नहीं कर रही थी, जो आधुनिक युगकी सबसे बड़ी विशेषता है। वह राजतंत्रका युग था। उस समय जाति-धर्मकी

महत्ता थी। लोगोंमें अपने कुलका बड़ा अभिमान था। कुलकी मर्यादाकी रक्षा करना एक बड़ा कर्त्तव्य था। धर्मके प्रति एक बड़ी निष्ठा थी। स्त्रियाँ भी अपनी मर्यादाकी रक्षाके लिए सदैव कटिबद्ध रहती थीं। देश-भरमें क्षात्रधर्म चैतन्य था। लोगोंमें शौर्य था, साहस था, विश्वास था, सरलता थी। वे युद्धमें प्राण देना जानते थे, पर छलसे विजय प्राप्त कर लेना उन्हें अभीष्ट न था। आत्ममर्यादा, स्वाधीनता और कुल गौरवकी रक्षा करना उनका परम धर्म था। मध्ययुगमें प्रेमकी स्वच्छन्दताके लिए स्थान नहीं था। विवाहके बाद ही प्रेमका आरम्भ होता था। कर्त्तव्य-ज्ञान-रहित लालसाको हिन्दू समाजमें प्रेमका स्थान नहीं दिया गया था। हिन्दू स्त्रियाँ विवाहकी मर्यादाको स्वीकारकर सतीत्वकी रक्षामें सदैव सचेष्ट रहती थीं। परपुरुषका कर-स्पर्श भी उन्हें असह्य था। सतीत्व धर्मकी रक्षाके लिए वे हसते-हँसते अग्निमें कूद पड़ती थी। वह राजभक्तिका युग था। मनुष्य राजामें ही शक्तिकी पराकाष्ठा देखता था। राजा ही देशकी शक्तिका प्रतिनिधि होता था। राजा ही उनकी कल्पनाका आदर्श था। उसीमें लोग अपनी समस्त इच्छाओंका चरम परिणाम देखते थे।

रवीन्द्रनाथका कथन है कि भारतकी यह राजभक्ति प्रकृतिगत है अर्थात् उसके स्वभावमें ही वह छिपी हुई है। भारतीय हिन्दूकी राजभक्तिमें एक और विशेषता थी। वह यह कि साधारण हिन्दू राजाको देवतुल्य और राजभक्तिको धर्मस्वरूप मानते थे। यही कारण है कि विभिन्न अवसरोंपर वे केवल राजदर्शन-द्वारा कृतार्थ हो जाते थे। उनकी यह राजभक्ति उनके एक विशेष धार्मिक तत्त्वपर आश्रित थी। हिन्दू माता-पिताको देवता कहते थे। वे सती स्त्रीको लक्ष्मी मानते थे। स्त्रियाँ अपने स्वामीको देवता समझती थीं और गुरुजनोंको देवतुल्य मानकर उनकी पूजा करती थीं। इसका कारण यह है कि जिन सम्बन्धोंसे हिन्दू अपने जीवनमें सच्चे श्रेयको प्राप्त करते थे, उन सभी सम्बन्धोंमें वे आदि मंगल शक्तिके अस्तित्वको स्वीकार करते थे।

गायका पशु होना एक हिन्दूको मालूम न हो, यह बात नहीं है, फिर भी गायकी पूजा कर हिन्दू अपनेको कृतकृत्य समझता था। इसी प्रकार कारीगर अपने औजारको प्रणाम करता था, योद्धा अपनी तलवारके आगे सिर झुकाता

था, गवैया अपनी वीणाको अपने मस्तकसे स्पर्श करता था, कायस्थ अपनी कलमकी पूजा करता था और व्यवसायी अपनी रोकड़-बही तककी पूजा करना आवश्यक समझता था। वे सब जानते थे कि ये यंत्र हैं, साधन हैं, निमित्त मात्र हैं, इनसे हमारा जो उपकार होता है, वह ईश्वरका अनुग्रह है। इसी लिए लोग राज्यशासनके कार्यको भी निर्जीव यंत्ररूपमें अनुभव नहीं करते थे। वे राज्य-व्यवस्थामें भी देवताकी शक्तिको देखते थे। तभी उससे वे अपना आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करते थे। मध्ययुगमें राजसत्ता अवश्य अव्यवस्थित थी; परन्तु समाजमें पूर्णरूपसे सुव्यवस्था हो गई थी। धर्म, नीति और कर्त्तव्य सभीकी एक निश्चित सीमा थी।

प्रेमचंदजीने 'नवनिधि' नामक कथासंग्रहमें मध्ययुगकी उसी व्यवस्था और नीतिको समझानेके लिए कुछ कहानियाँ लिखी हैं। कहानियोंके पात्र कल्पित होनेपर भी उनमें मध्ययुगके ऐतिहासिक सत्य अवश्य परिस्फुट हुए हैं। बंकिमचंद्र और रमेश बाबूके ऐतिहासिक उपन्यासोंमें भी कल्पनाकी स्वच्छंदता रहनेपर भी मध्ययुगके आदर्शका चित्रण हुआ। पात्र कल्पित हों अथवा ऐतिहासिक, उनके चरित्रमें मध्ययुगकी भावनाएँ स्पष्ट रूपसे लक्षित होती हैं। इसीमें ऐतिहासिक उपन्यासोंकी सफलता है। पर कथारसके लिए जीवनकी विभिन्न घटनाओंके भीतर भावोंके उत्थान-पतनका चित्रण आवश्यक है। प्रेम और विद्वेष, आशा और निराशा, आशंका और उद्वेगके कारण जैसे अंतर्जगत्में एक हलचल बनी रहती है, उसी प्रकार विभिन्न घटनाओंके चक्रमें पड़कर विभिन्न परिस्थितियोंके कारण बहिर्जगत्में भी मनुष्यका जीवन विक्षुब्ध रहता है। घटनाओंके साथ भावोंका तारतम्य प्रदर्शित कर उपन्यासकार अपने नायक अथवा नायिकाके जीवनमें एक ऐसी स्थिति लाता है, जहाँ पाठक उसके चरित्रकी सच्ची क्षमता और अक्षमता देख लेता है। जीवनका जो अंत अनिवार्य है, वह तो होगा ही। मनुष्य अपनी परिस्थितियोंपर विजय प्राप्त कर ले अथवा उनसे पराभूत हो जाय, पर उसकी सारी क्षमताओं और अक्षमताओंके भीतर मानवताका जो गौरव रहता है, उसीसे पाठकोंकी सच्ची सहानुभूति उस मनुष्यके प्रति होती है और तभी उन्हें उसकी कथासे तृप्ति होती है।

सिकन्दर लोदीके आक्रमणके बाद जब गाँवोंमें जीवनका नवविकास हुआ, तब मृगनयनीकी जीवन-कथाका आरम्भ हुआ। संसारमें एक ओर संहार होता है और दूसरी ओर नवसृष्टि। युद्धकी लोलुपताने विध्वंस किया और श्रमकी शक्तिने निर्माण। श्रमकी उस शक्तिमें प्रेमकी स्फूर्ति रहती है। निशाके घोर अंधकारके बाद उषःकालमें अनुरागकी नव लालिमाकी दीप्ति रहती है। इसीसे सारी सृष्टिमें फिर आनन्द और उत्साहके साथ नवचेतनता आ जाती है। होलीके उत्सवमें निन्नी और लाखीके विनोदका विशद वर्णन पढ़कर पाठकोंको यह संदेह होता है कि अगले परिच्छेदोंमें अब निन्नी और लाखीके जीवनमें लेखकके द्वारा संघर्षकी कटुता प्रदर्शित होगी। वसन्तका उन्माद ग्रीष्मके उत्तापका सूचक है। तारुण्यकी प्रेम-क्रीड़ाओंमें अब कर्त्तव्यकी कठोरता लक्षित होगी। इसीलिए खेतके मचानपर जब निन्नीकी असाधारणताका परिचय होता है तब पाठकोंका कौतूहल बढ़ जाता है।

मध्ययुगके राजाओं और रानियोंके सम्बन्धमें उस ग्राम्य बालिकाकी धारणाएँ कम असाधारण नहीं थीं। उस समय साधारण जनता युद्धोंके प्रति उदासीन थी। युद्ध होते थे, पर उन युद्धोंका परिणाम राजाओं या राजाओंसे सम्बद्ध लोगोंको ही भोगना पड़ता था। देशकी साधारण स्थितिमें कोई परिवर्तन नहीं होता था। अधिकांश लोग अपने-अपने कार्योंमें व्यस्त रहकर केवल एक कौतूहलके भावसे भिन्न भिन्न राज्योंका उत्थान-पतन देखते थे। इसमें संदेह नहीं कि शत्रुओंका आक्रमण होनेपर राजा ही गढ़में अपने भाई-बन्धुओंको बन्द कर लड़ते-लड़ते मर जाते थे और उनकी स्त्रियाँ चितामें जलकर भस्म हो जाती थीं। राजपूत जातिमें ही वीरत्वकी वह भावना थी, जिसके कारण वे युद्धमें मरकर वीरगतिको प्राप्त करते थे। जातिके भीतर जो यह भावना प्रचण्ड रूपसे विद्यमान थी, उसका कारण राजपूत जातिकी स्त्रियाँ थीं। यदि स्त्रियोंमें वह भाव न रहता, तो यह सम्भव नहीं था कि राजपूत जातिके भीतर शौर्यकी दीप्ति बनी रहती। उन राजपूत रानियोंके शौर्यके सम्बन्धमें कितनी ही कथाएँ अभी तक प्रचलित हैं। यह आश्चर्यकी बात है कि उन रानियोंके सम्बन्धमें पन्द्रह वर्षकी निन्नीके हृदयमें यह विचार हो कि उन रानियोंके हाथ पैर इतने निकम्मे हो गये हैं कि अपने ऊपर हाथ और आँख

डालनेवाले पुरुषोंको घूँसोंसे धरतीमें नहीं सुला सकते। गाँवोंके भीतर केवल नन्नीके ही खेत नहीं थे। क्या निन्नी अपने बाल्यकालसे यह देखती आ रही थी कि उसके गाँवकी सभी स्त्रियाँ तीर-कमान चलाना जानती हैं और अपने ऊपर आँख और हाथ डालनेवाले पुरुषोंको घूँसेसे धरतीपर सुला देती हैं? सच तो यह है कि निन्नी और लाखीके चरित्र-चित्रणमें लेखकने सर्वत्र असाधारणता ही प्रदर्शित की है। उनके प्रेमालापमें विलक्षणता है। उनके प्रेम-सम्बन्धमें स्वच्छंदता है। उनके कार्यों और व्यवहारमें पुरुषोचित निर्भीकता और उद्दण्डता है। ग्वालियर-नरेशके प्रेम-प्रस्तावको स्वीकार कर निन्नी सबसे पहले यही निश्चय करती है कि मैं पर्दा नहीं करूँगी। ग्रामीण जनतामें भी विचारोंकी जो क्रान्ति उनके विवादसे स्पष्ट होती है, उससे ऐसा जान पड़ता है कि आधुनिक युगकी क्रान्तिकी भावना मध्ययुगकी जनतामें ही स्पष्ट रूपसे दृढ़ स्थान पा चुकी थी। जो लेखक अपनी विचारधाराको ऐतिहासिक या कल्पित पात्रोंके वार्तालापसे पुष्ट करनेका प्रयास करता है, वह अपनी कथाकी स्वाभाविक गतिको नष्ट कर एक ऐसी कृत्रिमताका वातावरण उत्पन्न कर देता है, जिसमें पाठकोंको विरक्ति होने लगती है। व्यक्तिके जीवनमें सदैव इतना वैचित्र्य रहता है और उसके अन्तर्जगत्में भावोंका इतना संघर्ष होता रहता है कि कथामें रोचकता लानेके लिए बाह्य परिस्थितिमें परिवर्तन करनेकी विशेष आवश्यकता ही नहीं रहती। यह ठीक है कि वर्तमान युगमें प्रेमके कारण विवाहकी एक समस्या उपस्थित हो गई है। प्रेमकी भावनाको मुख्य मानकर समाजके बन्धनोंकी अब उपेक्षा की जा रही है। उससे यह स्पष्ट सूचित होता है कि समाजकी व्यवस्थामें शिथिलता आ गई है और अब नवव्यवस्थाके निर्माणकी आवश्यकता है। परन्तु मध्ययुगमें समाजकी व्यवस्थामें इतनी दृढ़ता थी कि विवाहके लिए जो सामाजिक बन्धन था, उसमें नारी-धर्मका सच्चा गौरव माना जाता था। उसमें प्रेमकी स्वच्छंदताके लिए स्थान ही नहीं था। एक ब्राह्मणके हृदयमें एक क्षत्रिय-कन्याके प्रति अथवा एक कायस्थके हृदयमें ब्राह्मण-कन्याके प्रति प्रेमका भाव उत्पन्न हो जाना मनकी असाधारण स्थितिको अवश्य सूचित करता है, भले ही वह असम्भव न हो। पर ऐसे प्रेमका परिणाम विवाहमें हो, यह विचार मध्ययुगके

लिए असम्भव अवश्य है। ऐसे प्रेमकी भावनाको हृदयमें छिपाकर और अपने चरित्रकी हीनता समझकर साधारण लोग आधुनिक हिन्दू-समाजकी शिथिल सामाजिक व्यवस्थामें भी लज्जाका ही अनुभव करते हैं। वे विवाहकी बात सोच ही नहीं सकते। इसी लिए वर्माजीके उपन्यासोंमें अन्तर्जातीय प्रेम-विवाहकी समस्यासे कथामें एक शिथिलता-सी आ जाती है। उसके स्थानमें वासनाओंकी अदम्य प्रवृत्तियोंके वशीभूत होकर यदि कोई पात्र अपनी नायिकाको प्राप्त करनेके लिए प्रचण्ड शौर्य प्रदर्शित करता और युद्धमें अपने प्रतिपक्षियोंको परास्त कर नायिकाको स्वायत्त करता, तो उसमें मध्ययुगकी भावना अधिक स्पष्ट होती।

सभीके जीवनका विकास देश और कालके भीतर होता है। किसी विशेष युगमें जातिकी जो क्षमता या अक्षमता लक्षित होती है, उसका मूल उन जातीय आदर्शोंमें विद्यमान रहता है, जो व्यक्ति, समाज और जाति तीनोंकी उन्नतिमें एक ही रूपसे प्रेरणा देते हैं। व्यक्तिकी महत्त्वाकांक्षामें भी गौरवका वही भाव काम करता है, जो समस्त जातिके भीतर विद्यमान रहता है। यह सच है कि व्यक्तिकी अपनी भी क्षमता या अक्षमता होती है। अपनी आकांक्षा, अपनी इष्टसिद्धि, अपनी महत्ता और अपने प्रयासके भीतर अपनी एक कामना व्यक्तिको जीवनके किसी एक विशेष पथपर अग्रसर होनेके लिए प्रेरित करती है। अपनी प्रतिकूल बाह्य परिस्थितियोंसे उसे संघर्ष भी करना पड़ता है। फिर भी यह सच है कि सभी युगोंमें एक विशेष आदर्शकी ही शक्ति सभीके जीवनकी गतिको निर्दिष्ट करती है। व्यक्ति पृथक् होकर भी उसीके कारण सबसे संबद्ध होता है। उसीके आधारपर नीतिका निर्माण होता है। उपन्यास-लेखकका कर्त्तव्य यही है कि युगके अनुकूल ही वातावरण निर्मित कर उसमें व्यक्तिके जीवनका विकास प्रदर्शित करे।

१२—उपन्यासका भविष्य

१

भारतीय उपन्यासोंकी विवेचना करते हुए एक विज्ञने कहा है कि 'आधुनिक युग उपन्यासोंका ही युग है और उसकी संभावनाओंकी सीमा नहीं है।' उसीकी पुष्टिमें यह भी कहा गया है कि 'उपन्यासके प्रभावकी परिधि अत्यन्त व्यापक होती है और इसीलिए उसके प्रभावका क्षेत्र भी विशाल है।' कथा-साहित्य आनन्दकी सृष्टि है। उसमें ज्ञानका गौरव नहीं रहता, कल्पनाका गौरव रहता है। इसीलिए वह जनताका साहित्य होता है। सभी युगोंमें कथा-साहित्य लोकप्रिय रहा है और लोकशिक्षाका साधन भी। उपन्यास उसका आधुनिक रूप है। पर क्या यह कहा जा सकता है कि आधुनिक युग उपन्यासोंका ही युग है? यह तो स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्यके लिए आधुनिक युग अभी निर्माणका युग है। उसकी अभी उन्नतावस्था भी नहीं है। इतिहास, दर्शन अथवा विज्ञानके क्षेत्रमें मौलिक चिन्तनके द्वारा जिस नव-साहित्यका निर्माण होना चाहिए, उसका अभी अभाव है। ऐसी स्थितिमें कथा-साहित्यमें उपन्यासके नवरूपका जो विकास हो रहा है, उससे यह नहीं कहा जा सकता कि हम सचमुच अपने उपन्यासोंमें अपने युगका सच्चा गौरव या सच्ची विशेषता पा रहे हैं। जिन विषयोंके लिए ज्ञानके क्षेत्रमें विशेष अध्यवसाय, अनुशीलन और चिंतनकी आवश्यकता होती है, उनकी अपेक्षा आजकल काव्य, नाटक, उपन्यास और आख्यायिकाके रूपमें कल्पना-प्रसूत साहित्यकी अवश्य अधिक वृद्धि हो रही है। इसमें भी उपन्यास अधिक लोकप्रिय हो रहे हैं। पर कथा-साहित्यकी यह लोक-प्रियता क्या आधुनिक

युगकी सच्ची कर्तृत्व-शक्ति प्रकट कर रही है ? क्या यह कहा जा सकता है कि आधुनिक कथा-साहित्यके विकासके कारण जनताका बौद्धिक विकास हो रहा है ?

इसमें संदेह नहीं कि भारतवर्षमें नव-राष्ट्रनिर्माणके लिए कितनी ही सामाजिक, नैतिक और आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। अभी नवयुगके लिए एक नवआदर्शकी प्रतिष्ठाकी भी आवश्यकता है। इसीके कारण प्राचीन और नवीन आदर्शोंकी परीक्षा हो रही है। किसी भी आदर्शके प्रचारके लिए कथा-साहित्य एक अच्छा साधन है। यही कारण है कि आजकल प्रायः हिन्दीके सभी उपन्यासकार किसी न किसी उद्देश या ध्येयसे प्रेरित होकर उपन्यास लिख रहे हैं। ' उनके उपन्यासोंमें राजनीति या समाजकी समस्याओंके साथ मानव-मनकी चेतनाकी नई-नई खोजोंकी चर्चा हो रही है। परन्तु कथा-साहित्यका सच्चा गौरव क्या उसकी इसी उपयोगितामें है ? भिन्न-भिन्न युगोंमें समाजकी जो भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ होती हैं, उनके कारण जीवनकी भी भिन्न भिन्न समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। उन्हीं परिस्थितियोंके कारण समाजकी व्यवस्था और जीवनके आदर्शमें भी परिवर्तन होते हैं। यह ठीक है कि किसी भी युगके कथा-साहित्यमें तत्कालीन समाजका चित्र अंकित होता है। उसमें समाजकी समस्याएँ उपेक्षणीय नहीं होतीं। परन्तु क्या एकमात्र उन्हींके कारण उपन्यासके रूपमें कथा-साहित्य आधुनिक युगमें एक गौरवका स्थान प्राप्त कर लेता है ? क्या उन्हींसे कथा-साहित्य आनन्दका चिरंतन साधन होता है ? युग बदल जाता है और उसीके साथ समाजकी परिस्थितियाँ भी बदल जाती हैं। पर जिस कथा-साहित्यमें कथाका सच्चा रस रहता है, वह बना ही रह जाता है।

कहा जाता है कि अँगरेजी साहित्यमें ' अंकिल टाम्स केबिन ' अथवा ' वाटर बेबीज ' नामक उपन्यास एक विशेष उद्देश्यसे ही लिखे गये हैं। तत्कालीन समाजपर उनका बड़ा प्रभाव भी पड़ा। अमेरिकामें दासत्व प्रथाको नष्ट करनेके लिए जो घोर संग्राम हुआ, उसकी प्रेरणा ' अंकिल टाम्स केबिन ' की करुण-कथासे उत्पन्न हुई थी। इंग्लैंडमें बालकोंकी दुरवस्था दूर करनेके लिए जो सुधार हुए, उनकी प्रेरणा ' वाटर बेबीज' ने दी थी। अँगरेजीमें एक

और उपन्यास प्रसिद्ध है। उसका नाम 'ब्लैक ब्यूटी' है। उसमें एक घोड़की आत्मकथा है। परन्तु वह कथा इतनी मर्मस्पर्शिणी है कि उसीके कारण पशुओंपर भी सदय व्यवहार करनेकी ओर लोगोंकी प्रवृत्ति हुई। ये सभी पुस्तकें औपन्यासिक साहित्यके अक्षय रत्न है और उनका प्रचार अभी तक हो रहा है। उन्हें पढ़कर सभी पाठक सच्चे कथा-रसको उपलब्ध करते हैं और इसीसे उनपर उनका प्रभाव पड़ता है।

काव्योंमें रस आत्मा कहा गया है। उनकी सफलता रसकी ही अनुभूतिपर निर्भय है। कथाओंमें भी एक विशेष रसका परिपाक होता है। उसीके कारण प्राचीन कालसे लेकर आज तक कथा साहित्यकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह कल्पनाका एक मायालोक निर्मित करता है। जो उपन्यासकार उपन्यास-जगत्का निर्माण करते हैं, वे उसमें अपने जीवनकी अनुभूतिका वर्णन अवश्य करते हैं; पर उसमें उनके अपने दैनिक जीवनकी यथार्थता नहीं रहती। उपन्यास न तो इतिहासका काम करता है और न जीवन-चरित्र और आत्मकथाका। उसमें सत्यके साथ कल्पनाका कुछ ऐसा मेल रहता है कि कल्पित होनेपर भी उसके पात्र पाठकोंके लिए जीवित व्यक्तियोंकी अपेक्षा अधिक यथार्थ हो जाते हैं। इसीमें कथाकारकी कला-कुशलता है।

बाल्यावस्था में सभी बालकोंके लिए संसार एक रहस्यागारके समान विलक्षण और कौतूहलप्रद होता है। वह पग-पगमें कौतूहलका अनुभव करता है। उसे विस्मय होता है, आतंक होता है। पर सभी स्थितियोंमें वह एक आनन्दका अनुभव करता है। बालकोंकी यह प्रवृत्ति सभी उपन्यास-पाठकोंके मनमें विद्यमान रहती है और उसी प्रवृत्तिके कारण उपन्यासकार भी अपनी कल्पनाका माया-जगत् उनके लिए निर्मित करते हैं। जीवनमें यथेष्ट कटुता है, संघर्ष है, कष्ट और उत्पीड़न है। अपने-अपने क्षुद्र जीवनमें क्षुद्र स्वार्थोंकी पूर्तिमें व्यस्त रहकर और जीवनके कठोर सत्योंसे परिचित होकर हम क्षणिक सुखों और क्षणिक दुखोंमें लिप्त रहते हैं। उन्हींमें हमारे जीवनकी यथार्थता रहती है। अन्य लोगोंके लिए उपेक्षणीय और क्षुद्र होनेपर भी हमारे लिए हमारा वह क्षुद्र जीवन ही स्पृहणीय होता है। दैनिक जीवनमें जिन कामोंसे हमारे जीवनका निर्वाह होता है और जिनकी उपेक्षा हम कभी नहीं

कर सकते, वे आवश्यक कार्य भी हमारे लिए विरक्तिजनक हो जाते हैं। यही कारण है कि साधारण स्थितिमें दुख और कष्टका कोई कारण न होनेपर भी हम अपने मनके भीतर एक अतृप्तिका अनुभव करते हैं। हमें ऐसा लक्षित होता है कि जीवनके साधारण और आवश्यक कार्योंमें हमें अपने जीवनका सच्चा रस नहीं प्राप्त होता। जिसे हम यथार्थ जीवनमें प्राप्त करते; उसीको हम अपने कल्पना-जगत्में प्राप्त करना चाहते हैं। हम अपने यथार्थ जगत्के निर्माता नहीं होते। हम कष्ट सहते हैं, प्रयत्न करते हैं, आशा और निराशाके चक्रमें पड़कर सफलता और विफलताका अनुभव करते हैं; परन्तु हम अपने मनके अनुकूल अपना जगत् नहीं बना पाते। उसी जगत्का निर्माण कल्पनाके द्वारा कथा-साहित्यमें होता है। उपन्यासोंमें हम जिस रसका अनुभव करते हैं, उसका कारण कल्पनाका स्वच्छंद विलास है। उपन्यासका मायालोक ऐहिक जगत्की क्षुद्र सीमाको नष्ट कर देता है। उपन्यास-कार अपने औपन्यासिक पात्रोंके जीवनका विधाता होता है। उनमें वह अपने जीवनकी सभी उच्चतम आकांक्षाओं और लालसाओंको व्यक्त कर देता है। उसमें वह अपने मनके मनुष्योंको देखता है और उनके साथ रहकर वह जीवनकी सभी स्थितियोंका अनुभव कर लेता है। कहा जाता है कि 'डेविड कापरफील्ड'में डिकिन्सने अपने जीवनका वर्णन किया है। पर सच्ची बात यह है कि 'डेविड कापरफील्ड'में डिकिन्सने अपने मनके अनुसार अपनेको पाया। यथार्थ जगत्में उसने जो कुछ प्राप्त नहीं किया, उसको उसने 'डेविड कापरफील्ड'के कल्पित जीवनमें उपलब्ध कर लिया। उपन्यासकारमें कलाकी यही विशेषता होती है कि वह पात्रोंमें अपने मनके मनुष्योंको यथार्थ रूपमें पा लेता है। तभी कल्पनाद्वारा वह ऐसे मायालोककी रचना करता है, जिसमें प्रविष्ट होकर पाठक भी उन्हीं पात्रोंके साथ विचरण कर जीवनकी वह सच्ची अनुभूत प्राप्त कर लेता है, जो उसे ऐहिक जीवनमें संभव नहीं है।

कथा-साहित्यमें जीवनकी जिस यथार्थताको हम किसी कल्पित व्यक्तिके ही जीवनमें पाते हैं, उसमें मानवताकी वह भावना रहती है, जो देश और कालकी सीमासे कभी बद्ध नहीं होती। उसीके कारण समस्त व्यवधानोंके

भीतर मनुष्यमें मनुष्यके-प्रति प्रेम बना रहता है। समाजकी जो स्थिति होती है और देशकी जो समस्या होती है, उनके द्वारा किसी भी व्यक्तिके जीवन-की गति एक सीमा तक अवश्य निर्दिष्ट होती है। कोई भी व्यक्ति अपने देश, समाज अथवा युगकी उपेक्षा नहीं कर सकता। परन्तु जिन बातोंसे उसके जीवनका प्रत्यक्ष संबंध होता है, उन्हींमें उसके जीवनकी यथार्थता रहती है। समाजकी जो समस्याएँ उसके अपने जीवनको समस्याएँ हो जाती हैं, वही उसके लिए चिंतनीय होती हैं। संसारमें कितनी ही महत्त्वपूर्ण घटनाएँ होती हैं। परन्तु यदि उन महत्त्वपूर्ण घटनाओंका प्रभाव किसी व्यक्तिके जीवनपर नहीं पड़ता है, तो उसके लिए उन घटनाओंका कोई महत्त्व नहीं रहता। जो उसके व्यक्तिगत जीवनकी क्षुद्र बातें हैं, उन्हींमें उसकी मानवता स्पष्ट होती है। उसी मानवताके कारण कोई भी क्षुद्र व्यक्ति उपन्यासका नायक बन, मानवताका प्रतिनिधि बन जाता है। तभी उपन्यासमें एक व्यक्तिकी ही नहीं, एक मनुष्यकी जीवन-कथा मुख्य हो जाती है। तब अन्य सभी बातें गौण हो जाती हैं। जेन आस्टिनके जीवन-कालमें नैपोलियनके साथ इंग्लैंडका घोर संग्राम हो रहा था। इंग्लैंडके ही नहीं, योरपके इतिहासमें नैपोलियनका युद्ध एक महत्त्वपूर्ण घटना है। परन्तु जेन आस्टिनके उपन्यासोंमें उस घटनाकी कोई चर्चा तक नहीं। युद्ध हो रहा था, परन्तु ग्राममें व्यक्तियोंके अपने अपने क्षुद्र जीवनके सुख-दुखकी क्षुद्र घटनाएँ भी हो रही थीं। उन्हीं घटनाओंमें उनके जीवनका गौरव या हीनता थी। इसलिए उन्हीं घटनाओंके वर्णनके द्वारा जेन आस्टिनने अपने कथा-साहित्यमें अपने युगकी मानवताका चित्र अंकित किया है।

यह सच है कि उपन्यासोंके द्वारा हमें अपने व्यक्तिगत जीवनकी समस्या-ओंके साथ अपने समाज और देशकी समस्याओंपर भी कुछ सोचने और निश्चित करनेकी बात मिलती है। समाज-विज्ञान या नीति-शास्त्रके जो सिद्धांत विज्ञोंके द्वारा निर्दिष्ट और प्रचलित होते हैं, उनकी सच्ची समीक्षा जीवनमें ही होती है। पर उन सिद्धांतोंकी समीक्षा करनेके लिए यदि पात्रोंकी सृष्टि भी की जाय, तो भी उनके द्वारा सिद्धांतोंकी सत्यता या असत्यता सिद्ध नहीं हो सकती। ऐसा कोई भी सिद्धांत नहीं है, जिसकी सत्यता या असत्यता

सिद्ध करनेके लिए तदनुकूल कथाका निर्माण न हो सके। ऐसे पात्रोंमें हम मानवताका सच्चा रूप नहीं देख पाते। कथामें जो मुख्य बात प्रदर्शित होती है वह है मानवताका सच्चा रूप, जिसके कारण व्यक्तिकी सभी दुर्बलताओं और क्षमताओंके भीतर सभी परिस्थितियोंमें हमें मानव-जीवनकी सच्ची अनुभूति प्राप्त होती है। दुख तथा दैन्यमें भी जीवनका गौरव प्रदर्शित होता है और सुख तथा ऐश्वर्यमें भी जीवनकी हीनता प्रदर्शित होती है। अन्यायों और अत्याचारोंके कारण दुखमें भी जिनकी जीवन-कथाओंका अंत होता है, उनमें भी हम न्याय और सुनीतिकी महिमा देखते हैं। कष्टों और दुखोंको स्वीकार कर हम दुर्नीति और अन्यायपर बहिर्जगत्में पराभूत होकर भी अन्तर्जगत्में विजय प्राप्त कर लेते हैं।

इतिहासमें राष्ट्रके उत्थान-पतनकी कथा रहती है। उपन्यासमें व्यक्तिके भावोंके उत्थान-पतनकी चर्चा होती है। इतिहासका सत्य, उपन्यासका सत्य नहीं होता। ऐतिहासिक उपन्यासोंके सम्बन्धमें चर्चा करते हुए आचार्य चतुरसेन जीने लिखा है कि हिन्दीके प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावन-लाल वर्मा इतिहासकी सत्य-रेखाओंपर ही चले। उनके उपन्यास हृदयकी अपेक्षा मस्तिष्कपर अपना प्रभाव छोड़ते हैं। इसीसे पाठक उनके पात्रोंके सुख-दुखको अपने सुख-दुखमें आरोपित नहीं कर पाता। सच्ची बात यह है कि ऐतिहासिक उपन्यासोंमें जो पात्र आते हैं, वे ऐतिहासिक होकर भी कथाकारके कल्पना-जगत्के पात्र होते हैं। हम उनकी ऐतिहासिकतासे प्रभावित नहीं होते। हम उनकी मानवतासे प्रभावित होते हैं। डिकिन्सने फ्रान्सकी राज्यक्रान्तिको लेकर 'दो नगरोंकी कथा'के नामसे जो उपन्यास लिखा है, उसमें व्यक्तियोंके चरित्रमें ही फ्रांसकी राज्यक्रान्तिका यथार्थ चित्र अंकित हो गया है। उसके पात्रोंकी ऐतिहासिकताकी चिन्ता पाठक नहीं करते। सच तो यह है कि ऐतिहासिक पात्र उनके लिए उतने सजीव नहीं हैं, जितने सर्जीव कल्पित पात्र हैं। फ्रांसकी राज्यक्रांतिकी भयानक प्रतिहिंसा मैडम डिफार्जेमें व्यक्त हुई है। अत्याचारकी यंत्रणा और प्रेमकी वेदना हम डाक्टर मैनेटमें पाते हैं। कार्टनमें हम त्यागकी गरिमा देखते हैं। राज्यक्रान्तिके कालमें जिस कथाका निर्माण हुआ है, उसमें स्वयं राज्यक्रांतिकी कथा गौण है। उसमें लूसीकी कथा मुख्य है। उसीके

साथ जिन लोगोंका जीवन संबद्ध है, उन्हींके चित्र अंकित कर लेखकने उनके प्रति सहानुभूति या क्रोधका भाव उत्पन्न कर दिया है। मैडम फिडार्जेमें अपनी बहिनकी हत्याके कारण जो प्रतिहिंसाका भाव उदित हुआ है, उसमें घोर अन्याय और अत्याचारका हाहाकार समाविष्ट है। फिर भी जब मिस प्रास अपनी स्वामिनी लूसीकी रक्षाके लिए उसका वध कर डालती है, तब पाठकोंकी सहानुभूति मैडम डिफार्जेके प्रति नहीं, मिस प्रासके प्रति हो जाती है। उसका एकमात्र कारण यह है कि उपन्यासोंके पात्रोंमें यदि मानवताका सच्चा रूप प्रदर्शित हुआ है, तो उन पात्रोंसे भी हमें इतनी सहानुभूति हो जाती है कि हम उनके सुख-दुखको स्वयं अपना लेते हैं।

फ्रान्सके प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक अलेक्जेंडर डयूमाके सम्बन्धमें कहा गया है कि उसके लिए उसके उपन्यासोंके सभी पात्र ऐसे जीवित व्यक्ति थे, जिनसे वह बिलकुल परिचित था। वह उन्हींका स्वप्न देखता था और उनके सम्बन्धमें ऐसी बातचीत करता था, मानो वे उसके सहचर हैं। इसी कारण उसने ऐसे आवेशके साथ उनकी कथा लिखी है कि अभीतक वे कथाएँ पाठकोंको मन्त्रमुग्ध कर देती हैं। वह अपनी कथामें इतना लीन हो जाता था कि कभी-कभी वह जोरसे हँसने लगता था और अपने पात्रोंके साथ ऐसा परिहास करता था, मानो वे उसके सामने बैठे हुए हैं। उपन्यासकारके लिए कल्पनाका यह मोह-जगत् ही उसकी कथाको निष्प्राण नहीं होने देता। यह सच है कि अधिकांश पाठक भी जब तक स्वयं उस मोह-जगत्में प्रविष्ट नहीं हो जाते और औपन्यासिक पात्रोंके साथ उनके औपन्यासिक जगत्में स्वच्छंद होकर भ्रमण नहीं करते, तब तक उन्हें सच्चे कथा-रसकी उपलब्धि भी नहीं होती। आचार्य चतुरसेन शास्त्रीने 'वैशालीकी नगरवधू' नामक ऐतिहासिक उपन्यासकी रचना करते समय अपनी असाधारण मानसिक स्थितिका उल्लेख किया है। अपनी कथाके निर्माणकी चिन्तामें वे जब विशेष दत्तचित्त हो गये, तब वे जाग्रत-स्वप्न देखने लगे। जब वे किसी शिलाखण्डकी आड़में बैठ जाते और सोचने लगते, तब उन्हें ऐसा प्रतीत होता, जैसे वे कोई ग्रन्थ पढ़ रहे हैं। अध्यायके अध्याय उनकी आँखोंके सामनेसे गुजरने लगे। उन घाटियोंमें बसे हुए समृद्ध नगर, उनकी सेना, संपत्ति, वैभव, संस्कृति, संघर्ष, उनके

लिए सजीव होते गये। यहाँ तक कि उनके उपन्यासकी नायिका आम्रपालीकी एक स्थिर मूर्त्तिका चित्र भी उनके मस्तिष्कमें अंकित हो गया। एक बार तो उन्होंने आम्रपालीका नृत्य देखा। उनका यह विश्वास है कि उन्होंने जो कुछ देखा, जागते हुए देखा। परन्तु उन्हें अपने उस उपन्यासकी रचनामें दस वर्षों तक घोर परिश्रम करना पड़ा। ऐतिहासिक उपन्यासोंके लिए ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमिका निर्माण करनेमें लेखकको परिश्रम करना ही पड़ता है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ऐतिहासिक उपन्यासोंमें भी ऐतिहासिकताका उतना महत्त्व नहीं रहता, जितना पात्रोंके सजीव वर्णनका। यशपालजीने भी 'दिव्या' के नामसे एक बौद्धकालीन उपन्यास लिखा है। उन्होंने 'दिव्या' को एक ऐति-हासिक कल्पना मात्र कहा है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमिपर उसमें 'व्यक्ति और समाजकी प्रवृत्ति और गतिका चित्र अंकित हुआ है।' बौद्धयुगके इन दोनों उपन्यासोंकी तुलना करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तित्वके विकासमें ही औपन्यासिक कलाकी सच्ची सफलता है। हमें व्यक्तिके प्रति जो आकर्षण होता है, उसका कारण युगका गौरव या हीनता नहीं है, परन्तु उसके अपने चरित्रकी विशेषता है। व्यक्तिके जीवनमें समाज और युगकी परिस्थितियोंके कारण जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, उनके समाधानमें भी उनका अपना व्यक्तित्व काम करता है। आम्रपालीके जीवनकी यह समस्या थी कि वह वैशाली जनपदमें सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी। इसी लिए वज्जी गणतंत्रके कानूनके अनुसार उसे 'वैशालीकी नगरवधू' के रूपमें अपना जीवन व्यतीत करना पड़ा। आम्रपालीने वज्जी संघके धिक्कृत कानूनको स्वीकार कर लिया। परन्तु उसने यह स्पष्ट अनुभव किया कि वह अपने जीवनके गौरवको लांछना और अपमानके पंकमें डुबो देनेको विवश की जा रही है। वह स्त्रीत्वके उन सब अधिकारोंसे वंचित नहीं होना चाहती थी, जिनपर प्रत्येक कुलवधूका अधिकार है। फिर भी उसने कुछ शर्तोंपर अपना सतीत्व, स्त्रीत्व, मर्यादा, यौवन, रूप और देहको उस धिक्कृत कानूनके अर्पण कर दिया। कितनी ही घटनाओंके बाद अपने जीवनके अन्तकालमें उसने प्रव्रज्या लेनेकी कामना की। जब उसने यावज्जी-वन आठ गुरुधर्मोंको स्वीकार किया, तब भगवानने उसको उपदेश दिया—"कल्याणी अम्बपाली, सुन! बिन धर्मोंको तू जाने कि वह स-रागके लिए

हैं, वि-रागके लिए नहीं; संयोगके लिए हैं, वि-संयोगके लिए नहीं; रक्षाके लिए हैं, विनाशके लिए नहीं ; इच्छाओंके बढ़ानेके लिए हैं, इच्छाओंके कम करनेके लिए नहीं; असन्तोषके लिए हैं, सन्तोषके लिए नहीं; भीड़के लिए हैं, एकान्तके लिए नहीं; अनुद्योगिताके लिए हैं; उद्योगिताके लिए नहीं; दुर्भरताके लिए हैं, सुरभताके लिए नहीं; तो तू अंबपाली शुभे, एकांशेन जान कि न वह धर्म है, न विनय है; न शास्ताका शासन है।" इसमें सन्देह नहीं कि प्रव्रज्याकी अनुज्ञा पाकर महासाध्वी अंबपाली भिक्षुणीने अपने जीवनकी समस्याका समाधान कर लिया। परन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि उससे नारी-जीवन-की समस्याका सच्चा समाधान हुआ, जिसके कारण नारीको अपने जीवनमें लांछना और यातना सहनी पड़ती है।

यशपालजीकी 'दिव्या' के सामने भी एक समस्या उत्पन्न हुई। अपनी कलाकी पीठकी उत्तराधिकारिणी बनानेके लिए मल्लिकाने दिव्याको चुन लिया। ज्यों ही सामन्तवर्ग और अभिजात समाजके लोगोंने दिव्याको देखा, त्यों ही आचार्य भृगु शर्माने क्रुद्ध होकर कहा कि मद्रमें द्विजकन्या दिव्या वेश्याके आसनपर बैठ जनके लिए भोग्य बन वर्णाश्रमको अपमानित नहीं कर सकती। दिव्याने स्वयं सागलके राजनर्त्तकीके पदकी कामना की थी; परन्तु वर्णाश्रमकी व्यवस्थासे अभिषेक-च्युत होकर उसने आचार्यसे प्रश्न किया कि अब इस प्रताड़िताके लिए क्या आज्ञा है ? आचार्यने कहा, तुम कुल-कन्या हो, तुम्हारा स्थान नर्त्तकी वेश्याके आसनपर नहीं, तुम्हारा स्थान कुल-वधूके आसनपर, कुल-माताके आसनपर है। आचार्य रुद्रधीर तुमको आचार्य-कुलकी महादेवीके आसनपर स्थान देनेके लिए उपस्थित हैं। परन्तु दिव्याने उत्तर दिया कि कुल-माता और कुल-महादेवी वेश्याकी भाँति स्वतंत्र और आत्म निर्भर नहीं है। उनका सम्मान, आदर या अधिकार आज पुरुषका प्रश्रय-मात्र है। वह नारीका सम्मान नहीं है। वह हीन होकर भी आत्मनिर्भर रहेगी। वह स्वत्वहीन होकर जीवित नहीं रहेगी। इसके बाद तथागतके सेवक भिक्षु पृथुसेनने कहा कि समाजसे प्रताड़ित नारीको तथागतकी शरणमें ग्रहण करनेके लिए मैं उपस्थित हूँ। जब दिव्याने पूछा कि भिक्षुके धर्ममें नारीका क्या स्थान है, तब भिक्षुने कहा कि भिक्षुका धर्म निर्वाण है और भिक्षुके धर्ममें नारी त्याज्य

है। इसपर दिव्याने कहा कि आप अपने निर्वाण-धर्मका पालन कीजिए। नारीका धर्म निर्वाण नहीं, सृष्टि है। भिक्षु उसे अपने मार्गपर जाने दें। इसके बाद मारिशने आकर कहा कि मैं देवीको महादेवीका आसन अर्पण नहीं कर सकता। मैं देवीको निर्वाणके चिरन्तन सुखका आश्वासन नहीं दे सकता। देवी संसारके सुख-दुखका अनुभव करती है। अनुभूति और विचार ही उसकी शक्ति है। इस अनुभूतिका ही आदान-प्रदान मैं देवीसे कर सकता हूँ। मैं देवीके नारीत्वकी कामनामें अपना पुरुषत्व अर्पण करता हूँ। मैं आश्रयका आदान-प्रदान चाहता हूँ। तब दिव्याने दोनों बाहु फैलाकर कहा—आश्रय दो आर्य! मारिशके आश्रयमें दिव्याने अपने जीवनकी समस्याका समाधान कर लिया। परन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि इससे समस्त नारी-जातिके जीवनकी समस्याका समाधान हो जायगा? रूप, अवस्था और शक्तिसे हीन स्त्रियोंके जीवनमें जो समस्याएँ आती हैं, उनके समाधानके लिए जिस मारिशकी आवश्यकता है, उसमें सच्चे कर्त्तव्यकी प्रेरणा चाहिए। समाजसे प्रताड़ित स्त्रियोंकी ही समस्या संसारमें नहीं है। आठ-आठ पुत्रोंवाली जरा-जीर्ण माताओंकी भी समस्या है। पुरुषोंसे प्रताड़ित और वंचित रूपवैभव-हीन स्त्रियोंकी भी समस्या है। उन सबसे बढ़कर मानव-मनकी वह चिरन्तन समस्या है, जहाँ निरन्तर भावोंके घात-प्रतिघातसे न जाने कितने गृहदाह और वज्रपात होते रहते हैं।

हिन्दीके औपन्यासिक साहित्यकी समीक्षामें प्रगतिवाद तथा रूढ़िवाद अथवा वर्गवाद तथा जातिवादकी इतनी अधिक चर्चा होती है कि यह समझमें नहीं आता कि औपन्यासिक कलाकी सच्ची सार्थकता कहाँ है। हिन्दीमें उपन्यासोंकी यथेष्ट वृद्धि होनेपर भी ऐसे केवल १२-१३ ही लेखक हैं, जिनकी गणना श्रेष्ठ उपन्यासकारोंमें की जाती है। सभी लेखकोंकी कुछ न कुछ अपनी विशेषता होती है। परन्तु उपन्यासोंमें कलाकी जो सच्ची कुशलता प्रकट होती है, उसके कारण उपन्यासोंके पात्र पाठकोंके लिए चिर-सहचर हो जाते हैं। किस उपन्यास-लेखककी रचनामें कलाका कितना उत्कर्ष है, यह जाननेके लिए हमें यह देखना होगा कि किन पात्रोंको पाठक कभी नहीं भूल पाते हैं। उपन्यासके जिन पात्रोंके साथ सुख या दुखकी स्मृतियाँ पाठकोंके

हृदयमें अनायास ही उपस्थित हो जाती हैं, उन्हींमें उपन्यासकी सार्थकता है। काव्योंके उत्कर्षका प्रमाण यह है कि पाठकोंके कंठमें उनकी पंक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। उपन्यासोंका भी उत्कर्ष इसीमें है कि उसके पात्र पाठकों के लिए चिरस्मरणीय हो जाते हैं।

यथार्थवादके नामसे उपन्यासोंमें कल्पित पात्रोंके कल्पित सुख-दुख और कल्पित परिस्थितियोंका जो वर्णन किया जाता है, उसमें जीवनका कठोर सत्य तभी साकार हो उठता है, जब अनायास ही हम उसको अपना लेते हैं। यह सच है कि व्यक्तिके जीवनमें इतना वैचित्र्य है और उसमें भावका इतना वैपरीत्य है कि अन्य विज्ञानोंकी तरह मनुष्यके मनकी सभी स्थितियोंका स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करनेके लिए कोई भी सिद्धान्त निश्चित नहीं किया जा सकता। मानव-जीवनमें जो यह वैचित्र्य है, उसीके कारण वह सदैव रहस्यमय बना रहता है। ज्यों-ज्यों सभ्यताकी वृद्धि होती जा रही है, त्यों-त्यों मानव-जीवनमें भी भावोंकी एक जटिलता आती जा रही है। प्रेम और विद्वेष, क्रोध और घृणा, अनुराग और विरक्तिके जो भाव मनुष्योंके जीवनमें प्रकट होते हैं, उनमें कुछ ऐसी जटिलता रहती है कि विश्लेषण करनेपर उनमें भी वैपरीत्य आ जाता है। विद्वेषमें भी प्रेम छिपा रहता है। क्रोधमें भी ममत्वका भाव रहता है। न्याय और अत्याचारमें भी कर्त्तव्य और धर्मकी भावनाएँ काम करती हैं। एक स्थितिमें एकके लिए जो अन्याय या अत्याचार होता है, वही दूसरी स्थितिमें दूसरेके लिए अन्याय या अत्याचार न होकर कर्त्तव्यका सूचक हो जाता है। न्यायकी बुद्धिसे प्रेरित होकर लोग अन्याय करते हैं। किसी आदर्श या नीतिकी रक्षाके लिए लोग दूसरोंपर अत्याचार भी करते हैं। मनुष्योंके जीवनमें कु और सुका निरन्तर द्वन्द्व बना रहता है। इसी लिए किसी भी स्थिति-में हम बहिर्जीवनकी यथार्थताको स्वीकार कर लेनेके बाद भी उसीमें सत्यका अनुभव नहीं कर पाते। जो यथार्थ प्रतीत होता है, वही सदा सत्य नहीं होता। हमारे लिए हमारा अपना जीवन यथार्थ होता है। पर हम अपने उस यथार्थ जीवनमें भी भावोंका इतना वैपरीत्य पाते हैं कि कभी-कभी यह अनुभव करते हैं कि हम स्वयं एक मनुष्य नहीं, दो मनुष्य हैं। ऐसा जान पड़ता है, मानो एक शरीरमें भी दो विभिन्न व्यक्तियोंका निवास है। स्टीवेन्सनने जिन मि० जैकेल

और मि० हाइडका वर्णन किया है, वे किसी न किसी रूपमें सभी मनुष्योंके अन्तर्जगत्में विद्यमान रहते हैं।

कथा-साहित्यमें न तो पाठक जीवनकी यथार्थता चाहते हैं और न अपने जीवनकी समस्याओंका समाधान। वे उसमें अपने मनके सच्चे मनुष्यको खोजते हैं। मनकी इच्छाओंका अन्त नहीं है; संसार सीमाबद्ध है; पर मनके लिए कोई सीमा नहीं। वह सीमासे बद्ध होना भी नहीं चाहता। यदि वह ऐहिक जीवनमें अपनी कामनाके लिए स्थान नहीं पाता है, तो उसके लिए कल्पनाका जगत् निर्मित करता है। वह उसकी अपनी सृष्टि है। इसी लिए वह उसमें आनन्दका अनुभव करता है। कला यथार्थताकी छाया नहीं होती। वह मनकी एक ऐसी सृष्टि होती है, जिसमें मन यथार्थताका अनुभव करता है। जो कुछ हम देखते-सुनते या अनुभव करते हैं, वही एकमात्र हमारे लिए सत्य नहीं होता। हमारे लिए हमारे मनकी कामनाएँ और भावनाएँ जितनी सत्य होती हैं, उतनी बहिर्जगत्की घटनाएँ नहीं होतीं।

उपन्यासोंमें आत्मकथाके रूपमें जीवनका वर्णन किया जाता है। कितने ही विज्ञोंने अपनी सच्ची आत्मकथाएँ भी लिखीं। उन आत्मकथाओंमें जीवनकी जो यथार्थता है, उसके सम्बन्धमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। पर कितना ही विलक्षण और घटनापूर्ण किसीका जीवन क्यों न हो, उसकी आत्म-कथामें कथाका रस नहीं आता। हम उसमें युगका चित्र भले ही देख लें, हम उसमें राजनीति और समाजकी परिस्थितियोंका सच्चा विवरण भले ही पढ़ लें, हम उसमें बड़ी-बड़ी महत्त्वपूर्ण घटनाओं और समस्याओंका सच्चा ज्ञान भी प्राप्त कर लें। फिर भी कथा-साहित्यके द्वारा हमें जिस रसकी अनुभूति होती है, वह हम किसी भी आत्मकथाके द्वारा नहीं प्राप्त कर सकते। उसका मुख्य कारण यह है कि कथा-साहित्यमें कल्पनाका स्वच्छंद विलास रहता है और आत्मकथामें कल्पनाके लिए कोई स्थान ही नहीं रहता।

प्रेमचन्दजीके बाद हिन्दीके उपन्यासकारोंने घटना-वैचित्र्यके स्थानमें चरित्र-वैचित्र्यकी ओर विशेष ध्यान दिया है। इसी लिए आधुनिक कथा-साहित्यमें असाधारण चरित्रोंका निर्माण होने लगा है। इसमें सन्देह नहीं कि कि आधुनिक कथा-साहित्यमें शैलीकी अपूर्वताके साथ भाषामें भी अधिक

सरसता और सुन्दरता आ गई है। कुछ लेखकोंने कथा-साहित्यमें एक नवीन शैलीका भी निर्माण कर दिया है। परन्तु शैलीकी विलक्षणता और भाषाकी सरसता होने पर भी आधुनिक उपन्यासोंमें कथाका वह आकर्षण नहीं है, जिसके कारण किसी भी पात्रके प्रति पाठकोंको कौतूहल, औत्सुक्य, आशंका और विस्मय आदिके भाव उत्पन्न होते हैं। जीवनकी किस घटनामें पड़कर कब कौन पात्र क्या करता है, उसके लिए पाठकोंके मनमें जो एक भावकी तीव्रता प्रकट होनी चाहिए, वह अधिकांश उपन्यासोंमें लक्षित नहीं होती। हम किसी भी पात्रके लिए न आशंकित होते हैं, न त्रस्त होते हैं, न उनके लिए हमारे मनमें कोई ममत्व होता है।

कदाचित् आधुनिक उपन्यासकारोंका लक्ष्य मानव-जीवन न होकर सिद्धान्त-निरूपण हो गया है, इसी लिए भिन्न-भिन्न वादोंकी सृष्टि भी हो रही है। उन्हीं वादोंके कारण रूप और शिल्पकी जितनी चिन्ता की जाती है, उतनी जीवनके सच्चे उल्लास और सच्ची स्फूर्तिको व्यक्त करनेके लिए चिन्ता नहीं की जा सकती। अपने जीवनमें एकमात्र बुद्धि या तर्क या सत्यकी लेकर ही हम लोग अपना कार्य नहीं करते हैं। हममें ज्ञानकी अपेक्षा भावकी ही अधिक प्रबलता रहती है। किसीके दोषोंको देखकर भी हम स्नेहवश उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। केवल यही बात नहीं है कि हम अपने स्नेहपात्रोंके दोषोंको नहीं देख पाते। किन्तु यह बात भी ठीक है कि कुछ दोषोंके ही कारण किसी-पर हमारा स्नेह और दृढ़ हो जाता है। देवदासके चरित्रमें जो उसके स्पष्ट दोष हैं, उन्हींके कारण उसपर हमारा ममत्व बढ़ जाता है।

हिन्दीमें वादोंका जो प्रचार हो रहा है, उसके कारण साहित्यमें एक विशेष टाइपके चरित्रके निर्माणकी ओर लेखकोंकी प्रवृत्ति हो गई है। जिस किसीने जीवनकी उच्चतम महिमाको जान लिया है, उसकी रचनामें किसी आदर्शकी प्रतिष्ठा होगी ही। पर वह आदर्श यथार्थ जीवनकी उपेक्षा तो नहीं कर सकता। इसी प्रकार जिसने जीवनकी सच्ची हीनता और कटुता देख ली है, उसकी रचनामें भी उस कटुताके साथ गौरवकी एक भावना उत्पन्न होगी ही। संसारमें कपट है, पाखंड है, धूर्तता है, असत्य है, इसी लिए सत्यकी महिमा-के लिए मनमें आकांक्षा होती है। इसी गौरवकी आकांक्षाके कारण जीवनमें

स्फूर्ति पैदा होती है। साहित्यके क्षेत्रमें आदर्शोंका संघर्ष होता है। एक आदर्शको न स्वीकार कर हम किसी अन्य आदर्शकी प्रतिष्ठाके लिए व्यग्र भले ही हो जायँ; परन्तु यह सच है कि जीवनमें एकमात्र हीनताका अनुभव कर और उसके कारण सर्वथा किंकर्त्तव्य-विमूढ़ या निश्चेष्ट होकर कोई भी अपने जीवनका तिरस्कार नहीं कर सकता।

प्रगतिवाद हो या आदर्शवाद हो, कथा-साहित्यमें सदैव जीवनके प्रति सच्ची स्फूर्तिका भाव प्रकट होना चाहिए। सभी परिस्थितियोंमें जीवनका क्या गौरव है, उसीकी लालसा होनेसे हम कथा-साहित्यमें उस जगत्का निर्माण करते हैं, जिसमें मनको महत्त्वकी सच्ची अनुभूति हो जाती है। आधुनिक भारतवर्षमें नव-राष्ट्रके निर्माणमें अभी तक एक संशयावस्था ही लक्षित हो रही है। उसी संशयावस्थाके कारण लोगोंमें जीवनकी महिमाके सम्बन्धमें विश्वास-की कोई दृढ़ता लक्षित नहीं होती। लोगोंके लिए हीन प्रवृत्तियाँ जितनी यथार्थ लक्षित होती हैं, उतनी सुप्रवृत्तियोंके सम्बन्धमें उनके मनमें एक सन्देहका भाव उत्पन्न हो गया है। यथार्थवादके आधारपर यदि जीवनकी सच्ची समीक्षा होगी, तो उससे जीवनका सच्चा गौरव प्रकट होगा और तब नव आदर्शकी भी प्रतिष्ठा होगी। उपन्यासकारोंके लिए जो काम सबसे अधिक स्पृहणीय हो सकता है, वह प्रचारका नहीं, निर्माणका ही हो सकता है। वे ऐसे ही चरित्रोंका निर्माण करें, जिनसे पाठकोंको चिरंतन स्फूर्ति, आनन्द, उत्साह और दीप्तिकी प्रेरणा हो।

१३—हिन्दीकी आख्यायिकायें

१

आधुनिक हिन्दी-साहित्यमें कविताकी गति भले ही शिथिल हो गई हो, पर आख्यायिकाओंमें कलाका अवश्य विकास हो रहा है। उनमें रूप-वैचित्र्य, विचार-वैचित्र्य और शैली-वैचित्र्यके कारण उनका विशेष प्रचार भी हो रहा है। नये-नये आख्यायिकाकारोंकी रचनाओंमें कलाका एक नैपुण्य दिखाई पड़ता है। यही बात नये कवियोंके संबंधमें नहीं कही जा सकती।

कवित्व-कलाके लिए उदात्त भाववृत्तिके साथ उदात्त कल्पना-शक्ति भी चाहिए। कविकी वाणीमें संगीतकी-सी जो मधुरता होती है, वह उसकी अपनी सृष्टि है। वह स्वयं अपने लिए भाषाके साथ भावका एक सौंदर्य-जगत् निर्मित कर लेता है। जो साधारण है, उसको वह असाधारण बनाता है। जो तुच्छ है, वह महत् हो जाता है। चन्द्रमाकी ज्योत्स्नाकी तरह उसकी प्रतिभा सभी साधारण वस्तुओंमें भी एक रहस्यमय सौन्दर्य उत्पन्न कर देती है; परन्तु आख्यायिकाकार दैनिक जीवनकी साधारण और क्षुद्र बातोंमें ही व्यस्त रहता है। उसे साधारण व्यक्तियोंके साधारण मनोभावोंसे प्रयोजन है। वह जीवनकी क्षुद्र लीलाओंमें मनुष्यत्वका यथार्थ रूप देखता है।

किसी विज्ञका कथन है कि कहानीमें कुछ सच होता है, कुछ झूठ और कुछ कहनेका विशेष ढंग रहता है। जो सच बात होती है, वह अन्तर्जगत्की होती है। जो बात झूठ होती है, उसका संबंध बहिर्जगत्से होता है। कहनेका जो अपना एक ढंग है, उसमें लेखकोंका कला-कौशल रहता है।

बाह्य जगत्में लेखक जो कुछ देखता-सुनता और अनुभव करता है, उसको वह ज्योंका त्यों अपने अन्तर्जगत्में नहीं अपना लेता। दर्पणकी तरह मनुष्यके हृदयपर बाह्य जगत्का प्रतिबिम्ब अपने उसी रूपमें नहीं पड़ता, उसको मन अपने एक विशेष रंगमें रंग देता है। मनुष्यकी जैसी रुचि होती है, जैसी धारणा होती है, जैसी बुद्धि होती है और जैसी विशेष परिस्थिति होती है, उन्हींके अनुकूल वह बाह्य जगत्को निर्मित कर ग्रहण करता है। यही कारण है कि किसी भी एक बातमें सब लोगोंकी एक सी मति नहीं हो सकती। अपनी-अपनी अनुभूतियोंके अनुसार सभी लोग उस एक बातको अच्छी या बुरी मान लेते हैं। यही अनुभूति जीवनकी स्पष्ट कथा कहती है। परन्तु मनुष्यमें जो कल्पना होती है, वह स्वयं रचना करती है। इसीसे कल्पनामें मनुष्यकी सृजन-शक्ति है। उसीसे बहिर्जगत्में जो सौन्दर्य नहीं है, उसे भी वह अपने भाव-लोकमें निर्मित कर लेता है।

कल्पना और अनुभूति दोनों मिलकर कथा-जगत्की सृष्टि करती हैं उसमें कलाका जो नैपुण्य होता है, वह इन दोनोंके उचित सामंजस्य-विधान और अभिव्यक्तिमें प्रदर्शित होता है। उसके लिए भाषाकी भी कुशलता चाहिए। शब्दोंमें बड़ी शक्ति होती है। उचित शब्दोंके प्रयोगसे भाषा सजीव हो जाती है। उससे केवल भाव स्पष्ट ही नहीं होते, किन्तु मनोहर भी हो जाते हैं। घटनाके साथ भाव और भावके साथ भाषाका कुछ ऐसा स्वाभाविक मेल हो जाता है कि कथा-वस्तु हृदयस्पर्शिणी हो जाती है। इसी कला-नैपुण्यके कारण छोटी होनेपर भी आख्यायिकाएँ विशेष लोकप्रिय हो रही हैं। आख्यायिकाओंका रूप अब संक्षिप्त होता जा रहा है। जो लघु कथाएँ हिन्दीके पत्रोंमें अब लोकप्रिय हो रही हैं, वे इतनी छोटी होती हैं कि दो मिनटमें पढ़ी जा सकती हैं। साहित्यके क्षेत्रमें जो इतना अधिक भाव-वैचित्र्य और रूप-वैचित्र्य है, उससे तरुण साहित्यकारोंकी रचना-शक्ति अवश्य प्रकट होती है। स्थायी साहित्यकी दृष्टिसे किनमें कलाकी सच्ची कुशलता है, यह तो नहीं कहा जा सकता है। पर यह सच है कि उन रचनाओंसे हिन्दी साहित्यमें जीवनकी सच्ची समीक्षा करनेके लिए सच्चा प्रयास हो रहा है।

२

कुछ समयसे हिन्दीमें श्रेष्ठ कहानियोंके संग्रह खूब प्रकाशित हो रहे हैं। हिन्दी-साहित्यमें कथाओंकी विशेष वृद्धि हो रही है। अधिकांश साहित्य-कारोंका कला-कौशल कथा-साहित्यमें जितना प्रकट हुआ है, उतना साहित्यके अन्य अंगोंमें नहीं। पर कथा-संग्रहोंकी विपुलताका कारण यह है कि हाईस्कूल और कालेजकी सभी परीक्षाओंमें कथा-संग्रहको पाठ्य-पुस्तकके रूपमें स्थान मिल जाता है। पाठ्य-पुस्तकोंसे साहित्यकी श्री-वृद्धि भले ही न हो, पर प्रकाशकों और लेखकोंको उससे यथेष्ट लाभ होता है। जिन मौलिक रचनाओंसे साहित्यकी सचमुच श्री-वृद्धि होती है, उनका प्रचार अत्यन्त कम है। हिन्दीके श्रेष्ठ साहित्यकारोंकी रचनाओंका विशेष प्रचार तभी होता है, जब उनकी कृतियाँ किसी न किसी रूपमें पाठ्य-पुस्तक हो जाती हैं। परन्तु संग्रह-ग्रन्थोंमें मौलिकताकी आवश्यकता ही नहीं रहती। संग्रहकार एकमात्र पाठ्य-पुस्तकके ही विचारसे कुछ कहानियों या निबंधों या कविताओंका संग्रह करता है। कहा जाता है कि डाक्टर जानसनने अपने समयमें संग्रह-ग्रन्थोंकी वृद्धि देखकर उनके संबंधमें लिखा था कि साहित्यके क्षेत्रमें जो लोग हमारे ज्ञान और आनन्दकी वृद्धि करते हैं, उनका प्रयत्न स्तुत्य है। परन्तु सभी संग्रह-ग्रन्थोंके विषयमें यही बात नहीं कही जा सकती। यह बात नहीं हैं कि संग्रह-ग्रन्थ उपेक्षणीय हैं। जो विज्ञ असीम ज्ञान-सागरसे रत्न ढूँढ़कर निकालता है, उसके प्रयासकी हम प्रशंसा करेंगे। परन्तु अधिकांश संग्रह-ग्रन्थोंमें न तो उनकी कोई विशेषता प्रकट होती है और न उनकी विवेचना-शक्ति। जानसनने यह भी लिखा है कि ज्यों-ज्यों समाजकी अवस्था विकृत होती जाती है, नए-नए विधि-विधानोंकी रचना होती है, उसी प्रकार ज्यों-ज्यों अज्ञानका प्रसार होता जाता है, त्यों-त्यों मौलिक रचनाओंकी उपेक्षा की जाने लगती है और संग्रह-ग्रन्थोंकी वृद्धि होने लगती है।

आधुनिक साहित्यकी गतिको देखकर यह तो नहीं कहा जा सकता कि देशमें अज्ञानका प्रसार हो रहा है; पर यह सच है कि पाठ्य-

पुस्तकोंमें ऐसे ग्रन्थोंकी स्वीकृति हो जानेकी आशासे प्रकाशक उन्हें प्रकाशित कर रहे हैं। प्रायः सभी संग्रह-ग्रंथोंमें अभी तक एक ही रीतिका अनुसरण किया गया है। कथा-साहित्यका विकास प्रदर्शित करनेके लिए आदिकालसे लेकर आधुनिक काल तकके भिन्न-भिन्न लेखकोंकी रचनाएँ उनमें दी जाती हैं। लेखकोंके व्यक्तिगत प्रभावसे या अन्य किसी कारणसे ये संग्रह-ग्रंथ पाठ्य-पुस्तकके रूपमें स्वीकृत हो जाते हैं। पाठ्य-पुस्तकोंके चुनावके संबंधमें कितनी ही अप्रिय बातें प्रसिद्ध हैं। एक प्रसिद्ध साहित्यसेवीने लिखा था कि वहाँ सिफ़ारिशबाजी होती है। एक अन्य सज्जनने कहा था कि वहाँ सौदा तय किया जाता है। कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि कितने ही साहित्य-मर्मज्ञोंने आधुनिक हिन्दी साहित्यकी अच्छी या प्रतिनिधि कहानियोंका संग्रह किया है और उनके संग्रह विभिन्न प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित हुए हैं। जब साहित्य-मर्मज्ञोंद्वारा कोई संग्रह किया जाता है, तब उस संग्रहका एक विशेष मूल्य हो जाता है। कुछ संग्रहोंमें यह कहा गया है कि उनमें हिन्दीकी सर्वश्रेष्ठ कहानियोंका संकलन हुआ है। कुछ रचनाओंको सर्वश्रेष्ठ कहनेपर यह अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दीके आख्यायिकाकारोंकी सर्वोच्च प्रतिभाका विकास उनमें हुआ है। उन कहानियोंके द्वारा हम लोग यह स्पष्ट रूपसे जान सकते हैं कि किन-किन लेखकोंकी रचनाओंमें आख्यायिका-कला पूर्णरूपसे विकसित हुई है। पर ऐसे चार-पाँच संग्रह-ग्रंथोंकी तुलनात्मक समीक्षा करने पर पाठक भ्रममें पड़ जाता है। वह यह निश्चय नहीं कर पाता कि सचमुच हिन्दीकी सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ कौन हैं; क्योंकि भिन्न-भिन्न संग्रहोंमें भिन्न-भिन्न कथाओंका संग्रह रहता है और संग्रहकार इस बातका स्पष्ट रूपसे निश्चय नहीं कर पाता कि क्यों वही कहानियाँ हिन्दीकी श्रेष्ठ कहानियाँ हैं।

कुछ संग्रह-ग्रंथोंमें श्रेष्ठत्वपर जोर न देकर प्रतिनिधित्वपर जोर दिया गया है अर्थात् उनमें सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ नहीं, प्रतिनिधि कहानियाँ संकलित की गई हैं। हिन्दीका कथा-साहित्य अभी प्रारंभिक अवस्थामें है। सभी आख्यायिका-लेखक एक ही युगके लेखक माने जा सकते हैं। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसे संग्रह-ग्रन्थोंमें ये लेखक भिन्न-भिन्न युगोंका प्रतिनिधित्व करते हैं। तब क्या यह समझा जाय कि देशमें जो

विभिन्न विचार-धाराएँ प्रचलित हो रही हैं, उनका प्रतिनिधित्व आख्यायिका-लेखक कर रहे हैं ? सभी आख्यायिका-लेखकोंकी अपनी-अपनी एक विशिष्ट शैली होती है। तो क्या विभिन्न शैलियोंका प्रतिनिधित्व करनेवाले आख्यायिकाकारोंकी रचनाओंका संग्रह किया जाता है ? कथा-साहित्यका क्षेत्र बड़ा विस्तृत हो गया है। सामाजिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक आदि कितने ही विषयोंपर कहानियाँ लिखी जाती हैं। तब क्या यह समझा जाय कि विषय-वैचित्र्यके आधारपर प्रतिनिधि कहानियोंका संग्रह किया गया है ? साधारणतया सभी प्रकारके संग्रह-ग्रंथोंको देखनेसे जो बात स्पष्ट होती है, वह यह कि उन सभीमें कुछ विशिष्ट लेखकोंकी ही कहानियोंका सग्रह रहता है। इसमें संन्देह नहीं कि कुछ लेखकोंने कहानियाँ लिखकर आधुनिक साहित्यके क्षेत्रमें अच्छी कीर्त्ति प्राप्त कर ली है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी सभी कहानियाँ श्रेष्ठ या प्रतिनिधि हैं। प्रेमचंद, सुदर्शन, प्रसाद और जैनेन्द्रजीकी कहानियाँ सभी संग्रहोंमें आई हैं। उनकी कहानियोंकी उपेक्षा कोई भी संग्रहकार नहीं कर सका है। पर उनकी कौन कहानी सर्वश्रेष्ठ है अथवा उनकी किस कहानीमें उनकी अपनी विशेषता पूर्णरूपसे व्यक्त हुई है, इसपर ध्यान देकर संग्रहकारोंने उनकी कहानियोंकी पूर्ण विवेचना नहीं की है। उनकी कलाकी विशेषताकी चर्चा तो संग्रहकारोंने अवश्य की है; परन्तु उन्होने स्पष्ट रूपसे यह नहीं बतलाया कि जो कहानियाँ वे अपने संग्रहमें दे रहे हैं, उनमें उन आख्यायिकाकारोंके कला-कौशलकी विशेषता किस प्रकार व्यक्त हुई है। किसी लेखककी कोई भी नई कहानी अपने संग्रहमें देनेकी इच्छासे कितने ही संग्रहकारोंने उन लेखकोंके अनुवादोंको ही मौलिक कहानियोंके रूपमें दे दिया है। उदाहरणके लिए श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयीके एक संग्रहमें सुदर्शनजीकी जो कहानी दी गई है, उसका नाम है 'एथेंसका सत्यार्थी।' वह सुदर्शनजीकी मौलिक रचना नहीं है। वह एक पाश्चात्य कथाका अनुवाद है। एक दूसरे संग्रहमें उग्रजीकी 'उसकी माँ' शीर्षक कहानी दी गई है। वह भी उग्रजीकी सच्ची कलाकी विशेषताको प्रकट नहीं करती। वह गोर्कीके 'माँ' शीर्षक उपन्यासकी एक छाया है। जब हम किसी आख्यायिकाकारकी किसी रचनाको श्रेष्ठ

अथवा प्रतिनिधि कहानी मानकर अपने संग्रहमें दे रहे हैं, तब हमें सभी दृष्टियोंसे उसपर विचार कर लेना चाहिए।

हिन्दीमें कथा-साहित्यके विकासको अच्छी तरह समझनेके लिए हम अनुवादों और भावानुवादोंकी उपेक्षा नहीं कर सकते। इसमें संदेह नहीं कि प्रारंभिक कालमें हिन्दीके श्रेष्ठ लेखक भी अन्य भाषाओंकी कहानियोंका अनुवाद करते थे। पंडित रूपनारायण पाण्डेय और पंडित ज्वालादत्त शर्माके अनुवाद विशेष रूपसे प्रसिद्ध थे। अन्य लेखकोंने भी बंग भाषाकी कितनी ही कहानियोंका अनुवाद किया। अँगरेजीकी भी कहानियोंके अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। कुछ कहानियाँ अनुवाद न होकर भावानुवाद या छायानुवाद थीं। इसके बाद हिन्दीमें मौलिक कहानियोंका प्रचार होने लगा। भाषाके सौष्ठवकी दृष्टिसे वे अनुवाद उपेक्षणीय नहीं हैं। परन्तु यह सच है कि उनसे हिन्दी साहित्यकी अपनी कुछ विशेषता प्रकट नहीं होती। हिन्दी-साहित्यके इतिहासमें यह बात भी एक विचारणीय वस्तु हो गई है कि कौन हिन्दीकी पहली मौलिक कहानी है। पर इसमें संदेह नहीं कि हिन्दीमें प्रेमचन्दजीके पदार्पण करनेके पहले विश्वम्भरनाथ 'कौशिक' और ज्वालादत्तजी शर्मा हिन्दीके मौलिक आख्यायिकाकारके रूपमें प्रसिद्ध हो चुके थे। इन दोनोंकी रचनाएँ प्रायः सभी संग्रह-ग्रन्थोंमें दी गई हैं। पर ज्वालादत्त शर्माजीकी रचनाएँ कलाकी दृष्टिसे अपूर्ण समझी गई हैं।

कथा-साहित्यके संबंधमें प्रेमचन्दजीने लिखा है कि वर्त्तमान आख्यायिकामें मनोवैज्ञानिक विश्लेषणके साथ जीवनका स्वाभाविक चित्रण होता है। उसमें कल्पनाकी मात्रा कम और अनुभूतिकी मात्रा अधिक होती है। उसमें कोई तत्त्व रहता है। कथा-वस्तुका आधार कोई मनोवैज्ञानिक सत्य होता है। उसमें अन्तर्द्वन्द्व प्रदर्शित होता है। अधिकांश कहानियोंमें हम जो कथाका रस पाते हैं, उसका कारण या तो घटनाकी विलक्षणता होती है या चरित्रकी। इसी लिए कुछ कहानियाँ घटना-प्रधान हो जाती हैं और कुछ चरित्र-प्रधान। कहानी चाहे घटना-प्रधान हो या चरित्र-प्रधान, उसके पात्रोंके प्रति पाठकोंको जब एक सहानुभूति हो जाती है, तभी उनको कहानीमें यथार्थता लक्षित होती है। यदि कहानीके भीतर उन्हें अपने जीवनकी कोई यथार्थता

लक्षित नहीं हुई, तो उससे उनको कथा-रसका सच्चा उपभोग नहीं हो सकता। घटना चाहे कितनी ही विलक्षण क्यों न हो और चरित्र कितना ही असाधारण क्यों न हो, परन्तु कथाके प्रति पाठकोंको एक विश्वास उत्पन्न हो जाता है। कथाके पात्रोंके प्रति उनमें सहानुभूति भी तभी उत्पन्न होती है, जब उनके भावोंको वे अनायास ही अपना लेते हैं। इसमें उन्हें कोई भी अस्वाभाविकता नहीं लक्षित होती। कहानीकी चाहे जैसी व्याख्या की जाय, यह तो स्पष्ट है कि उसमें जीवनकी ऐसी झलक होनी चाहिए, जो हमें यथार्थ प्रतीत हो और उसका अन्त ऐसा होना चाहिए कि वह अनिवार्य प्रतीत हो। यह सच है कि अधिकांश पाठकोंके जीवनमें वे परिस्थितियाँ उत्पन्न नहीं होतीं, जो कथा-साहित्यके कल्पित पात्रोंके जीवनमें होती हैं। प्रेम और वासना, प्रतिहिंसा और विद्वेष, लोभ और घृणाकी कोई भी प्रचण्ड लीला हम लोगोंके अपने जीवनमें नहीं होती। हम लोग अपने क्षुद्र जीवनमें क्षुद्र बातोंको ही लेकर व्यस्त रहते हैं। फिर भी मन अपने लिए एक माया-लोक निर्मित करता रहता है। इसी लिए महत्त्वकी आकांक्षा सभीके हृदयमें होती है। जो सच्चा लेखक होता है, वह क्षुद्र कार्य-कलापोंमें भी जीवनकी चिरन्तन महिमा देख लेता है।

पाश्चात्य साहित्यके कितने ही श्रेष्ठ लेखकोंकी कहानियोंमें साधारण व्यक्तियोंकी साधारण बातोंमें ही एक अपूर्वता लक्षित होती है। कितने ही विज्ञोंका कथन है कि पाश्चात्य साहित्यमें 'माई डार्लिंग' शीर्षक कहानी सर्वश्रेष्ठ है। उसकी कथावस्तु इतनी साधारण है कि साधारण लेखक यह समझ ही नहीं सकता कि उसमें भी एक अपूर्व आकर्षण लाया जा सकता है। एक स्त्री थी, अत्यन्त साधारण। उसने पहले एक बढ़ईसे विवाह किया। तब वह उसीके व्यवसायकी बातें किया करती थी और उसमें जीवनका गौरव देखती थी। उसके बाद उसने एक दर्जीसे विवाह किया। तब वह दर्जीकी ही दृष्टिसे संसारको देखने लगी। फिर उसने एक स्कूल-मास्टरसे विवाह किया। तब उसकी दृष्टि स्कूलकी सीमामें बद्ध हो गई। उससे परित्यक्त किए जानेपर वह एक बालकके लालन-पालनमें व्यस्त हो गई। उस समय उस बाल्य-जीवनमें ही उसकी सारी चिंता निबद्ध हो गई। ऐसी ही बातोंको लेकर लेखकने एक

साधारण नारीका ऐसा अपूर्व चित्र अंकित किया है कि उसकी ओर सभी पाठकोंकी सच्ची सहानुभूति हो जाती है। कहानी पढ़ लेनेके बाद सभीके हृदयमें यह भाव उत्पन्न होता है कि प्रेमकी दिव्य ज्योति हम सभी लोगोंके जीवनको सभी स्थितियोंमें प्रदीप्त करती रहती है। हम लोगोंके मनमें प्रतिदिन स्नेह, और आशंका, उद्वेग और क्षोभ, लालसा और उत्साहके कारण एक अपूर्व रसकी सृष्टि होती रहती है। तभी तो जीवन सभी स्थितियोंमें सरस बना रहता है। किसी भी अवस्थामें वह अस्पृहणीय नहीं होता। कष्ट और चिन्तामें, दुःख और विफलतामें हम लोग अपने भीतर और बाहर कुछ ऐसी बातें पा जाते हैं, जिनके कारण हमें आशा होती है, सान्त्वना मिलती है और स्नेहकी सहिष्णुता आ जाती है।

कथाओंमें सरसता तभी आती है, जब पाठकोंको कौतूहल-वृद्धिके साथ जीवनकी कुछ ऐसी बातें भी देखनेको मिल जाती हैं, जिनका प्रभाव उसके मनपर पड़ता है। जीवनमें संयोगवश कितनी ही तरहकी बातें होती रहती हैं। यदि उन बातोंमें कोई विलक्षणता है, तो उनके प्रति एक कौतूहलका भाव अवश्य उत्पन्न होता हैं। घटनाप्रधान कहानियोंमें कौतूहलकी विशेष वृद्धि होती है। संसारमें सभी तरहकी घटनाएँ संभव हैं। किसी विज्ञने तो तो यहाँ तक कहा है कि यथार्थ जगत्में जितनी विलक्षण घटनाएँ होती हैं, उतनी विलक्षण घटनाएँ कथा-साहित्यमें भी नहीं होतीं। पर संयोगवश जो घटनाएँ होती हैं, उनको आधार मानकर यदि कोई नीतिकी शिक्षा देनेका प्रयत्न करता है, तो उसकी कथामें शिथिलता आ जाती है। ज्वालादत्त शर्माकी अधिकांश कहानियोंमें घटनाओंके आधारपर कोई शिक्षा देनेका प्रयत्न किया गया है। इसीसे उनकी कथामें एक शिथिलता आ गई है। उदाहरणके लिए उनकी 'विधवा' नामकी कहानी लीजिए। किसी चाचाने अपने भतीजेको पढ़ाया-लिखाया। उनका भतीजा पितृहीन था। लड़का जब पढ़-लिखकर काम करने लगा, तब चाचा यही कहा करते थे कि उसीकी शिक्षामें व्यय करनेके कारण वे ऋणग्रस्त हो गए। यथार्थ बात यह थी कि उन्होंने अपनी कन्याके विवाहमें विशेष खर्च किया था। भतीजेकी अचानक मृत्यु हो जानेसे उसकी स्त्री बिलकुल आश्रयहीन हो गई। चाचाने दुर्व्यवहार कर अंतमें उसको

घरसे निकल जानेपर विवश किया। वह विधवा अपने भाईके घर रहकर अपने परिश्रमसे अपना जीवन-निर्वाह करने लगी। उसने उच्च शिक्षा भी प्राप्त कर ली। अंतमें वह एक स्कूलकी प्रधान अध्यापिका भी हो गई। संयोगवश उस स्कूलमें एक चपरासीकी आवश्यकता होने पर उसका वही चाचा-ससुर आवेदन-पत्र लेकर आया। उसकी अवस्था अत्यन्त हीन हो गई थी। उस समय उस विधवा बहूने ही उसको यथेष्ट सहायता दी। कथाकी यहीं समाप्ति हो गई। परन्तु उसे पढ़नेसे पाठकोंके हृदयपर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। यदि यही कहानी उस विधवा बहूसे कहलाई जाती और उसमें उसके मानसिक भावोंका सच्चा वर्णन उसीसे कराया जाता, तो कथामें अधिक सरसता आ जाती और जीवनकी एक सच्ची झलक भी पाठकोंको देखनेको मिल जाती। संयोगवश तो सभी तरहकी घटनाएँ होती हैं। उस विधवाके लिए यह भी संभव था कि वह अपने भाईके घरमें भी अपनी भाभीके कारण कष्ट और अपमान सहती। तब पड़ोसके किसी व्यक्तिसे उसका परिचय हो जाता। परिचय सहानुभूतिमें बदल जाता और सहानुभूति उस प्रेममें, जिसके कारण कोई भी विधवा अपने घरको छोड़ देती है। वह उस युवकके साथ बंबई आ जाती और यदि उसमें सौन्दर्य है, तो वह सिनेमाके क्षेत्रमें कलाकी रानी बन जाती। तब किसी दिन उसकी मोटरसे उसके दरिद्र चाचा-ससुर दब जाते। यह भी संभव है कि वह युवक बंबईमें दूधका रोजगार करनेवाला होता। दूधके रोजगारके द्वारा वह यथेष्ट संपत्ति अर्जित कर लेता और उसकी पत्नीके रूपमें रहकर वह विधवा भी सुख और शांतिके साथ अपना जीवन व्यतीत करती। संभव है कि उसकी कोई लड़की भी होती और वह उच्च शिक्षा प्राप्तकर अन्तमें सिनेमाके क्षेत्रमें जाकर अभिनेत्री बन जाती। ऐसी कथाओंका वर्णन कितने ही आख्यायिकाकारोंने किया है। इसीलिए आख्यायिकाओंमें घटनाओंके साथ चरित्रका जब सुन्दर मेल किया जाता है, तभी कथा आपसे आप सरस हो जाती है।

ओ हेनरीने 'भाग्यके पथ' नामकी एक सुन्दर कहानी लिखी है। उसमें उन्होंने अपने कल्पित पात्रको तीन विभिन्न परिस्थितियोंमें रखकर उसका दुखद अन्त किया है। परन्तु सभी स्थितियोंमें वह अन्त अनिवार्य प्रतीत

होता है। कहानीका मर्म यों है,—एक गड़रिया था। उसके पिता उसके लिए यथेष्ट भेड़ें छोड़ गए थे। उन भेड़ोंके कारण वह श्री-सम्पन्न था। परन्तु वह कविताएँ लिखा करता था। उसके कारण वह अपने कामकी उपेक्षा करने लगा। परिणाम यह हुआ कि उसकी भेड़ें मरने लगीं और उसकी हीनावस्था होने लगी। वह अपनी स्त्रीको खूब चाहता था। उसपर उसकी स्त्रीका भी बड़ा प्रेम था। पर उसके कवित्व-प्रेमके कारण नित्य घरमें झगड़ा होने लगा। उसीके कारण उस गड़रिए कविका जीवन दुर्वह हो गया। एक दिन वह पेरिस जानेके लिए निश्चय कर रातमें छिपकर अपने घरसे निकला। कुछ दूर जानेके बाद उसका पथ एक दूसरे पथसे जाकर मिल गया। वहाँ खड़ा होकर वह सोचने लगा कि वह किधर जावे। वह दाहिनी ओर जा सकता था, वह बाईं ओर जा सकता था और वह पीछे भी लौटकर घर आ सकता था। आख्यायिकाकारने उसे तीनों ही रास्तोंमें परिभ्रमण कराया है और तीनोंका अंत हुआ है उसकी मृत्यु। घटनाएँ अवश्य परिवर्तित हुई हैं, परन्तु अंत वही हुआ है। पहली राहमें जाकर उसे एक विचित्र स्थितिमें एक उच्च कुलकी ललनासे विवाह करना पड़ा और उसकी मान-रक्षाके लिए उसे अपने चाचा-ससुरसे द्वन्द्व-युद्ध करना पड़ा। उस द्वन्द्व-युद्धमें उसकी मृत्यु हो गई। दूसरी राहमें जाने पर उसे पेरिसमें कुछ दिन रहनेके बाद एक षड्यंत्रमें फँस जाना पड़ा, जिसके कारण निरपराध होनेके कारण उसकी मृत्यु हो गई। लौटकर घर आनेके लिए जो उसके लिए तीसरी राह थी, उसे स्वीकार करनेपर वह अपनी कविताओंको लेकर काव्य-शास्त्रके एक मर्मज्ञके पास गया और जब साहित्यके उस मर्मज्ञने यह बताया कि उसकी कविताओंमें काकके स्वरकी कर्कशता है, तब वह अत्यन्त निराश होकर आत्म-हत्या कर बैठा। इन तीनों घटनाओंमें चरित्रके साथ घटनाओंका ऐसा अपूर्व सामंजस्य हुआ है कि कथामें न तो कहीं अस्वाभाविकता आने पाई है और न उसके अन्तपर पाठकोंको अविश्वास ही होता है।

विश्वम्भरनाथ 'कौशिक' भी हिन्दीके एक पुराने आख्यायिकाकार हैं। अंचलजीने कहानियोंका जो एक संग्रह किया है, उसमें 'कौशिक' जी की बड़ी प्रशंसा भूमिकामें की गई है। उनके संबंधमें कहा गया है कि संलापकी

कलामें वे हिन्दीमें सर्वश्रेष्ठ कहे जा सकते हैं। उनमें उच्चकोटिकी जीवनाभिव्यक्ति हुई है। स्थितियोंके अनुरूप संवाद-योजना और चरित्र-चित्रण उनकी विशेषता है। उनका व्यंग-विनोद और हास-परिहास सभी मौलिक है। परन्तु इतनी प्रशंसा करनेके बाद भी उन्होंने हिन्दीकी जो अठारह प्रतिनिधि कहानियाँ अपने संग्रहमें दी हैं, उनमें कौशिककी एक भी कहानीको स्थान नहीं मिला है। इस संग्रहमें आचार्य चतुरसेन शास्त्री, ज्वालादत्त शर्मा, और गहमरीजीकी भी कहानियाँ नहीं हैं, यद्यपि लेखकने इन तीनों लेखकोंकी प्रशंसा की है। गहमरीजीके संबंधमें कहा गया हैं कि वे हिन्दीके सर्वश्रेष्ठ मौलिक जासूसी कहानी-लेखक हैं और आचार्य चतुरसेन शास्त्री तो ऐसे आख्यायिका-लेखक हैं, जिनको कहानी-रचनाके दो उन्मेषोंका संधि-काल माना जा सकता है। उनकी कला-निपुणताकी भी बड़ी प्रशंसा की गई है। कहा गया है कि उनके कथोपकथन विदग्ध और व्यंगार्थपूर्ण होते हैं। आख्यान-कलाकी भारतीय शैलीके संस्कृत कथानकोंकी रसनिष्ठाका पाश्चात्य प्रभावशीलताके साथ सुन्दर समन्वय उनकी कहानियोंमें हुआ है और प्रेमके कुछ अमर चित्र उनकी कहानियोंमें उतरे हैं। ऐसी स्थितिमें साधारण पाठकोंके लिए यह समझना कठिन हो जाता है कि जिस संग्रहमें ऐसे लेखकोंकी उपेक्षा की गई है, वह हिन्दीकी प्रतिनिधि कहानियोंका संकलन कैसे कहा जा सकता है? अन्य-संग्रह-ग्रंथोंमें आचार्य चतुरसेन शास्त्रीकी कहानियोंकी उपेक्षा नहीं की गई है। उनकी कुछ ऐतिहासिक कहानियाँ विशेष प्रसिद्ध हैं। उनकी कथा-शैलीमें रमणीयता अवश्य है। कदाचित् हिन्दीकी ऐतिहासिक कहानियोंमें उन्हींकी कहानियाँ सर्वश्रेष्ठ कही जा सकती हैं।

हिन्दीके कितनी ही ऐतिहासिक कहानियोंमें, विशेषकर प्रसादजीकी कहानियोंमें, ऐतिहासिक वातावरण होनेपर भी कथावस्तुकी शिथिलता लक्षित होती है। उदाहरणके लिए उनकी 'ममता' शीर्षक एक कहानी ली जा सकती है। कथाके प्रारंभमें ही उन्होंने युवती ममताका जो चित्र अंकित किया है, उससे ऐसा जान पड़ता है कि रवीन्द्रबाबूकी 'नवाबजादी' शीर्षक कहानीकी तरह उसकी कोई प्रेम-कथा वर्णित होगी। उन्होंने लिखा है कि ममताका यौवन शोणके समान ही उमड़ रहा था। मनमें वेदना,

मस्तकमें आँधी, आँखोंमें पानीकी बरसात लिये, वह सुखके कंटक-शयनमें विकल थी। वह रोहतासदुर्गपतिके मंत्री चूड़ामणिकी अकेली दुहिता थी, फिर उसके लिए कुछ अभाव होना असंभव था; परन्तु वह विधवा थी—हिन्दू-विधवा संसारमें सबसे तुच्छ निराश्रय प्राणी है—तब उसकी विडंबनाका कहाँ अंत था? कथामें हिन्दू-विधवाकी विडंबनाका कोई वर्णन नहीं है। व्यथित चूड़ामणि अपनी स्नेह-पालिता पुत्रीके लिए कोई बात स्थिर नहीं कर सके थे। इसके बाद जो घटना वर्णित हुई है, उसपर विश्वास नहीं होता। क्यों चूड़ामणिने उत्कोच लिया और फिर जब डोलियोंके भीतर छिपकर पठान दुर्गमें प्रवेश करने लगे, तब चूड़ामणिने जानबूझकर उन डोलियोंका आवरण क्यों खुलवाना चाहा? कथाका अंत भी समझमें नहीं आता। हुमायूँने तो मिर्जाको उसका घर बनवा देनेकी आज्ञा दी थी, क्योंकि विपत्तिमें एक रात उन्होंने वहाँ विश्राम किया था। तब अकबरने वहाँ एक गगनचुम्बी मंदिर क्यों बनवाया? हुमायूँ तो न जाने कितने स्थानोंमें कितने दिनों तक भटकते रहे। फिर क्या सोचकर अकबरने उनकी स्मृतिमें वहीं गगनचुम्बी मंदिर बनवाया?

प्रसादजीकी अधिकांश कहानियोंमें शैलीकी निपुणता होनेपर भी कथा-वस्तुकी वह विशेषता लक्षित नहीं होती, जिसके कारण पाठक कथा पढ़कर चमत्कृत हो उठते हैं। उनके अधिकांश पात्र असाधारण लक्षित होते हैं और वे असाधारण भावोंसे ही युक्त होकर काम करते हैं। देशप्रेमके साथ नारीके सहज प्रेममें उन्होंने जो अन्तर्द्वन्द्व प्रदर्शित किया है, उसमें असाधारणता होनेपर भी स्वाभाविकता नहीं है। यह बात चतुरसेनजीकी ऐतिहासिक कहानियोंके सम्बन्धमें नहीं कही जा सकती।

कथावस्तुमें सत्यके साथ कल्पनाका ऐसा मेल होता है कि उसमें हम अन्तर्जगत्की यथार्थता देख पाते हैं। कहा जाता है कि कहानीमें कुछ सच होता है, कुछ झूठ होता है और कुछ कहनेका ढंग ऐसा होता है, जिसके कारण सभी श्रोता उसे सुनकर मुग्ध हो जाते हैं। साहित्यके आदिकालमें कहानियाँ कही जाती थीं और यथार्थमें कहानीकी विशेषता तभी प्रकट होती है, जब वह कही जाती है। यह सच है कि साहित्यकी वृद्धिके साथ अब कथा-साहित्य पाठ्य-

साहित्य हो गया है। फिर भी कहानीकी उत्तमताकी सबसे बड़ी परीक्षा यही है कि वह श्रोताओंको अच्छी तरह सुनाई जा सकती है या नहीं। जो अच्छी कहानी होती है, उसे सुननेमें सर्वत्र कथा-रसकी अनुभूति होती है। कुछ समय पहले कवि-सम्मेलनोंकी तरह गल्प-सम्मेलनोंका भी आयोजन होने लगा था। परन्तु जितनी लोकप्रियता कवि-सम्मेलनोंको प्राप्त हुई, उतनी गल्प-सम्मेलनोंको नहीं मिली। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि जो कहानियाँ आधुनिक हिन्दी-साहित्यमें श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर चुकी हैं, उनको भी सुननेमें लोगोंको आनंद प्राप्त नहीं होता। रेडियोके कार्यक्रममें भी आख्यायिका-लेखकोंके द्वारा जो कथा पाठ होता रहता है, उससे भी साधारण लोगोंका कोई विशेष मनोरंजन नहीं होता। बात यह है कि अच्छी कहानियोंमें न तो घटना उपेक्षणीय है और न भाव। हिन्दीकी प्रतिनिधि कहानियोंमें भले ही ऐसी कहानियोंका संग्रह होता रहे, जिनमें एकमात्र मनोविज्ञानकी—मनकी—चरित्रकी—सूक्ष्मसे सूक्ष्म ग्रंथियाँ कलाकी बारीकियोंसे नव कलियोंकी भाँति खुल पड़ती हों, परन्तु पाठकों और श्रोताओंका उन्हीं कथाओंसे मनोरंजन होता है, जहाँ घटनाके साथ भावका ऐसा सुन्दर मेल होता है कि यह नहीं जान पड़ता कि कथामें घटना प्रधान है अथवा भाव। इसी प्रकार भावके साथ भाषाका भी ऐसा समन्वय होता है कि भावके प्रवाहमें भाषा स्वयं सरस हो जाती है। उसमें सरसता लानेके लिए कृत्रिम रूपसे प्रयास नहीं करना पड़ता। ऐसा कोई भी श्रेष्ठ आख्यायिकाकार नहीं है, जिसकी कथावस्तुमें इतनी शिथिलता हो कि वह श्रोताओंको न सुनाई जा सके और सुनाई जानेपर वह उनको मुग्ध न कर सके। सच तो यह है कि कथाओंमें भाषाका गौरव गौण ही रहता है। तभी तो भारतीय साहित्यकी कितनी ही कहानियोंको सुनाकर साधारण कथावाचकगण जनताको मुग्ध कर देते हैं।

कथाओंमें घटनाएँ कितनी ही विलक्षण क्यों न हों, परन्तु उनकी सरसता तभी तक संभव है, जब वे पाठकोंके हृदयमें संशयके लिए अवसर नहीं देतीं। बाल्यकालमें कल्पनाकी प्रबलता रहती है। इसी लिए पशु-पक्षियोंकी कथाओंमें भी एक आकर्षण रहता है। अलिफ लैलाकी कहानियोंके लिए जनताके हृदयमें अलिफ लैलाका कल्पनालोक निर्मित करना होता है। तभी उसकी सब

विलक्षण घटनाएँ जनताके हृदयमें विश्वास उत्पन्न कर पाती हैं। आधुनिक कथा-साहित्यमें भी विज्ञानकी सहायता लेकर एकसे एक विलक्षण घटनाओं और चरित्रोंका वर्णन किया गया है। पाश्चात्य साहित्यके प्रसिद्ध लेखक एच० जी० वेल्सको अपनी कहानियोंके लिए विज्ञानसे प्रेरणा मिली है। कथा-साहित्यमें पशु-पक्षियोंकी भी जीवन-कथाएँ ऐसे ढंगसे वर्णित की गई हैं कि उनमें कथाका सच्चा रस परिस्फुट हो गया है। यह बात नहीं है कि हिन्दीमें ऐसी कथाएँ नहीं लिखी गई हैं। परन्तु प्रायः सभी संग्रहकारोंने ऐसी कहानियोंकी ओर ध्यान ही नहीं दिया है। कदाचित् उन्होंने ऐसी कहानियोंमें कलाकी कोई कुशलता ही नहीं देखी है। हिन्दीके कथा-साहित्यके इतिहासमें बंग-महिलाकी 'दुलाईवाली' शीर्षक कहानीका उल्लेख अवश्य किया गया है। पर उन्होंने 'चंद्रदेवसे कुछ बातें' शीर्षक जो एक लेख लिखा था उसमें भी कथाका रस विद्यमान है। उन्हीं दिनों 'सरस्वती'में 'सूरजकी आत्मकथा' भी प्रकाशित हुई थी और उसमें भी कथाका सौष्ठव है। रवीन्द्र बाबूके 'राज-पथ' की तरह हिन्दीमें कितनी ही कथाएँ लिखी गई हैं, परन्तु यह आश्चर्यकी बात है कि अधिकांश संग्रहोंमें उनकी उपेक्षा की गई है। अभी हालमें 'यदि वे बोल पाते' नाम देकर ऐसी कहानियोंका एक सुन्दर संग्रह प्रकाशित हुआ है। पशु-पक्षियोंके जीवनको लेकर कैसी अच्छी कहानी लिखी जा सकती है, इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण श्रीरामानुजलाल श्रीवास्तवकी 'बिजली' शीर्षक कहानी है।

यह ठीक है कि अपनी अपनी रुचिके अनुसार लोगोंको भिन्न-भिन्न कहानियाँ अच्छी लगती हैं। यह सर्वथा संभव है कि जो कहानी किसी एकको अच्छी प्रतीत होती है, वह दूसरेको अच्छी न जान पड़े। परन्तु जब कोई संग्रहकार भिन्नभिन्न कहानियोंके गुणदोषोंकी अच्छी तरह विवेचना कर और भिन्न-भिन्न आख्यायिकाकारोंकी कलाकी समीक्षा कर उनकी कहानियोंको चुनता है, तब उसके संग्रहका भी एक विशेष महत्त्व हो जाता है। श्रेष्ठत्वके संबंधमें विज्ञोंकी एक सम्मति नहीं हो सकती। पर यह तो आवश्यक है कि जिन कहानियोंका संग्रह किया गया है, उनमें उन आख्यायिकाकारोंके रचना-कौशलकी विशेषता अवश्य लक्षित होनी चाहिए। उम्दा कहानियाँ अधिकांश संग्रह-ग्रंथोंमें

दी गई हैं, उससे उनकी सच्ची कला-कुशलता प्रकट नहीं होती। उनकी दो रचनाएँ कितने ही संग्रह-ग्रंथोंमें प्रकाशित हुई हैं। एक है 'रुपएकी आत्मकथा' और दूसरी है 'बुढ़ापा'। उन दोनोंमें निबंध-कलाका सौष्ठव है। उनमें भाषाके सरल प्रवाहके साथ भावोंका बड़ा ही सरस मेल हुआ है। उनमें व्यंग्य है और परिहास है और उन्हींके साथ सत्यका एक ऐसा विशद रूप है, जो हृदयपर आघात करता है। कहानियोंमें उनकी 'गंगा, गंगदत्त और गांगी' शीर्षक कहानी हिन्दीकी बारह श्रेष्ठ कहानियोंमें परिगणित हो सकती है। अँगरेजीमें उसी कथावस्तुको लेकर एक बड़ी सुन्दर कहानी लिखी गई है। परन्तु उसमें भी कथाकी वह विशेषता नहीं आ सकी है, जो उग्रजीकी उक्त कहानीमें लक्षित होती है। अँगरेजी कहानीका सारांश यह है।— एक वैज्ञानिकने बड़े परिश्रमसे तारुण्य-रस प्राप्त किया। वह देखना चाहता था कि वृद्धोंमें उस तारुण्य-रसका प्रयोग करनेसे क्या फल होता है। उसने अपनी प्रयोगशालामें तीन वृद्ध और एक वृद्धा स्त्रीको निमंत्रित किया। उन चारोंको पहले यह विश्वास ही नहीं होता था कि तारुण्य-रसका पानकर वे पुनः तारुण्यका अनुभव करेंगे। तारुण्य-रस पान करनेके पहले उन सभीके भीतर एक सदिच्छा थी। परन्तु ज्यों ही उन्होंने तारुण्य-रसका पान किया, उनमें तारुण्यकी उद्दामता और उच्छृंखलताके साथ पाशविकताकी भावना उत्पन्न हो गई। वृद्धोंके प्रति उनमें तिरस्कारका भाव आ गया। वे परस्पर लड़ने-झगड़ने लगे। परन्तु उनका यह उन्माद क्षण-भर ही रहा। थोड़ी देर बाद जब तारुण्य-रसका प्रभाव विलुप्त हो गया, तब वार्धक्यकी स्थितिसे उन्हें और भी अधिक दुख हुआ। तब वे सभी तारुण्य-रसके चिरंतन-स्रोतकी खोजमें निकल पड़े। उग्रजीने जो कहानी लिखी है, उसमें व्यंगके साथ प्रेमकी वेदना और त्यागकी महत्ता भी वर्णित हुई है। जब गंगदत्त वरदानके द्वारा तरुण बन जाता है, तब वह अपनी स्त्रीकी वृद्धावस्थाके कारण स्वयं वृद्ध होनेकी इच्छा करता है और उस चिरंतन यौवनका तिरस्कार कर देता है, जो उसे अपने लिए उपहासजनक प्रतीत होता है। इधर उसकी वृद्धा स्त्री अपने पतिके लिए अनिच्छासे स्वयं तारुण्य प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न करती है। विधाताका यह कैसा मर्ममेदी उपहास था कि जब पतिके लिए पत्नी तरुणी बनकर आती है,

तब पत्नीके लिए कठोर तपस्याके द्वारा पति वृद्धावस्थाका वर माँगकर लौटता है। इसमें त्यागकी वही भावना काम कर रही है, जो ओ हेनरीकी एक कथामें वर्णित हुई है। पत्नीने अपने सुन्दर बाल बेचकर अपने पतिकी घड़ीके लिए उनकी चिरअभिलषित चेन खरीदी और पतिने अपनी पत्नीके सुन्दर बालोंके लिए अपनी घड़ी बेचकर उसकी चिरअभिलषित कंघी खरीदी।

किसी भी श्रेष्ठ संग्रहमें तरुण साहित्यकारोंकी रचनाओंको स्थान देनेमें एक कठिनाई अवश्य उत्पन्न होती है। वह यह कि आधुनिक कथा-साहित्यमें अभी तक कलाका ऐसा कोई आदर्श निश्चित नहीं हुआ है, जिसकी कसौटी-पर किसी भी कलाकी उत्तमताकी ठीक परीक्षा हो सके। सच पूछिए, तो अभीतक हिन्दी-साहित्यमें शैलीका ही विकास हो रहा है। अधिकांशकी रचनाओंमें यथार्थ जीवनकी वह सच्ची अनुभूति भी नहीं लक्षित होती, जिसके कारण आख्यायिकामें एक चमत्कार आ जाता है। तरुण आख्या-यिका-लेखकोंके संबंधमें कदाचित् साहित्य-मर्मज्ञोंमें बड़ा मतभेद है। यही कारण है कि कुछ संग्रहोंमें अज्ञेय और यशपालजीकी भी रचनाएँ स्थान नहीं पा सकीं। कुछ संग्रहोंमें कदाचित् प्रान्तीयता अथवा पक्षपातकी भावना भी काम कर रही है। यही कारण है कि किसी विशेष प्रान्तके साहित्यकार-द्वारा संपादित किसी संग्रह ग्रंथमें उसी प्रान्तके तरुण साहित्यकारोंकी रचनाएँ रहती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दीमें प्रचारकी भी भावना अधिक काम कर रही है। हिन्दीमें अभी ऐसे संग्रहकी सचमुच आवश्यकता है, जिसमें कथा-साहित्यकी सच्ची समीक्षा कर हिन्दीकी श्रेष्ठ अथवा प्रतिनिधि कहानियाँ ही संकलित हों।

३

अभी हालमें दो कथा-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। एक है श्री शोभाचन्द जोशीजीका 'सप्तर्षि लोक' और दूसरा है श्री हरिशङ्कर परसाईजीका 'हँसते हैं—रोते हैं' नामक संग्रह। इन दोनों संग्रहोंमें कथाका एक अभिनव रूप है और शैलीकी नवीनता भी। आधुनिक हिन्दी साहित्यमें भावके क्षेत्रमें तरुण साहित्यकारोंकी विशेष कर्तृत्व-शक्ति लक्षित हो रही है। कविताओं और

आख्यायिकाओंमें रूपके वैचित्र्यके साथ शैलीका भी वैचित्र्य देखा जाता है। दोनोंमें कलाके नए-नए प्रयोग हो रहे हैं और दोनोंमें आधुनिक युगके अनुकूल नव-विचारधाराके प्रचारके लिए एक व्यग्रता लक्षित हो रही है। फिर भी कविताओंकी अपेक्षा आख्यायिकाओंमें कलाका एक विशेष नैपुण्य देखा जाता है। नए कवियोंकी अपेक्षा नए आख्यायिकाकारोंकी रचनाएँ अधिक लोकप्रिय भी हो रही हैं।

'सप्तर्षि लोक' में प्रसिद्ध पौराणिक आख्यानोंके आधारपर आधुनिक युगकी भावनाओंके अनुरूप नव आख्यान निर्मित किए गए हैं। इसमें संदेह नहीं कि रामायण और महाभारतके उपाख्यानोंका सबसे बड़ा प्रभाव हिन्दू समाजकी प्रगतिपर पड़ा है। उसके धार्मिक, नैतिक और बौद्धिक विकासमें उनका विशेष स्थान है। साधारण लोक-कथाओंकी तरह पौराणिक उपाख्यान निर्मित नहीं हुए हैं। उनमें हिन्दू जातिकी उच्चतम आकांक्षा व्यक्त हुई है। मानवताके सम्बन्धमें हिन्दू जातिने जहाँ गौरवकी पराकाष्ठा देखी है, वहीं उन्होंने उपाख्यानोंके द्वारा भिन्न-भिन्न पात्रोंके जीवनमें उस गौरवको प्रत्यक्ष करा दिया है। नीति और आदर्शकी शिक्षा हिन्दू समाजने उन्हींसे प्राप्त की है। पौराणिक पात्र एकमात्र कल्पनाके पात्र नहीं हैं। राम और सीता, सत्यवान और सावित्री, अर्जुन और सुभद्रा आदि पात्र हिन्दू समाजके चिरंतन पात्र बन गए हैं। श्री शोभाचन्द जोशीजीने लिखा है कि जिन पौराणिक कथाओंको अश्रु-हासके बीच आन्दोलित होते हुए पितामह मुझे सुनाया करते थे, वे मेरे जीवनका अभिन्न अंग बन गई हैं। उन्हें मिथ्या किंवदन्तियाँ कहकर भूल जाऊँ, यह शक्ति मुझमें नहीं है। यही बात हिन्दू समाजके सभी व्यक्तियोंके लिए कही जा सकती है। यह सच है कि आधुनिक युगमें अब बड़ा परिवर्त्तन हो गया है। यह भी सच है कि संघर्ष, अश्रद्धा और अविश्वासके इस युगमें हम लोगोंको इस बातकी तनिक भी चिंता नहीं है कि जोशीजीके पितामहके समान वर्तमानसे नितान्त भिन्न सतयुगके मनुष्योंके साथ हमारी मूल संस्कृतिका एक रंगीन भावनामय संसार भी तेजीसे लुप्त होता जा रहा है और ऐसा लगता है कि हम लोगोंकी कोई संस्कृति कदाचित् नहीं है। जोशीजीकी तरह कितने ही शिक्षित जन उस

समाजके सदस्य बन चुके हैं 'जिसकी नींव नहीं है—कोई संस्कृति नहीं है, कोई सभ्यता नहीं, जिसके विश्वासका कोई आश्रय नहीं है, जो समाज नास्तिक है; किसीके अस्तित्वपर विश्वास नहीं करता; ईश्वरपर नहीं, धर्मपर, धर्मशास्त्रोंपर, बड़े-बूढ़ोंपर, मनुष्यपर, अपने आपपर, किसीपर नहीं।' फिर भी पौराणिक आख्यानोंका प्रभाव सर्वथा विलुप्त नहीं हुआ है। जोशीजीने पौराणिक आख्यायिकाओंको, उनका लोकसम्मत रूप बदलकर अपनी नव भावनाओंके अनुसार परिवर्तित करके प्रस्तुत किया है। परन्तु यह उनका नया प्रयत्न नहीं है। कालिदास और भवभूतिके युगसे अभी तक कितने ही साहित्यकारोंने पौराणिक आख्यानोंको नए रूप दिए हैं। आधुनिक युगके प्रारम्भमें माइकेल मधुसूदन दत्तने रामायणकी कथाको परिवर्तितकर मेघनाद-वधकी रचना की। तबसे ऐसे ही नव आख्यान कितने ही लेखकोंके द्वारा निर्मित हुए हैं। जोशीजीकी इन आख्यायिकाओंके सम्बन्धमें श्री बनारसीदास चतुर्वेदीजीने यह लिखा है कि 'रूपर्षि लोक' के प्रत्येक रेखा-चित्रमें एक विद्रोहीकी आत्मा बोल रही है। लेखकद्वारा ब्राह्मणोंपर की गई चोटोंसे स्वयं हमारा तथाकथित ब्राह्मणत्व तिलमिला उठा है। परन्तु सच पूछिए तो जोशीजीने ब्राह्मणत्वके यथार्थ रूपपर आक्रमण नहीं किया है। उनके 'सप्तर्षि लोक' में वशिष्ठने कहा है कि हमें प्रजापतिने ब्राह्मण-देहरूपी जो क्षेत्र दिया है, वह इसीलिए कि हम इसमें सत्य, सौन्दर्य और शिवत्वकी सृष्टि करें। प्राचीन कालमें हम लोग साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्य किया करते थे। देशकी आत्माको अभिव्यक्ति प्रदान करना और ज्ञानका अमर आलोक विकीर्ण करना ही हमारा कर्त्तव्य था। इसीसे अपने पितामहके सम्बन्धमें उन्होंने लिखा है कि वे यथार्थमें ब्राह्मण थे: धर्मनिष्ठ, ईश्वर-भक्त, सत्यसंध, आकाशसे सिर लगाकर चलनेवाले। जोशीजीको स्वयं ईश्वरपर विश्वास नहीं, क्योंकि वे अपने आसपासकी दुनियामें ईश्वरके लिए कोई स्थान नहीं पाते; किन्तु अपने पितामहके ईश्वरको अस्वीकार करनेका साहस उन्हें नहीं होता। उन्हें ऐसा लगता है कि उनका ईश्वर और वह दोनों अविभाज्य थे।

विद्रोह और असंतोषकी उग्र भावना आधुनिक कथा-साहित्यके सभी तरुण लेखकोंमें देखी जाती है। जो उग्र भावना जोशीजीके 'सप्तर्षि लोक' में व्यक्त हुई है, वही परसाईजीकी रचनाओंमें भी प्रकट हुई है। परसाईजीकी कथावस्तुका आधार है यथार्थ जगत्। उन्होंने अपनी कहानियोंके सम्बन्धमें लिखा है : आदमीको मैंने जैसे हँसते और रोते देखा है, वैसा ही इन कहानियोंमें उतारा है। आदमीकी वास्तविक जिंदगीको कहीं छोड़ा नहीं है। थोड़ी उड़ान भरी है, तो उस पंछी-सी, जो दाना बीनने अड़ जाता है, पर फिर नीड़में लौट आता है; उस परिन्दे-सी नहीं, जो उड़ जाता है सो उड़ जाता है और घोंसलेकी सुधि नहीं रहती, केवल नीले आसमानकी रंगीनोंसे लुभाकर हरी-भरी जमीन छोड़ देनेकी मूर्खता हमसे करते नहीं बनती। उनके कथनका तात्पर्य यह है कि उन्होंने कल्पनाके मायालोकको छोड़कर यथार्थ जगत्का वर्णन किया है। उनके पात्र यथार्थ जगत्के पात्र हैं। परन्तु जीवनकी यथार्थता दुःख और दुराचारमें नहीं, सुख और सदाचारमें है। दुःख, अत्याचार, अन्याय जीवनकी विकृत अवस्थाके द्योतक हैं। आधुनिक कथा-साहित्यमें यथार्थताके नामसे बीभत्सताका चित्रण देखकर मनमें यही सन्देह होता है कि क्या सचमुच मनुष्यत्व विलुप्त हो गया है। जोशीजी और परसाईजी दोनोंकी कथावस्तुका आधार भिन्न-भिन्न है। पर दोनोंमें भावोंकी एक समता है। दोनोंका एक ही निष्कर्ष है। जोशीजीने अपने एक उपाख्यानमें लिखा है—'जितना अन्याय मनुष्योंके समाजमें होता है, उतना चराचर सृष्टिमें कहीं नहीं होता। दूसरे प्राणियोंको देखो, कहीं भेद-भाव नहीं है। दूसरोंके प्राणोंके मूल्यपर स्वयं जीनेकी भावना कहीं भी नहीं है। आवश्यकतासे अधिक भोजन, आवश्यकतासे अधिक स्थान कोई नहीं चाहता। उन वृक्षोंको देखो। सूर्यकी किरणोंका सब समान उपभोग करते, पृथ्वीसे सब समान रूपसे रस खींचते, उनमें कभी, कहीं, किसी गणतंत्रकी स्थापना नहीं हुई। एक विशेष प्रकारके कुत्तोंने अथवा विशेष प्रकारके घोड़ोंने यह कभी नहीं कहा कि उन्हें जो सुविधाएँ प्राप्त हैं, वे दूसरे प्रकारके कुत्तों अथवा घोड़ोंको नहीं प्राप्त हो सकतीं। ये अनेकों प्रकारके राजतंत्र और वाद-विशेष मनुष्यके अंतर्गत

स्वार्थपूर्त्तिकी भावनाओंके अनुभाव-मात्र हैं। ये डाकुओंके दल हैं, जो निःशस्त्र, निर्दोष व्यक्तियोंको लूटते हैं, इनमें सत्यता नाम-मात्रको भी नहीं। सत्य तो है मनुष्य, सत्य है मनुष्यता। प्रत्येक मनुष्य अपने आपमें सर्वतोमुखी संपूर्णता लिए हुए है। उसे किसी भी शासन-तंत्रकी आवश्यकता नहीं है।" परन्तु पूछना यह पड़ता है कि मनुष्यका वह सच्चा रूप है कहाँ? उसकी वह सर्वतोमुखी सम्पूर्णता है कहाँ! मनुष्यने स्वयं अपनी मनुष्यताको खो कैसे दिया? सभ्यताके विकासमें, ज्ञानकी प्रगतिमें, महात्माओंकी विद्यमानतामें भी वह सत्य विकृति कैसे हो गया? श्री परसाइजीने 'मैं नरकसे बोल रहा हूँ' शीर्षक कथाके अंतमें लिखा है कि जब भूखसे मरकर एक व्यक्ति स्वर्गमें पहुँचा, तब भगवानने उसकी कहानी सुनी और वे बोले—"मूर्ख कायर, तू कुत्तेसे भी हीन है। बेचारा कुत्ता दीवारको लाँघकर घुस गया और खा आया और तू आदमी कहलानेवाला हाय-हाय कहकर मर गया। क्या तू दीवार लाँघ नहीं सकता था? क्या तू दीवार तोड़ नहीं सकता था?" उस व्यक्तिने उत्तरमें कहा—"भगवन्, मैं वह दीवार कैसे तोड़ता, कैसे लाँघता? यह पाप न होता?" भगवान् बोले—"पाप-पुण्यके झमेलेमें पड़नेवाले कायर! वह दीवार क्या मेरी बनाई हुई है? तमाम दीवारें आदमियोंने खड़ी की हैं और तू उन्हें तोड़नेमें पाप-पुण्य देखता है। मूर्ख, तेरा कुत्ता ज्यादा समझदार है। वह घुस गया, खा आया और डंडेकी मारसे मरकर यहाँ आ गया। उसमें मनुष्यत्व है। मैंने तुझे बुद्धि दी है, हाथ-पैर दिये हैं, कार्यशक्ति दी है और तू अकर्मण्य, बुजदिल, कीड़े-सा मर गया। मनुष्योंने मुझे बहुत निराश किया। अब मैं कुत्ते ही कुत्ते निर्मित करनेका विचार कर रहा हूँ। तुम जैसे अकर्मण्य मूर्खको नरक नहीं तो क्या इंद्रासन मिलेगा?" 'भूखका स्वर' नामक कहानीके अंतमें लिखा गया है—"सब भूखे थे। शिक्षित इंसान भूखा, अपढ़ गँवार भूखा और पशु भी भूखा। परन्तु गाड़ीवानके दोनों बैलोंने रातको रस्सी तुड़ा ली और सेठ बादामीलालके खेतकी बाड़ी तोड़कर घुस गए। खूब पेट-भर अनाज और घास चरा। बादामीलाल उनको लिये काँजीहौसकी धमकी दे रहा था, पर दोनों बैल निश्चिन्त बैठे थे। चेहरेसे तृप्ति झलक रही थी। पेट खूब भरे थे। वे आनन्दसे जुगाली कर रहे थे। वे दोनों बैल बैठे

हँस रहे थे, पर शिक्षित इन्सान और अपढ़ दोनों मनुष्य खड़े-खड़े रो रहे थे।" जोशीकी तरह परसाईंजी ऐसे वर्गविहीन अराजक समाजमें विश्वास रखते हैं, जिसकी स्थापना प्रेम तथा पारस्परिक सहानुभूतिके आधारपर की गई है। पर व्यक्तियोंमें क्या वे विद्वेष, प्रतिहिंसा और अहंकार नहीं पाते हैं? उनका नियंत्रण कौन करेगा?

इसमें संदेह नहीं कि सभी कहानियोंके भीतर एक विशेष सत्य प्रदर्शित होता है; परन्तु वह ऐसे ढंगसे प्रदर्शित होता है कि जीवनमें हमें उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति-सी हो जाती है और तब हम उसे अनायास ही स्वीकार कर लेते हैं। प्राचीन कालके उपाख्यानोंमें नीतिकी एक विशेष शिक्षा सन्निहित है। परन्तु उनकी रचनाओंकी यह विशेषता है कि अपने जीवनमें उसकी अनुभूति हो जानेपर पाठकोंको उस नीतिकी महिमापर कोई संदेह नहीं रह जाता। तभी उन लोककथाओंका प्रचार बराबर होता रहता है। जिस सत्यकी अनुभूति हमें जीवनमें नहीं होती, उसे हम स्वीकार भी नहीं कर पाते। प्राचीन कालसे लेकर आज तक भिन्न-भिन्न युगोंमें भिन्नभिन्न आदर्शोंका प्रचार हुआ है। सभी युगोंमें आदर्शोंका संघर्ष होता आया है। उस संघर्षके मूलमें एक ही भाव विद्यमान है। वह है 'सु' और 'कु'का द्वन्द्व। मनुष्यमें क्षमता है और अक्षमता भी, उसमें देवत्व है और पशुत्व भी। उसमें प्रेमके साथ विद्वेष है, त्यागके साथ लोभ है। उसमें वासनाकी उद्दामता है और ज्ञानका संयम भी। इससे मनुष्य अपने बहिर्जगत् और अंतर्जगत्में सदैव कु और सुके द्वन्द्वका अनुभव करता है। वह सर्वत्र अपनी स्वार्थ-बुद्धिके कारण एक विषमताका अनुभव करता है और उस विषमताके भीतर भी प्रेम-भावनाके कारण एक समता पाता है।

यह बात नहीं है कि प्रकृतिमें द्वन्द्व नहीं होता। उसमें भी सर्वत्र एक संघर्ष है, सर्वत्र एक विषमता है। वह विषमता और संघर्ष केवल मानव-जगत् और पशु-जगत्में ही नहीं, वनस्पति-जगत्में भी विद्यमान है। सभी वृक्ष अपने-अपने विकासके लिए अन्य निर्बल वृक्षोंका विनाश करते हैं। सभी पशु अपनी-अपनी वृद्धिके लिए अन्य पशुओंके विनाशके साधन बनते हैं। मनुष्य भी अपनी वृद्धिके लिए वनस्पति-जगत् और पशु-जगत्पर अपना आधिपत्य स्थापित करता है। जीवनके तत्त्वपर सबका समानाधिकार है; चूहेका भी और सत्यका

भी। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि मनुष्य यह समझ बैठे कि जो चूहा उसका शत्रु है, उसे जीवित रहनेका कोई अधिकार नहीं? जोशीने 'अहंकारका जन्म' शीर्षक उपाख्यानमें लिखा है कि 'तूने यह क्यों नहीं सोचा कि परोपजीवी उस चूहेको नष्ट कर देना ही तेरा प्राकृतिक धर्म था? अहंकारके वश होकर दूसरेके परिश्रमके बलपर अपना उदर-पोषण करनेवाले प्राणीपर तूने दया क्यों की? मनुष्योंके शत्रुको तूने पाला-पोसा क्यों?' और फिर उसीके बाद उन्होंने लिखा है कि 'तूने ऐसे प्राणियोंकी सृष्टि की, जो एक-दूसरेको खा जाते हैं; तूने ऐसे जीव आविष्कृत किए, जो एक-दूसरेकी हिंसा करते हैं।' किन्तु यह विषमता तो तपोधनकी सृष्टि नहीं है, यह तो प्रकृतिकी सृष्टि है। यह सच है कि सबको भूख लगती है, सबको प्यास लगती है और सबको आश्रयकी आवश्यकता होती है; परन्तु यह भी सच है कि सबको इसके लिए एक विशेष क्षमताकी आवश्यकता होती है। प्रकृतिमें जो नियम देखा जाता है, वह यही है कि निर्बलोंको सबल खा जाते हैं। अपने-अपने अस्तित्वकी रक्षाके लिए सभीको समान रूपसे संघर्ष करना पड़ता है, हिंसा करनी पड़ती है। यही संघर्ष मनुष्य और पशुके बीच है। तब यदि वही मनुष्योंके बीचमें प्रकट हो, तो आश्चर्य क्या है।

जीवनकी जो चिरंतन धारा है, उसमें एक ओर जहाँ प्रगति होती है, वहाँ दूसरी ओर पतन भी अनिवार्य होता है। वृद्धिमें ह्रासके बीज विद्यमान रहते हैं। एक व्यक्तिके जीवनकी तरह एक जाति भी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंको अतिक्रमण कर मृत्युको प्राप्त हो जाती है। परसाईजीने जीवनकी कहानी लिखी है। उसमें उन्होंने जन्मकालसे लेकर मृत्युकाल तककी सभी बातोंको कुछ वाक्योंमें भी व्यक्त कर दिया है। मनुष्य शैशवावस्थाको अतिक्रमण कर क्रमशः तरुण, प्रौढ़ और वृद्ध होता है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें वह भिन्न-भिन्न भावोंका अनुभव करता है। उसकी भिन्न-भिन्न आकांक्षाएँ होती हैं, उसके भिन्न-भिन्न विचार होते हैं और सबके अंतमें केवल एक ही सत्य रह जाता है—वह सत्य है मृत्यु। जीवनकी चरम सार्थकता केवल मृत्युमें ही लक्षित होती है। उसीमें सारे उद्योगों और प्रयासोंका अंत हो जाता है। उसीमें सभी वासनाओंका लोप हो जाता है। विशेष क्षमताशाली व्यक्तिकी मृत्यु होती

है और सर्वथा अक्षम व्यक्ति भी मर जाता है। मृत्युके बाद दोनोंकी एक ही स्थिति हो जाती है। पर संसारकी गति रुद्ध नहीं होती। अनादि कालसे जीवनका चिरंतन प्रवाह आगे ही बढ़ता जा रहा है; परन्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंका विनाश होता ही जाता है। व्यक्तियोंके विनाशके साथ उनके द्वारा निर्मित समाज और राष्ट्रका भी विनाश अनिवार्य है। ऐसी स्थितिमें यह कहना सचमुच कठिन हो जाता है कि नीतिका वह कौन चिरंतन रूप है, जो जीवनमें सर्वत्र सुख, शान्ति और समताका विस्तार एक ही भावसे कर सके।

'सप्तर्षि लोक' में जोशीजीने पृथ्वीपर एक स्वर्गके निर्माणकी कल्पना की है। त्रिशंकुने विश्वामित्रके साथ मिलकर एक पार्थिव स्वर्गका निर्माण किया। इसी पृथ्वीपर, इसी देशमें एकांत जनपद खोजकर विश्वामित्र और त्रिशंकुने स्वर्गकी नींव डाली। देश-देशके किसान आये; क्योंकि वहाँ जिस धरतीको वे जोतते थे, उसके वही स्वामी माने जाते थे। असंख्य श्रमजीवियोंने वहाँ आकर नए-नए यन्त्रालय और उद्योगशालाएँ खोल दीं। उस जनपदमें उनके श्रमका शोषण नहीं होता था। समय और परिश्रमको वही मूल्य प्राप्त था, जो धनको। एक घड़ी कठिन परिश्रम करके, प्रत्येक श्रमजीवी, परिवारके उदर-पोषणके लिए पर्याप्त साधन बटोर लेता था। उस देशमें न तो कोई धनवान् था, न कोई निर्धन था। शक्तिका संचय किसी एक व्यक्ति अथवा वर्गके हाथमें नहीं था। प्रत्येक मनुष्य समाजके प्रति उत्तरदायी था, किन्तु वैयक्तिक विषयोंमें स्वतंत्र था। फिर भी उस स्वर्गका विनाश हो गया। जोशीजीने यह कल्पना की कि संप्रदायवादके प्रचारके कारण उस स्वर्गका नाश हो गया। परन्तु विचारणीय यह है कि संप्रदायवादकी यह भावना उनमें प्रकट ही कैसे हो गई? स्वर्गमें यह भेद ही क्यों हुआ? भेद बाहरसे नहीं, भीतर ही उत्पन्न होता है। मनुष्यके मनमें यदि भेदका बीज नहीं रहता, तो बाह्य शक्तिके द्वारा उसकी वृद्धि नहीं हो सकती।

सच्ची बात यह है कि व्यक्तिके साथ समाजका कैसा सम्बन्ध हो, यही जीवनकी चिरन्तन समस्या है। समाजके किसी शासनसे व्यक्तित्वकी सीमा निर्दिष्ट नहीं की जा सकती। व्यक्तिके मनोरथोंका अन्त नहीं है। जहाँ

कोई एक व्यक्ति होता है, वहाँ वह सबसे पृथक् हो जाता है। सभी व्यक्तियोंमें एक-सी क्षमता नहीं होती। अपनी अपनी क्षमताओंके कारण सभी अपने-अपने व्यक्तित्वके विकासके लिए विभिन्न रूपसे प्रयत्न करते हैं। संसारकी उन्नति कुछ असाधारण व्यक्तियोंकी क्षमतापर ही निर्भर रहती है। जो भिन्न-भिन्न संप्रदाय प्रचलित हुए हैं, उनके प्रचारक असाधारण क्षमतासे ही संपन्न कोई व्यक्ति थे। भिन्न-भिन्न संप्रदायोंके मूलमें विश्व-कल्याणकी ही भावना निहित थी। सभी प्रचारकोंने मनुष्यत्वकी सच्ची शिक्षा दी। क्या यह कहा जा सकता है कि किसी भी संप्रदाय या मतके प्रचारकने किसी एक स्वार्थके भावसे अपने मतका प्रचार किया? भगवान् बुद्धदेव और ईसा मसीहसे लेकर चैतन्य महाप्रभु, कबीर और महात्मा गाँधी तक सभी श्रेष्ठ व्यक्तियोंने एकमात्र मनुष्यके सच्चे हितके लिए नीतिका सुमार्ग निश्चित किया है। परन्तु उसी सुमार्गपर चलकर लोगोंमें पारस्परिक विद्वेषका भाव उत्पन्न हो गया। राजनीतिके क्षेत्रमें कितने ही वादोंकी प्रतिष्ठा हुई; परन्तु कुछ ही समयके बाद उनके द्वारा उन्नतिके स्थानमें पतनके ही चिह्न लक्षित हुए। राष्ट्रोंके अभ्युदय और पतनकी सबसे अच्छी व्याख्या जोशीजीके 'कुंभकर्णकी बात' शीर्षक उपाख्यानमें की गई है। कदाचित् 'सप्तर्षि लोक'के सभी उपाख्यानोंमें यही उपाख्यान सबसे अधिक प्रभावोत्पादक है। व्यक्तिकी असाधारण क्षमताके द्वारा किसी जातिकी उन्नति चरम सीमा तक पहुँच जाती है और फिर उसीके व्यक्तिवादके कारण उस जातिका पतन हो जाता है। राक्षसोंमें सबसे अधिक शक्तिशाली रावण था। इसी लिए वह उनका नेता बना। यदि उसमें शक्तिका अभाव रहता, तो उसे सभी राक्षस अनायास अपना नेता न मान लेते। लंकाका द्वीप रावणके पहले एक साधारण द्वीप था। वहाँ कोई राजा नहीं था। श्रमका समान भाग सबको देना पड़ता था और कृषिफलका समान उपभोग सभी करते थे। परन्तु एक क्षमताशाली व्यक्तिने अपनी क्षमतासे उनमें गौरवकी एक अदम्य भावना उत्पन्न कर दी। तीव्र महत्त्वाकांक्षाकी भावना समस्त जातिमें फैल गई और वह छोटा-सा द्वीप अस्त्र-शस्त्रोंका भीषण आगार बन गया। राक्षसोंकी असंख्य सेनाओंने समस्त विश्वपर आधिपत्य स्थापित कर लिया। इन्द्र पराभूत

हुआ। कुबेरकी निःशेष निधि लंकामें आ गई। वह सोनेकी लंका बन गई। उसकी दीप्तिके सम्मुख सूर्यका तेज भी निष्प्रभ हो गया; परन्तु उसी रावणके कारण लंका नष्ट भी हो गई। सभी जातियों और राष्ट्रोंके इतिहासमें उन्नति और पतनकी यही कथा देखी जाती है। ग्रीस और रोमके उत्थान-पतनमें यही बात स्पष्ट रूपसे लक्षित होती है। आधुनिक युगमें भी यही बात देखी जाती है। फ्रांसकी जनताने स्वेच्छाचारी राजाको विनष्ट कर दिया; परन्तु फिर अनायास ही नेपोलियनको अपना सम्राट् स्वीकार कर लिया। नेपोलियनकी विजय-यात्रासे सारा योरप काँप उठा, परन्तु नेपोलियनका पतन हो गया। आधुनिक युगमें भी समस्त जर्मनीने हिटलरके प्रभुत्वको स्वीकार कर लिया। उसीके कारण समस्त विश्वमें रणदेवीका ताण्डव-नृत्य हुआ। सभी प्रकारकी व्यवस्था होनेपर भी एक क्षमताशाली व्यक्तिके कारण सारी व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है। संसारकी सच्ची सत्ता जनताके हाथमें कभी नहीं रहती। वह किसी न किसी एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियोंके हाथमें पहुँच जाती है।

परसाईजीने 'क्रांति हो गई' शीर्षक कहानीमें क्रांतिकी विफलतापर जो व्यंग किया है, वह मानो 'सप्तर्षि लोक'का प्रत्युत्तर है। क्रांतिकी विफलतामें 'वृषादर्भि' की सफलता है। क्रांतिके प्रचारक सप्तर्षि दूसरे लोक चले गये और भूमण्डलपर व्यवसायीके रूपमें वृषादर्भि ही सफल हुआ। जोशीजीने 'सप्तर्षि लोक' नामक उपाख्यानमें लिखा है कि जनताकी भूखका दूसरा नाम क्रांति है। क्रांतिका वाहन है साहित्य। क्रांतिकी शत्रु है राजसत्ता। साहित्यकार जनताके विद्रोहको काव्योंमें मढ़ते हैं। लोकभावनाको राजसत्ता दबा नहीं सकती। फिर भी उसी लेखमें उन्हें यह लिखना पड़ा कि उन निकम्मे साहित्यिकोंको निकाल देना चाहिए, जिनके कारण साहित्य भी असत्यका वाहन हो जाता है। वे यदि भूखे मरते हैं, तो उन्हें मर जाने दो। संसारका कुछ भी नहीं बिगड़ेगा। किसानोंके हलोंकी नोकोंसे नया साहित्य अपने-आप फूट पड़ेगा। श्रमजीवियोंके हथौड़ेसे स्वयं ही साहित्यका निर्माण होने लगेगा। जो हजारों-लाखों बुद्धिजीवी राजसत्ताका आश्रय ग्रहण कर राजप्रासादमें बद्ध हैं, उन्हें चाहिए कि वे हाथोंमें फावड़े और कुदाला लेकर निकल पड़ें, कुएँ खोदें,

नहरें निकालें, एक-एक साहित्यिक दस-दस वृक्षोंको सींचे। पृथ्वी तृप्त हो धान उत्पन्न करेगी। परन्तु लेखकका यह अभिप्राय नहीं है कि सच्चे साहित्यकारोंका मानव-जीवनमें कोई काम नहीं है। उन्होंने कहा है कि ऐसे साहित्यकार अपने आदर्शोंका पालन करते हैं। जगत्में सत्य, सुन्दर और शिवत्वकी स्थापना करते हैं। अन्यायका विरोध और अत्याचारसे पीड़ित मानवताकी पुकारको क्रांतिकी शंखध्वनिमें परिवर्तित कर देते हैं। परसाईजीकी आख्यायिकामें कहा गया है कि एक बार अन्यायपीड़ित शोषित वर्गके अधिकारोंकी माँग एकदम उभर पड़ी। राजसत्ता इस क्रान्तिकी पुकारसे भयभीत हुई; परन्तु मंत्रियोंसे सलाहकर उन्होंने एक तरकीब निकाली। देशके तमाम अखबारोंमें एक बड़े व्यापारीका वक्तव्य छपा कि क्रांति होनी ही चाहिए। वह व्यापारी जनताका नेता हो गया। देशके तमाम व्यापारियोंको बुलाकर उसने अपने क्रांतिकारी दलकी स्थापना कर दी और फिर तमाम अखबारोंमें छपा कि क्रांति हो गई और जनताके सच्चे प्रतिनिधि क्रांतिकारी राज्यका प्रभुत्व हो गया। जनताने भी सोच लिया कि क्रांति हो गई। लोग निष्क्रिय हो गए। सब पहले जैसा ही चलता रहा, परन्तु जनता शांत थी: क्योंकि उसने मान लिया कि क्रांति हो गई। जनताका सुदर्शन चक्र सचमुच पराभूत हो गया। बात यह है कि जनता परप्रत्ययनेय-बुद्धि होती ही है। जनताके नामसे जो क्रांति की जाती है, उसमें एक वर्ग-विशेषका ही प्रभुत्व स्थापित हो जाता है। तभी तो जोशीजीके अश्वत्थामाने कहा है कि उग्र राष्ट्रवादिताके रूपमें मैं सभी देशों और जातियोंमें समा गया। मैं राजनीतिज्ञोंसे कहता हूँ कि बस अमर तुम्हीं हो, अपने देशको सदा युद्धके लिए कटिबद्ध रखो। वैज्ञानिकोंके द्वारा एकसे एक विनाशकारी यंत्रोंकी सृष्टि होती रहती है और मेरी प्रेरणासे विश्वव्यापी संहार होते रहते हैं। वह दिन निकट आ गया है, जब सम्पूर्ण जगत् एक संग्राम-स्थल बन जायगा और एक ही दिनमें विधाताकी समूची मानव-सृष्टि अपनी ही सुलगाई अग्निमें जलकर राख हो जायगी।

विश्वका इतिहास मानव-जातिके विकासका इतिहास है, पर इसी इतिहासमें अवनतिकी भी कथा है। यह नहीं कहा जा सकता कि आदिकालसे लेकर अभी तक मानव-जातिने प्रगति नही की है। भिन्न-भिन्न युगोंमें भिन्न-भिन्न

आदर्शोंका प्रचार भी हुआ और उनका लोप भी हो गया। परन्तु उन सभीके द्वारा भिन्न-भिन्न जातियों और राष्ट्रोंके उत्थान-पतनके बाद भी मानव-जातिकी प्रगति अवरुद्ध नहीं हुई है। वह आगे ही बढ़ती जा रही है।

श्रमके आधारपर जोशीजीके द्वारा त्रिशंकुकी जो स्वर्ग-सृष्टिकी कथा गढ़ी गई है, उसकी तुलना रवीन्द्र बाबूकी एक कथासे की जा सकती है। श्रमकी उपयोगिता और समताके आधारपर स्थित स्वर्गमें मनके सौन्दर्य-प्रेमके कारण भेद उत्पन्न हो जाता है। श्रममें जो सत्य है, वह सौन्दर्यमें नहीं है, और यह भी नहीं कहा जा सकता कि सौन्दर्यमें शिवत्व है। वह मनुष्यके मनमें ऐसी हलचल उत्पन्न कर देता है, जिससे उसके श्रमका स्वर्ग अस्त-व्यस्त हो जाता है। उस कथाका शीर्षक है 'स्वर्गमें भूल'। कर्मण्योंका एक ऐसा स्वर्ग था, जहाँ सब कुछ था, सिर्फ अवकाश नहीं था। वहाँ पुरुष कहा करते थे, दम लेनेकी फुरसत नहीं। स्त्रियाँ कहती थीं, मैं तो चली, काम पड़ा है। सभी कहते थे कि समयका मूल्य है। कोई भी यह नहीं कहता था कि समय अमूल्य है। उस स्वर्गमें एक अकर्मण्य पहुँच गया। उसने एक लड़कीके घड़े-पर एक चित्र बना दिया। उसमें कितने तरहके रंग थे और कितने तरहकी रेखाएँ। लड़कीने पूछा, उस चित्रका मतलब क्या है? वह बेकार बोला कि उसका कुछ भी मतलब नहीं। अपने जीवनमें पहली बार उस लड़कीने ऐसी चीज देखी, जिसका कोई अर्थ नहीं। इसके बाद उस बेकारने उस लड़कीकी वेणी बाँधनेके लिए रंगीन सूतोंका एक डोरा बना लिया। उस डोरेसे कुछ लाभ नहीं था, परन्तु तरह-तरहके डोरे तैयार होने लगे और तब आइना लेकर वेणी बाँधनेमें व्यस्त लड़कीका काम पड़ा रह जाता था और समय चला जाता था। वह बेकार युवक स्वर्गसे निकाल दिया गया, क्योंकि उसके कारण उस स्वर्गमें एक बड़ा भेद आ गया। तब वह लड़की भी उसीके साथ स्वर्ग छोड़नेके लिए तैयार हो गई। उस समय स्वर्गके लोगोंने एक घटना देखी, जिसका कोई मतलब नहीं।

संसारमें उपयोगिताके आधारपर कितनी ही वस्तुओंका मूल्य निर्दिष्ट होता है; पर ऐसी भी वस्तुएँ हैं जिनका मूल्य उपयोगितापर निर्भर नहीं है। बात यह है कि मनुष्यके मनकी एक ऐसी भी स्थिति होती है, जहाँ वह ऐसी

वस्तुओंका भी संग्रह करना चाहता है, जिनका कोई अर्थ नहीं, प्रयोजन नहीं और जिनसे कोई लाभ भी नहीं। कालिदासके मेघदूतसे अथवा शाहजहाँके ताजमहलसे संसारकी प्रगतिमें कोई विशेष लाभ नहीं होता। यदि आज वे दोनों नष्ट कर दिए जाएँ, तो संसारकी उन्नतिमें कोई बाधा भी न होगी। जो एकमात्र शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिमें संलग्न हैं, उन पशुओंके लिए न तो ताजमहलमें कोई गौरव है और न मेघदूतमें। कहा जाता है कि जब वानरोंको लंका-विजयके बाद तरह-तरहके रत्न बाँटे गए, तब उन्होंने उनको व्यर्थ समझकर फेंक दिया। किन्तु मनुष्य रत्नोंका संग्रह करता है, उनकी प्राप्तिके लिए कठिन प्रयास करता है। मोतीको पानेके लिए मनुष्य अपने प्राण देनेके लिए भी तैयार रहता है। उन रत्नों और मोतियोंका मूल्य मानव-जीवनमें कुछ भी नहीं, फिर भी उनके लिए मनुष्य-मात्रको जो एक अदम्य लालसा उत्पन्न हो गई है, उसीके कारण वे अमूल्य हो गए हैं। जो वस्तु जितनी दुर्लभ है, उसको प्राप्त करनेके लिए मनुष्य उतनी ही चेष्टा करता है। उसीमें वह अपने पुरुषार्थकी सफलता भी समझता है। केवल अर्थप्राप्तिके लिए कोई पर्वतारोही हिमालयके उच्चतम सिरपर नहीं चढ़ता। मनुष्योंके मनकी इसी विचित्र स्थिति-के कारण संसारमें सदैव एक अपूर्वता बनी रहती है। उसका अन्तर्जगत् बहि-र्जगत्से भी अधिक रहस्यमय बन जाता है। इसीसे यथार्थ जगत्से उसे तृप्ति नहीं होती। वह यथार्थ जगत्के अतिरिक्त कल्पनाका एक मायालोक निर्मित करता है। रवींद्र बाबूने अपने एक लेखमें लिखा है कि मनुष्यको विधाताने कहानियोंमें ही व्यक्त किया है। पशु-पक्षीका जीवन है आहार, निद्रा और संतान-पालन। मनुष्यका जीवन है कथा। कितनी वेदना, कितनी घटनाएँ, सुख-दुख, संयोग-वियोग, अच्छे बुरेके कितने घात-प्रतिघात होते रहते हैं। इच्छाके साथ इच्छाका, एकके साथ दसका, साधनाके साथ स्वभावका, कामनाके साथ कामनाका संघर्ष होनेसे कितना आवर्त्तन होता है। जिस प्रकार नदी जलकी धारा है, उसी प्रकार मनुष्य भी कथाका एक प्रवाह है। इसीसे हम एक-दूसरेसे पूछते रहते हैं: क्या हाल है; क्या खबर है; इसके बाद क्या हुआ। इसी, 'इसके बाद' से मनुष्यकी व्यथा गुथी हुई है। उसीको हम जीवनकी कहानी कहते हैं। उसीको हम मनुष्यका इतिहास कहते हैं।

प्राचीन कालमें कितने ही व्यक्तियोंने जन्म लिया और संसारमें कुछ दिन तक अपना सुख-दुखमय जीवन व्यतीत कर वे नष्ट हो गए। उनका सुख-दुख, उन्हींके साथ व्यतीत हो गया। उन्हें जाननेसे हमें कोई विशेष लाभ नहीं, परन्तु कथाके रूपमें वे सभी विद्यमान हैं। रावण और कुंभकर्ण, अश्वत्थामा और शिखण्डी, अकबर या औरंगजेब कल्पित हों अथवा ऐतिहासिक, उनके जीवनकी बातोंको जाननेके लिए हम लोग अभी तक व्यग्र रहते हैं। जो बातें इतिहासके लिए दुरधिगम्य हैं, उनको हम कल्पनाके द्वारा जाननेका प्रयास करते हैं। उनमें हम अपनी अनुभूतियोंको, अपनी इच्छाओंको, अपनी गौरव-भावनाओंको देखना चाहते हैं। जो यथार्थ है, यदि उसीसे हमें तृप्ति होती, तो हम कल्पनाका आश्रय लेकर कथाओंकी रचना न करते। कथाओंके मूलमें मनुष्यका जो सच्चा भाव प्रदर्शित होता है, वह मनुष्यके प्रति मनुष्यका सच्चा प्रेम है। यही कारण है कि देश, काल और जातिका व्यवधान होनेपर भी हम सर्वत्र साहित्यमें उसी मनुष्यत्वके कारण सभी कथाओंमें एक रसका अनुभव करते हैं। यथार्थ जगत्को यथार्थ रूपमें देख लेनेसे ही हमें संतोष नहीं होता। हम सभी लोगोंका अपना यथार्थ जीवन सीमाबद्ध होता है। हम सभी लोगोंके अपने सुख-दुख होते हैं, अपने कष्ट होते हैं, अपने प्रयास होते हैं, अपनी चिंताएँ होती हैं और अपनी-अपनी क्षुद्र बातोंमें हम सभी इतने अधिक व्यस्त रहते हैं कि उनसे अधिक महत्त्व हम अन्य लोगोंकी अन्य बातोंको नहीं दे सकते। इसीलिए व्यक्तिके लिए उसका सुख-दुख ही सबसे बड़ा सुख-दुख है। परन्तु कथाओंमें जब हम कल्पित पात्रोंके कल्पित सुख-दुखोंका वर्णन पढ़ते हैं, तब अनायास ही हम उन्हें अपना लेते हैं। यही सहृदयता मनुष्यत्व है, यही सबसे बड़ा सत्य है। उसीकी अभिव्यक्तिके लिए साहित्यकी सृष्टि होती है। उसीसे कथामें एक रस विद्यमान है।

परसाईजीने यथार्थ जगत्की यथार्थ बातोंका वर्णन किया है। उनका कहना है कि जहाँ उन्होंने हँसाना चाहा है, वहाँ पाठक अवश्य हँसेंगे और जहाँ रुलाना चाहा है, वहाँ जरूर रोवेंगे। परन्तु उनके व्यंग्यमें कटुता है, उपहासमें तीव्रता है और विकृत भावोंका विश्लेषण। कहीं भी जीवनका उल्लास नहीं है। सर्वत्र नैराश्य है। इसीसे उनकी कहानियोंको पढ़ते समय जीवनकी जिस

विषमताकी अनुभूति पाठकोंको होती है, उससे हँसनेके स्थानमें हमें विरक्ति होती है और रोनेके स्थानमें आत्मग्लानि। संसारमें सभी तरहकी घटनाएँ होती रहती हैं। 'पड़ोसीके बच्चे' शीर्षक कहानीमें जब रामाके लड़के बापका पाँव पकड़कर, धोती खींचकर एक पैसा चनेके लिए माँगते हैं, तब रामा उनको झटक देता है, तमाचा मारता है। चिल्लाता है: प्राण खाए जाते हैं, मर नहीं जाते। मनुष्यमें ममत्व है। इसीसे स्नेह है, प्रेम है, त्याग है और सहिष्णुता है। पर एक विशेष परिस्थितिमें वह उसको खो बैठता है। इसी प्रकार एक विशेष परिस्थितिमें धनका अभाव न होने पर भी उनकी पाशविक वासनाएँ उद्दीप्त हो जाती हैं। अर्थहीनता ही अनर्थ नहीं उत्पन्न करती, अर्थ भी अनर्थ करता है। ऐसी घटनाओंसे हम रोते नहीं हैं, हमको आत्मग्लानि होती है। इसी प्रकार 'भीतरका घाव' शीर्षक कथामें हम सासके भीषण दानवत्वकी बात पढ़ते हैं, तब मनुष्यत्वपर हम लोगोंका विश्वास ही नहीं रह जाता। तोता और मैनाकी पुरानी कहानियोंमें पुरुषों और स्त्रियोंके दुराचारोंका यथेष्ट वर्णन हो चुका है। पुरुषोंके दुराचारोंका अंत नहीं है और उसीके साथ स्त्रियोंके दुराचारोंकी भी अनन्त कथाएँ हैं। परसाईजीने 'क्या कहा' शीर्षक कहानीमें एक ऐसे युवकका वर्णन किया है, जिसने पाँच युवतियोंको अपने प्रेमपाशमें बद्ध कर लिया था। सभी युवतियाँ उसीको अपने इष्टदेवके समान सच्चा प्रेमी मान रही थीं। वह युवक ऐसा दुश्चरित्र था कि वह दूसरोंकी बहिन-बेटियोंपर सदैव निगाह डालता रहता था। यदि ऐसी घटनासे लोगोंको हँसनेके स्थानमें विरक्ति हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। उसी प्रकार 'साड़ीके रंगमें' एक युवक एक युवतीके सम्बन्धमें धोखा खा गया। उसके भ्रमको दूर कर उसके मित्रने समझाया कि प्रेम करनेका अलग आदमी होता है, शादीका अलग। स्त्री प्रेम जिससे करती है, शादी भी उसीसे करेगी, यह जरूरी नहीं। प्रेम हृदयकी भूख है, जो प्रेमीसे तृप्त हो जाती है; पर शादी तो जीवनका सौदा है। यदि यही सिद्धांत ठीक हो, तो हृदयकी भूख-को दूर करनेके लिए यदि कोई युवक पाँच-पाँच युवतियोंसे प्रेम करके भी तृप्त नहीं होता है, तो उसके लिए यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं होती। मनुष्यकी इच्छाओंका अंत न होनेके कारण संसारमें लोभ और वासनाकी

अनन्त लीलाएँ होती हैं। ऐसी कितनी ही घटनाओंका वर्णन किया जा सकता है, जिनमें परस्पर विरोधका भाव हो, पर उन घटनाओंके द्वारा मनुष्यत्वका कोई एक रूप निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता। अतएव जब कथाके द्वारा किसी भी व्यक्तिकी मानसिक विकृतिका वर्णन कर किसी सत्य सिद्धांतका प्रतिपादन किया जाता है, तब उसमें सत्यका एक विकृत रूप ही लक्षित होता है।

शोभाचंद जोशीजी और हरिशंकर परसाईजीके इन कथा-संग्रहोंमें तारुण्यकी एक दीप्ति अवश्य प्रकट हो रही है। उनमें एक नवव्यवस्था, एक नवसमाज और एक नवआदर्शके लिए अपूर्व उत्साह व्यक्त हो रहा है। उनकी रचनाओंमें विश्वासकी एक दृढ़ता है और भावोंका एक आवेग है। इसीलिए उनकी शैलीमें भी एक अपूर्वता आ गई है। साधारणतया कथाका जो रूप अभी तक लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकारोंकी कृतियोंमें देखा जाता है, उससे इन दोनोंमें भिन्नता है। 'सप्तर्षि लोक' की रचनाओंको विशुद्ध कथा-साहित्यकी कोटिमें रखना कुछ कठिन-सा मालूम होता है। श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदीने 'सप्तर्षि लोक' की कहानियोंको रेखाचित्र कहा है। स्वयं जोशीजी अपनी इन रचनाओंको उत्प्रेक्षामूलक कहानियाँ कहते हैं। उनमें घटनाओंका वर्णन नहीं है, चरित्रका चित्रण भी नहीं है, केवल भावोंका एक मार्मिक विश्लेषण है अथवा प्रबल उच्छ्वास है, मानों चिरसंचित मनोव्यथा फूट पड़ी हो। उसमें तर्क नहीं, आशंका नहीं, भावकी विशुद्ध अभिव्यक्ति है। उसीके अनुकूल उनकी भाषामें भी एक तीव्र प्रवाह है, एक ओज है। परसाईजीकी कहानियोंमें भी शैलीकी एक अपूर्वता है। 'मैं नरकसे बोल रहा हूँ' अथवा 'जीवनकी कहानी' अथवा 'लक्ष्य' अपने ढंगकी नई कहानियाँ हैं। उनकी भाषाकी भी अपनी एक विशेषता है और उसमें एक सरल, अकृत्रिम गति है। इसमें संदेह नहीं कि इन दोनों संग्रहोंके द्वारा हिन्दी कथा-साहित्यकी वृद्धि हुई है।

१४—कहानियोंकी श्रेष्ठता

(सामयिक पत्रोंमें अधिकांश रचनाएँ अपने युगके अनुकूल होती हैं और क्षणिक भी। ऐसी रचनाएँ लोकरुचिका अनुसरण करती हैं। उन्हींके साथ ऐसी भी रचनाएँ प्रकाशित होती हैं, जिनसे लोकरुचि परिष्कृत या परिवर्त्तित हो जाती है) अधिकांश श्रेष्ठ रचनाओंका उत्कर्ष भविष्य युगमें ही प्रकट होता है। अँगरेजीमें 'पो'की जिन कहानियोंकी अब विशेष प्रशंसा है, वे अपने युगमें आदर नहीं पा सकी थीं (हिन्दी कथा-साहित्यका अभी निर्माण-काल है) गत चौतीस-पैंतीस वर्षोंके भीतर ही मौलिक आख्यायिकाओंकी रचना होने लगी है। इस अल्प समयमें पाठकोंकी रुचिमें इतना परिवर्त्तन हो गया है कि प्रारंभमें जिन लोगोंने आख्यायिका-क्षेत्रमें प्रसिद्धि प्राप्त की थी, अब उनकी रचनाएँ आदरणीय होनेपर भी लोकप्रिय नहीं रहीं। श्रेष्ठ कहानियोंके जो संग्रह हिन्दीमें प्रकाशित हो रहे हैं, उन्हें देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार नए लेखक पुराने लेखकोंका स्थान ले रहे हैं। पन्द्रह वर्ष पहले हिन्दीकी श्रेष्ठ कहानियोंमें जो कहानियाँ स्थान प्राप्त कर चुकी थीं, वे अब नए संग्रहोंसे हटा दी गई हैं। उसके स्थानमें नए लेखकोंकी नई रचनाओंको स्थान दिया गया है। कौन कह सकता है कि कुछ समयके बाद हिन्दीकी वर्त्तमान श्रेष्ठ कहानियोंको भी अपना स्थान न खो देना पड़े?

कथा-साहित्यके सम्बन्धमें सदैव एक मत-वैपरीत्य देखा जाता है। स्वयं लेखक भी एक ही भावसे प्रेरित होकर कहानियोंकी रचना नहीं करते। अँगरेजीमें एक ऐसा संग्रह प्रकाशित हुआ है, जिसमें लेखकोंने स्वयं चुनकर अपनी श्रेष्ठ कहानियाँ दी हैं। परन्तु पाठकोंके लिए वह संग्रह सचमुच श्रेष्ठ कहानियोंका संग्रह नहीं है। एक बार 'साहित्य-सन्देश' में हिन्दीके प्रमुख

कहानीकारोंने अपनी सर्वश्रेष्ठ कहानीके सम्बन्धमें अपने विचार व्यक्त किये थे। श्री वृन्दावनलाल वर्माने लिखा था—मैं अपनी कहानियोंमें सबसे अच्छी 'कलाकारका दण्ड' समझता हूँ। उसका कारण उन्होंने यह बताया था कि उस कहानीके द्वारा उन्होंने ग्रीक और आर्य मूर्त्ति-कलाके मौलिक अंतरको मूर्त्त करनेका प्रयत्न किया है। साधारणतया कथा-साहित्यके प्रेमी पाठकोंके लिए यह बात अत्यन्त गौण है। कहानीमें वे कथा-रसकी अनुभूति चाहते हैं, ग्रीक और आर्य मूर्त्तिकलाकी विशेषताका ज्ञान नहीं। कहानियोंके द्वारा उन्हें कौतूहल होता है, विस्मय होता है, भिन्न-भिन्न भावोंकी अनुभूति होती है और कहानी पढ़ लेनेके बाद वह उनके हृदयपर ऐसी अंकित हो जाती है कि वे उसे सहसा नहीं भूल पाते। परन्तु स्वयं श्री वृन्दावनलालजी वर्माने एक विशेष उद्देश्यसे अपनी कथाका निर्माण किया था। उस उद्देश्यमें जब उन्होंने सफलताका अनुभव किया, तब उन्होंने अपनी उस रचनामें श्रेष्ठत्व देखा। श्री रावीजीका कथन है कि अपनी सम्पूर्ण कहानियोंमें मैं अपनी 'अलगोजेवाला' कहानीको ही सर्वश्रेष्ठ पाता हूँ, क्यों कि इस रचनाको मैंने अपने जीवनकी एक कल्पना-मूलक दूरव्यापी स्मृतिके रूपमें अनुभव किया है। उग्रजीकी सम्मति है कि रसाल वृक्षकी तरह किसी भी रससिद्ध कथाकारकी एक नहीं, शतशत अमृत रचनाएँ होती हैं। फिर भी उनकी रायमें उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी 'चाकलेट' है। जैनेन्द्रजीको अपनी सभी कहानियोंमें 'नीलमदेशकी राजकन्या' और 'लाल सरोवर' नामक कहानियाँ सबसे पहले याद आईं। उनका कथन है कि शायद दोनों मुझे निकट भी हैं। मुख्य कारण यह जान पड़ता है कि दोनों ही असम्भव कहानियाँ हैं। कुछ भी उनमें सम्भवनीय नहीं है। कहीं चेष्टा नहीं है कि यथार्थका भ्रम पैदा किया जाय, मानो पहले ही डुग्गी पीटकर बता दिया जाता है कि यह गढ़न्त है। वस्तुतथ्य उसमें नहीं है। मुझे लगता है कि ऐसी कहानी जो वास्तविकताका आधार ही नहीं है, अधिक आयु पा सकती है। वास्तवपर जो सर्वथा निर्भर है, उस कहानीको चलते समयके साथ मर जाना चाहिए।

कहानीके सम्बन्धमें जैनेन्द्रजीने अपनी यह जो सम्मति दी है, उसमें उन्होंने यथार्थवाद और आदर्शवाद दोनोंका अतिक्रमण कर कल्पनाके विशुद्ध माया-

लोकमें कथा-साहित्यके अस्तित्वको स्वीकार किया है। प्राचीन कालसे लेकर आज तक कथा-साहित्यका जो निर्माण हो रहा है, वह यथार्थमें उस कल्पनाका विलास है, जिसका कोई अन्त नहीं है। अपने जीवनकी जो अनुभूति होती है, वह देश और कालसे बद्ध रहती है। वह किसी एकके लिए यथार्थ होने पर भी अन्यके लिए यथार्थ नहीं होती। जहाँ केवल अपने ही जीवनकी सच्ची अनुभूति है, वहाँ सुख और दुःख दोनों ही संकीर्ण हो जाते हैं। उनमें व्यापकता नहीं रहती। एक व्यक्तिका दुःख समस्त मानव जातिका दुःख जब तक नहीं होता, तब तक वह कथा-साहित्यमें स्थान नहीं पाता। जब हम कथाके किसी कल्पित पात्रके कल्पित सुख-दुःखकी कल्पित घटनाओंसे द्रवीभूत होते हैं, तब हम व्यक्तित्वकी क्षुद्र सीमाको लाँघकर मनुष्यत्वके सच्चे भावको अपना लेते हैं। यथार्थ जगत्में जो घटनाएँ होती रहती हैं, उनपर कब किसकी दृष्टि जाती है? जहाँ स्वार्थका सम्बन्ध नहीं है, वहाँ केवल एक उपेक्षाका ही भाव विद्यमान रहता है। कल्पना-जगत्में स्वार्थकी वह सीमा नष्ट हो जाती है। कथा-जगत्के कल्पित पात्र हमारे यथार्थ जगत्के अपरिचित व्यक्ति नहीं रहते, जिनके सुख और दुःख दोनों हम लोगोंके लिए उपेक्षणीय होते हैं। कल्पना-जगत्में ही यह संभव है कि हम विशुद्ध मानवताका अनुभव कर कल्पित पात्रोंको भी चिरपरिचित सहचरकी तरह अपना लें। विचार-धाराओंकी इन्हीं विभिन्नताओंके कारण भिन्न-भिन्न कहानियोंसे भिन्न-भिन्न पाठकोंको भिन्न-भिन्न रसोंकी अनुभूति होती है। तब क्या यह कहा जा सकता है कि पाठकोंकी रसानुभूतिपर ही कहानियोंका श्रेष्ठत्व निर्भर है? श्री शिवपूजनसहायजीने तो इसी बातको स्वीकार किया है। उनका कथन है कि जिन कहानियोंको अधिकसे अधिक सहृदय जनोंने पसन्द किया है, उन्हींको मैं सुन्दर और उत्तम समझता हूँ। रचनाकी उत्तमताका असली प्रमाण लोकमत ही है। जो अधिकांश लोगोंको रुचे, वही श्रेष्ठ रचना है।

कथाएँ लोकप्रिय अवश्य होती हैं। लोकप्रिय साहित्यकी उत्तमताके सम्बन्धमें लोकमत उपेक्षणीय नहीं हो सकता। परन्तु आधुनिक कथा-साहित्य इतना अधिक विस्तृत हो गया है और अब उसमें इतना अधिक भाव-वैचित्र्य आ गया है कि सभी प्रकारके पाठकोंको सभी प्रकारकी कहानियाँ रुचिकर नहीं

होतीं। लोकरंजन अथवा लोकशिक्षाके अतिरिक्त अब मानव-जीवनकी सर्वांगीण परीक्षामें भी आख्यायिका-कलाकी विशेषता देखी जाती है। किसी एक घटना अथवा एक चरित्रकी विशेषताका ही वर्णन उसमें नहीं किया जाता। उसमें एक-एक भावका सूक्ष्म विश्लेषण किया जाता है। उसमें मनोविज्ञानके साथ समाज-विज्ञानकी गम्भीर विवेचना की जाती है। सभी भाषाओंकी आधुनिक कहानियोंमें अब समाज-नीतिकी परीक्षाके लिए मानवीय भावोंकी यथार्थता प्रदर्शित करनेके लिए प्रयत्न किया जाता है। आधुनिक कथा-साहित्य एकमात्र कल्पनाका विलास नहीं है। उसमें अब तर्क है, विज्ञान है और दर्शनकी जटिलता है। पर उसमें सब कुछ होने पर भी पाठकोंके लिए जो बात मुख्य होती है, वह है उनका मनोरंजन, फिर वह चाहे क्षणिक हो या स्थायी।

आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्यमें कथाका जो नव रूप विकसित हो रहा है, उसे हम तीन लेखकोंकी कृतियोंमें स्पष्ट रूपसे देख सकते हैं। एक हैं श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, दूसरे हैं श्री यशपाल और तीसरे हैं श्री कृष्णचन्द्र। ये तीनों नवयुगके कथा-साहित्यके प्रतिनिधि लेखक कहे जा सकते हैं। इनकी अपनी-अपनी शैली है, पर उद्देश्यमें कोई भिन्नता नहीं है। श्री रामवृक्ष बेनीपुरीने अपने 'चिताके फूल' नामक कथा-संग्रहमें लिखा है कि अपनी इन सात कहानियोंमें मृत्यु और संहारकी विभीषिकाओंको ही मैंने कलात्मक रूप देनेकी चेष्टा की है। किन्तु इनमें ढँकनेकी कोशिश कहीं नहीं, बल्कि उभारनेका ही प्रयास है। हम इन विभीषिकाओंको देखें, समझें और अपने समाजको ऐसा नया रूप देनेकी चेष्टा करें, जिसमें हमें ऐसे दृश्य न देखने पड़ें। श्री कृष्णचन्द्रजीने 'मेरे दोस्तका बेटा' शीर्षक कहानीमें लिखा है—मेरे दोस्त, मैं जानता हूँ कि मेरी कहानीमें वह आनन्द नहीं है, जो शराबके पेग, इमसाककी गोली और वेश्याकी ठुमरीमें होता है। लेकिन मैं क्या करूँ? मैंने अभीतक अपनी कहानीको काले बाजारमें नहीं बेचा है, जहाँ तुमने मेरे देश, राजनीतिक शहीदोंके मान और बहिनोंके मानको बेचकर शक्करकी मिल खड़ी की है। मैं भी अपनी कला बेचकर तुम्हारे जीवनपर शक्करका आवरण चढ़ा सकता हूँ, परन्तु मैं ऐसा नहीं कर सकता। क्योंकि मेरे सामने तुम्हारा बेटा है और मेरी कहानी उसके नए जीवनके लिए लड़ रही है। श्री यशपालजीने

अपने 'तर्कका तूफान' नामक कथा-संग्रहमें अपनी कलाके आधारकी विशद विवेचना की है। उनका कथन है—अतीतमें मनुष्यने जो विवेक और तर्क अपने क्रिया-कर्मके विषयमें किया, वह उस समयकी परिस्थितियोंके अनुकूल उचित ही था। परन्तु परिस्थितियाँ बदल गईं और बदल रही हैं; इस स्थूल-वास्तविकतासे किसने इनकार किया है और कौन ऐसा कर ही सकता है? अतीतमें मनुष्यको मनुष्य होनेके नाते अपनी परिस्थितियोंके अनुकूल विवेक और तर्कका अधिकार था। आज उसका यह अधिकार क्यों छीन लिया जाय? मनुष्य बने रहनेकी उसकी भावनाका दमन क्यों किया जाय? और फिर जब मैं सौन्दर्यकी खोज करता हूँ, तो उसे केवल तृप्तिमें पाता हूँ। स्थूल या अस्थूल पदार्थोंके तृप्ति दे पानेके गुण और सामर्थ्यमें ही उनका सौन्दर्य है। इस नाते सौंदर्यकी कामना केवल जीवनकी कामना ही दिखाई पड़ती है और सौंदर्यकी रचनाके लिए कलाकी साधना जीवनमें पूर्त्ति और विकासका प्रयत्न-मात्र है। यह तो स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न उद्देश्योंको भी लेकर जो कहानियाँ लिखी जाती हैं, उन सबमें कलाका कोई विशेष सौष्ठव रहता है। तभी उनसे पाठकोंको कथा-रसकी अनुभूति होती है। विचारणीय यह है कि कथाका यह रस क्या कथावस्तुपर निर्भर रहता है अथवा आख्यायिकाकारकी कथावस्तुके निरूपणकी उस कुशलतापर, जिसके कारण कथाओंके कल्पित पात्रोंके जीवनमें भी हम यथार्थता पाते हैं। मानव-जीवनमें प्रेम और विद्वेष, लोभ और लालसाके भावोंके कारण सभी कालोंमें एक संघर्ष-सा होता रहता है। युग बदल जाता है, परिस्थितियाँ बदल जाती हैं; पर मानवीय भावोंका वह संघर्ष बना ही रहता है। भिन्न-भिन्न देशोंमें भिन्न-भिन्न रीति-नीतियोंके प्रचारके कारण मानव-जीवनमें भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। पर मानवीय भावोंकी एक-सी ही गति सर्वत्र देखी जाती है। अतएव भिन्न-भिन्न देशोंकी आख्यायिकाओंमें मानवीय भावोंकी जो लीलाएँ प्रदर्शित होती हैं, उनमें एक सादृश्य लक्षित होता है। उसीसे यह विदित हो जाता है कि मनुष्यत्वका सच्चा रूप कथाओंमें किस प्रकार प्रदर्शित हुआ है।

यशपालजीके 'तर्कका तूफान' नामक कथा-संग्रहमें 'निर्वासिता' नामक

एक कथा है। उस कथाका मर्म यह है : इन्दु सक्सेना नामकी एक युवती थी। उसमें रूपका सर्वथा अभाव था। उसकी उपमा थी कुरूपके लिए। कालेजमें आदर पानेके लिए उसके पास एक ही उपाय था, कठोर परिश्रम। उज्ज्वलता और प्रतिभाने चेहरेपर स्थान न पा, इन्दुके मस्तिष्कमें आश्रय पाया था। परीक्षामें वह अपनी श्रेणीमें सबसे प्रथम आती थी। माता-पिताने उस लड़कीके लिए गृहस्थका संसार बसानेके सभी यत्न किए, पर उन्हें सफलता न मिली। प्रतिभा-संपन्नके लिए एक मालिक खरीद, बेटीको जीवन-भर नर-पशु द्वारा रुँदवाना उन्हें स्वीकार न था। इन्दुने एम० ए० पास किया, प्रथम रहकर। वह बंबईके एक कालेजमें प्रोफेसर हो गई और वहाँ वह आत्मनिर्भर सम्मानित नागरिक बनकर रहने लगी। ज्ञानके पथमें कठिन परिश्रम करनेके कारण उसे विश्राम लेनेकी आवश्यकता हो गई। वह पी-एच० डी० हो गई थी। सफलता और सन्तोषके विश्वाससे उसका मन सान्त्वना पाता था। परन्तु एक दिन मालीकी एक बातने उसको व्याकुल कर दिया। मालीने कहा—अब इन पौधोंमें फूल थोड़े ही खिल सकते हैं। यह तो बुढ़ा गए, बेकार हो गए। कोई पेड़-पौधा, पशु.....क्या इन्सान सदा एक-सा ही थोड़ा बना रहता है। पुरानेसे नया पैदा होता है। सिलसिला आगे चलता है। इन्दु सोचने लगी—मैं सिलसिलेकी टूट गई कड़ी हूँ। उसे ऐसा जान पड़ा कि स्वावलम्बी और आत्मनिर्भर बनकर भी जीवन निराश्रय हो रहा था। पुरुषके बिना वह असहाय है। वह एक परिचित विद्वान्के पास गई और उससे कहा—मैं संतान चाहती हूँ, इसीलिए आपके पास आई हूँ। संभ्रांत पुरुषके ऊँचे माथेपर पसीनेकी तरावट झलक आई। उसने कहा—ऐसा मंत्र और वरदान दे सकनेकी शक्ति मुझमें नहीं। तिरस्कृत और अपमानित होकर इन्दु अपने होटलकी ओर लौटी। पुरुषकी संकीर्णता और अहंकारसे उसका मस्तिष्क जलने लगा। पुरुषकी सेवा और शक्तिको उसने जब चाहा तब खरीदा था, पशुकी भाँति उसका उपयोग किया था। उसने नोटोंका बंडल उठा लिया। सुबह उठते ही दो नौकरोंने इन्दुकी शिकायत होटलके मालिकसे की और प्रमाणमें नोटोंको पेश कर दिया। होटलके मालिकने तुरन्त ही इन्दुको होटलसे बाहर निकल जानेकी आज्ञा दी। इन्दुने कुलियोंके सिरपर

असबाब उठवाए और फिर सिरका आँचल सँभालती हुई वह सड़कपर चली गई।

प्रेमकी वासना नारीके जीवनमें सर्वथा स्वाभाविक है। रूपके अभावसे स्त्रीको प्रेमी नहीं मिलता। परन्तु इन्दुकी उपर्युक्त कथामें नारीका जो भाव प्रदर्शित हुआ है, उसे सभी पाठकोंको सहसा आत्मसात् कर लेनेमें कुछ कठिनता अवश्य होगी। इन्दुकी तुलना गोर्कीकी टेरसासे की जा सकती है। टेरसा पोलैंडकी स्त्री थी। स्त्रियोंको कुरूपा कहना औचित्यकी सीमाके बाहर है। तो भी वह ऐसी नहीं थी कि किसी पुरुषका चित्त उसकी ओर आकृष्ट हो। वह एक होटलमें रहती थी, जहाँ एक नवयुवक विद्यार्थी रहता था। उसे देखकर उस विद्यार्थीको कुछ डर-सा भी लगता था। परन्तु टेरसा उससे कभी-कभी दो-चार बातें कर ही लेती थी। उस नवयुवक विद्यार्थीको टेरसाके प्रति घृणाका भाव हो गया था। परन्तु वह अपना कमरा बदलना नहीं चाहता था। इसीलिए टेरसाकी सभी बातें उसे चुपचाप सह लेनी पड़ती थीं। एक दिन टेरसा उसके कमरेमें पहुँच गई और उससे अपने एक प्रेमीके लिए पत्र लिखाया। उस नवयुवक विद्यार्थीको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—कबसे तुम्हारा उससे परिचय हुआ है? टेरसाने कहा—छः सालसे। उस नवयुवकने पत्र लिख दिया। दो सप्ताहके बाद टेरसा फिर आई और उससे प्रार्थना की कि वह उसके प्रेमी बोल्सकी ओरसे टेरसाको पत्र लिख दे। वह विद्यार्थी उसका मतलब नहीं समझ सका। अंतमें टेरसाने कहा—बोल्स कोई नहीं है। परन्तु कोई ऐसा ही आदमी रहता, जो मुझे वैसा ही चाहता। तब उस नवयुवककी समझमें सब बातें आ गईं। उस कुत्सित नारीको कोई नहीं चाहता। इसीसे उसने एक प्रेमीकी कल्पना कर ली है और उसी कल्पित नायकसे पत्र-व्यवहार कर रही है। टेरसाने कहा—घड़ी भर मैं इसी कल्पित मोहमें रहती कि कोई मेरा भी खयाल रखता है। टेरसाके इस मनोभावको जानकर उस नवयुवक विद्यार्थीकी तरह सभी पाठकोंकी सहानुभूति उसके प्रति हो जाती है।

इसी कथा-वस्तुको लेकर अँगरेजीके एक लेखक बेट्सने भी एक कहानी लिखी है। उसकी भी गणना विश्वकी श्रेष्ठ कहानियोंमें की जाती है। उसमें लोमास नामक एक ऐसी ही स्नेहवंचिता स्त्रीकी कथा वर्णित हुई है। उस

कथाका मर्म यों है : मिस लोमासकी अवस्था लगभग चालीस वर्षकी थी। वह समुद्र-तटपर एक बोर्डिंग हाऊसमें ठहरी हुई थी। वहीं मिस्टर सैंडरसन नामक एक व्यक्ति आया। वह भी वहीं रहने लगा। उस बोर्डिंग हाऊसमें उन दोनोंके अतिरिक्त और कोई तीसरा व्यक्ति नहीं था। फिर भी मिस लोमास और सैंडरसनमें कभी बातचीत नहीं होती थी। वह सदैव उदास भावसे चुपचाप एक स्थानमें बैठी रहती थी। सैंडरसनको उसके सम्बन्धमें एक कौतूहलका भाव था। वह सोचा करता था कि मिस लोमास है कौन, वह क्या करती है और उसमें क्यों इतना विरक्तिका भाव है। उसी बोर्डिंग हाऊसमें एक नवयुवती काम करती थी। उसका नाम था फ्रेडा। मिस्टर सैंडरसनने थोड़े ही समयमें उससे विशेष परिचय प्राप्त कर लिया। एक बार वह मि० सैंडरसनके साथ घूमनेके लिए गई। उसीने मिस्टर सैंडरसनको बतलाया कि चार सालसे मिस लोमास शीत ऋतुमें यहाँ आया करती है और उसी तरह विरक्ति-भावसे अपना जीवन व्यतीत करती है। फ्रेडा और सैंडरसनमें एक प्रकारसे प्रेमका-सा सम्बन्ध हो गया। एक बार मिस लोमासने मिस्टर सैंडरसनसे कहा—आपका इस तरह फ्रेडासे छिपकर मिलना और घूमना ठीक नहीं है। मिस्टर सैंडरसनने उससे पूछा—तब आप क्या चाहती हैं? उसने तीव्र स्वरमें उत्तर दिया—क्या आप यह आशा करते हैं कि मैं आपको यह बात बतलाऊँ? जब सैंडरसनने यह बात फ्रेडाको बतलाई तब फ्रेडाने कहा—वह बूढ़ी बिल्ली है, और दोनों बैठकर खूब हँसने लगे। इसके बाद मिस लोमासने स्वय सैंडरसनसे क्षमा माँगी। फ्रेडाको जब यह बात मालूम हुई, तब उसने सैंडरसनसे कहा—तुम उसे एक बार सिनेमा चलनेके लिए कहो। देखो तो वह क्या कहती है। एक तमाशा होगा। सैंडरसनने दूसरे दिन मिस लोमासको सिनेमा चलनेके लिए कहा। मिस लोमासने उसका निमंत्रण स्वीकार कर लिया। सिनेमामें वह कुछ अशांत-सी, विक्षुब्ध-सी हो गई। परन्तु पूछने पर उसने कहा—नहीं, नहीं, मेरे लिए तो वह बहुत ही सुखद समय था। दूसरे दिन फ्रेडाको सैंडरसनने सब बातें बतलाईं। फ्रेडाने हँसकर कहा—जान पड़ता है कि वह तुम्हारे प्रेम-पाशमें बद्ध हो गई है। पर अब तुम उसे अपने साथ मत ले जाना, नहीं तो मुझे ईर्ष्या होने लगेगी। सैंडरसनने कहा—मिस लोमासके साथ एक बार जाना ही

जीवन-भरके लिए पर्याप्त है। इतनेमें उसने सहसा देखा कि मिस लोमास दरवाजेके पास खड़ी हुई है। पन्द्रह दिन तक सैंडरसन और वहाँ ठहरा। उसे ऐसा जान पड़ा कि मिस लोमासमें एक परिवर्तन हो गया है। उसकी दृष्टिमें घृणा, संशय और नैराश्यके भाव आ गए हैं। वह घर लौटकर आ गया। कुछ दिनोंके बाद उसको फ्रेडाका एक पत्र मिला। उसमें लिखा था कि मिस लोमासने आत्महत्या कर ली है।

मिस लोमासके साथ इन्दुकी तुलना करनेपर ऐसा जान पड़ता है कि जहाँ यशपालजीने इन्दुकी कथा समाप्त कर दी है, वहीं उस स्नेह-वंचित नारीके जीवनका लक्ष्य भी सचमुच समाप्त नहीं हो जाता है। होटलमें साधारण नौकरोंके द्वारा तिरस्कृत और अपमानित होने पर क्या उस नारीके हृदयमें अपमानकी वेदनाके कारण एक उग्र प्रतिहिंसाका भाव उत्पन्न नहीं हुआ होगा? इन्दुमें सौन्दर्यका अभाव था। परन्तु यदि उसमें सौन्दर्य रहता, तो क्या यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उसका जीवन प्रेमसे प्रताड़ित ही न होता? प्रेमचंदजीने कुसुम नामकी एक कहानी लिखी है। उसमें कुसुम अपने पतिद्वारा परित्यक्त हो गई। उसका कारण यह नहीं था कि कुसुममें रूपका अभाव था। बात यह थी कि कुसुमका पति यह चाहता था कि कुसुमके पिता उसे विद्यार्जन करनेके लिए इँग्लैंड भेजते। कुसुमके पिताने जब यह बात सुनी, तब वे उसे रुपये देनेके लिए तैयार हो गए। परन्तु कुसुमने उसे स्वीकार नहीं किया। उसने कहा—जो आदमी इतना स्वार्थी, इतना दंभी और इतना नीच है, उसका मुँह भी मैं देखना नहीं चाहती। मैंने स्वतंत्र रहनेका निश्चय कर लिया है और उसमें स्वावलम्बनकी आश्चर्यजनक दृढ़ता आ गई। क्या इन्दुने कभी अपने हृदयमें नारी-जीवनके अन्य किसी गौरवका अनुभव नहीं किया? क्या उसने पुरुषसे प्रणय-याचनामें अपने उस स्वाभिमानके ह्रासका अनुभव नहीं किया होगा, जिसने उसे ज्ञानके पथमें इतने दिनों तक प्रेरणा दी?

यशपालजीमें कथाकारका कौशल अवश्य विद्यमान है। उन्होंने निर्वासिताकी कहानीमें भी कथा-रसका अभाव नहीं होने दिया है। परन्तु जिस तर्कको उन्होंने अपनी कला-साधनाका आधार बनाया है, क्या उसकी कसौटी-

पर इन्दुके जीवनकी यथार्थता कसी जा सकती है ? इन्दुके समान ज्ञानके क्षेत्रमें पुरुषोंको पराभूत करनेवाली स्त्रीके सम्बन्धमें यही बात अधिक संभव प्रतीत होती है कि छात्रावस्थामें अपने सहपाठी विद्यार्थियोंके द्वारा तिरस्कारका पात्र होने पर उसने पुरुष मात्रको सदैव अवज्ञाकी दृष्टिसे देखा होगा। अपने पद और ज्ञानके गौरवके कारण उसने अवसर पड़ने पर पुरुषोंको स्वयं तिरस्कृत किया होगा। कितने ही युवक उसके तिरस्कारसे विक्षुब्ध हुए होंगे। उन्होंने परस्पर इन्दुके इस भावकी चर्चा की होगी और तब किसी युवकने उसका दर्प दलन करनेके लिए प्रतिज्ञा की होगी। उसी एक उद्देश्यसे उस युवकने इन्दुको किसी प्रकार वशीभूत करनेके लिए प्रयत्न किया होगा। नारी-हृदयकी दुर्बलता उससे छिपी न होगी और उसने प्रेमका ऐसा अभिनय किया होगा कि धीरे-धीरे उसने इन्दुके हृदयपर अधिकार कर लिया होगा। उसके बाद जब इन्दुको उसकी प्रेम-प्रवंचनाका ज्ञान हुआ होगा, तब जीवनके प्रति उसे इतनी विरक्ति हो गई होगी कि उसने या तो लोमासकी तरह आत्महत्या कर ली हो या आजीवन पुरुष मात्रसे घृणा करती रही हो।

मानव-जीवनमें प्रेम और वासनाकी लीलाएँ अत्यन्त साधारण हैं। पुरुषोंकी वासनाओंका लक्ष्य होने पर स्त्रियोंको विशेष यातनाका अनुभव करना पड़ता है। प्रेमकी सबसे बड़ी परीक्षा त्याग और कष्टमें ही है। यदि त्याग और कष्टका अवसर आने पर प्रेम विचलित हो गया, तो उसमें एक हीनता अवश्य आ जाती है। यह बात नहीं है कि परिस्थितिमें पड़कर स्त्रियाँ प्रेमपथसे विचलित नहीं हो जातीं। पुरुषोंके सम्बन्धमें यह अवश्य देखा जाता है कि उनमें प्रेमका स्थायित्व नहीं रहता। प्रेममें भी पुरुषका ही प्रभुत्व बना रहता है। अधिकांश विपथगामिनी नारियोंके सम्बन्धमें यही बात देखी गई है कि पुरुषोंके द्वारा उन्हें धोखेमें पड़कर परिस्थितिकी विवशतासे कुपथ स्वीकार करना पड़ता है। परिस्थितिकी यह विवशता एकमात्र सामाजिक दोषके कारण नहीं उत्पन्न होती। व्यक्तिके चरित्र और पौरुषकी हीनतापर भी वह निर्भर रहती है।

'चिताके फूल' नामक कथा-संग्रहमें श्री रामवृक्ष बेनीपुरीने 'भिखारिनकी थाती' नामक एक कहानी लिखी है। उसमें ब्रजेश नामक एक युवकने एक

भिखारिनकी छोटी बच्चीके लालन-पालनका भार ले लिया। भिखारिनकी मृत्युके बाद वही एक सच्चे पिताकी तरह उसकी देखभाल करने लगा। लोग जब उससे पूछते कि वह बच्ची आपकी कौन होती है, तब ब्रजेश जवाब देता—धरोहर। उन्होंने उसका नाम नीलिमा रखा। जब एक मित्रने कहा कि आपने ऐसी खूबसूरत लड़कीका नाम नीलिमा क्यों रख दिया, तब ब्रजेशने उत्तरमे कहा—मैं तो उसका नाम कालिमा रखने जा रहा था, क्योंकि यह बताती है कि आपके समाजके चन्दनसे घोए मुखचन्द्रपर कलंककी कालिमा कहाँ है। यह गोरी लड़की नहीं है, आपके समाजकी काली पताका है, और पताका जितनी ऊँची फहरे, उतना अच्छा। समाजकी उस काली पताकाकी कथाका सारांश यह है : ब्रजेश बाबूकी बहिनकी ससुरालमें उनकी नौकरानीकी एक बेटी थी। उसका नाम था सुगिया। वह बड़ी सुन्दर थी। यही कारण था कि गाँवके नवयुवक उसे फँसानेकी कोशिशें करते। परन्तु एक दिन सुकुमार नामक एक युवकने उससे यह प्रस्ताव किया कि अगर सुगिया राजी हो, तो वह उसे अपनी अर्धांगिनी बनानेको तैयार है। प्रेम क्यों कोई बन्धन माने? काशी जाकर सुकुमारने एक दिन आर्यसमाज-भवनमें सुगियासे शादी कर ली। वह कालेजमें पढ़ता था। बापने जब उसके विवाहका संवाद सुना, तब वह आगबबूला हो गया। उसने सुकुमारको लिखा—तुमने मेरी नाक काट ली। तुम मेरे कोई नहीं हो। सुकुमार इसके लिए तैयार ही था। वह अपनी माँसे काफी पैसे झटक लाया था। उन्हीं पैसोंसे वह एक मकान लेकर रहने लगा और उसकी पढ़ाई भी चलने लगी। सुगिया सुकुमारकी खूब सेवा करती थी। जब बापसे आर्थिक सहायता मिलना बंद हो गया, तब खर्चका चलना मुश्किल हो गया। सुगियाने अपनी माँकी धरोहरसे काम लेना शुरू किया। वह गर्भवती हो गई। उसने देखा कि उसकी बातोंका असर सुकुमारपर अजीब पड़ने लगा है। वह अपने मनमें तर्क-वितर्क करने लगी कि क्या वह केवल सौन्दर्यका ही लोभी था? सुकुमार कालेजके शोहदे लड़कोंके साथ बाहर रहने लगा। वह शराब पीने लगा। शोहदोंकी उस मंडलीने सुगियाका यथेष्ट अपमान किया। किसीने उसको धक्का दिया। वह बेहोश होकर गिर पड़ी। उसने होश आने पर गंगामें डूब मरनेकी कोशिश की, परन्तु डूब न सकी। उसने अपने चेहरेको

स्वयं बदरूप बना लिया, जिससे वह फिर किसी मनचलेके फेरमें न पड़ जाय। किसी तरह भीख माँगती हुई वह अपना जीवन-यापन करने लगी। कुछ दिनोंके बाद उस कम्बख्त सुकुमारकी दो थातियाँ प्रकट हुईं। एक भयानक बीमारी और दूसरी एक बच्ची। जब वह मरने लगी, तब ब्रजेशने उसे विश्वास दिलाया कि बच्चीके लिए वह चिंता न करे। उसके लालन-पालनके लिए किसी सुकुमारकी शरण लेनेकी जरूरत नहीं है। इसका जिम्मा मेरा—दुनियामें कोई वादेवाला भी मर्द होता है, सुगिया। कथाकी यहीं समाप्ति हो जाती है।

सुगियाकी इस कथामें क्या एकमात्र समाजका दोष है अथवा सुकुमारकी चरित्रहीनताका? जो सुकुमार केवल अपने पिताकी ही सम्पत्तिके बलपर अपनी वासनाकी पूर्ति करना चाहता था, उसमें पौरुषका अभाव ही था। उसका दोष समाजका दोष नहीं कहा जा सकता। यह संभव है कि यदि सामाजिक प्रथाके अनुसार भी उसका विवाह हुआ होता, तो सम्पत्तिके अभावमें वह अपनी उस पत्नीको भी छोड़ देनेमें नहीं हिचकता। सुगियाने प्रेमकी दृढ़ता अवश्य प्रकट की। यदि वह चाहती तो अपने रूपके बलसे अन्य किसी पुरुषको सुकुमारसे परित्यक्त हो जानेके बाद आकृष्ट कर लेती और अपना जीवन उसी प्रकार सुखमय बना लेती, जिस प्रकार कृष्णचन्द्रजीकी गुलबानो अथवा रामप्यारी अथवा मिस सूफियाने बना लिया। उनकी कथा कृष्णचन्द्रजीने 'मेरे दोस्तका बेटा' शीर्षक आख्यायिकामें लिखी है। एक खान साहबने एक गिरी हुई तेज स्वभावकी लड़कीको एक सजे-सजाए घरमें रख लिया था। वे उसके घरद्वारका सारा खर्च पूरा करते थे। उन्होंने उसका नाम गुलबानो रख छोड़ा था। खान साहबने उसे रुपया दिया, परन्तु प्रेम बिलकुल नहीं दिया। एक दूसरे व्यक्तिने खान साहबके बाद गुलबानोको अपने घरमें रख लिया। वे भी बहुत धनाढ्य थे। उन्होंने गुलबानोका नाम रामप्यारी कर दिया। रामप्यारीके घर एक बेटा पैदा हुआ। तब रामप्यारीके शरीरमें उस व्यक्तिके लिए कोई आकर्षण और अनुराग न रहा। वे उसे छोड़कर चले गये। तब एक अन्य बड़े अमीर सेठ ब्रगांजाने उसको स्वायत्त कर लिया। तब वह रामप्यारी न रहकर मिस सूफिया हो गई। परिस्थितिकी यही विवशता कृष्णचन्द्रजीकी 'सुदामा भगत' शीर्षक कथामें प्रदर्शित हुई है। सुदामा भगत

जेल चला गया था। जब वह कैद हुआ था, तब उसकी स्त्री सुषमा कई बार उससे मिलनेके लिए आई थी। सुदामा सुषमाकी आर्थिक दशासे अधिक चिंतित नहीं था। सुषमाके माता-पिता अच्छे खाते-पीते लोग थे। जब एक सालके बाद सुषमाके माँ-बापने सुषमाकी सहायता करनेसे इनकार कर दिया, तब सुषमाने उसे विश्वास दिलाया कि वह अकेली ही तो है। किसी प्रकार मेहनत-मजदूरी कर अपना पेट भर लेगी और अपने पतिकी बाट जोहती रहेगी। जेलसे छूटनेके बाद जब सुदामा बम्बई गया, तब उसने अचानक देखा कि एक स्त्री धानी साड़ी पहने, बालोंमें सुगंधित तेलोंकी बेनी सजाए, एक बच्चा-गाड़ीको ढकेलती हुई जा रही है। सुदामाने पहचान लिया। वह सुषमा ही थी। प्रसन्नताकी एक तेजसी लौ उसके चेहरेपर आई। वह सुषमाके पीछे दौड़ा। सुषमा एक ऊँचे मकानके पोर्चमें पहुँच चुकी थी। भागते-भागते सुदामा भी उसी पोर्चमें पहुँच गया और मुसकराते हुए उसके सामने जा खड़ा हुआ। सुषमाने उससे कहा—अच्छा, तुम्हें सेठ प्रद्युम्नलालने भेजा है। ऊपर आ जाओ। सुषमा आगे बढ़ गई। सुदामा मुसकराया—मुझे पहचानती नहीं है। जब सुदामा ऊपर पहुँचा, तब सुषमाने बाहर आकर कहा—हमें एक मजबूत नौकर चाहिए। तुम तो बीमार मालूम होते हो। सुदामाने एक पग आगे बढ़कर कहा—सुषमा! सुषमाका मुँह खुलेका खुला रह गया। तब एक सेठने आकर उसको यथार्थ स्थिति समझा दी। उसका नाम था किसनलाल। उसने कहा—तुम्हारी बीवी भूखी थी। अब वह घरवाली है। यह बच्चा भी मेरा है अर्थात् तुम्हारा है, क्योंकि कानूनकी दृष्टिसे मैंने इससे विवाह नहीं किया है। तुम बीमार हो। मैं तुम्हें किसी पहाड़पर भेज देता हूँ। कहो, कितनेका चेक दे दूँ? सुषमा समीप आकर हाथ जोड़कर बोली—मुझे क्षमा कर दो। मैं भूखी थी, बिलकुल भूखी थी। सुदामा नीचे उतर आया। एक पुलिस कान्सटेबिलने उसको पब्लिक सेफ्टी एक्टके अनुसार फिर पकड़ लिया और वह चुपचाप उसके साथ चला गया।

पाठकोंकी सहानुभूति उस सुदामाके प्रति होती है, जिसके प्रेमका सुखद स्वप्न भंग हो गया है। प्रेमकी जिस भावनाके कारण जेलके कष्टमय जीवनमें भी वह एक शान्ति और सन्तोषका अनुभव करता था, उसके विनष्ट होते ही

उसके लिए संसार ही निस्सार हो गया। परन्तु जिस सुषमाने अपनी इज्जत बेचकर अपने जीवनकी रक्षा की थी, उसके प्रति क्या पाठकोंकी सहानुभूति नहीं होगी? परिस्थितिकी विवशताके कारण जब वह सेठ किसनलालके मनोविनोदका खिलौना बनी, तब क्या उसके हृदयमें कोई अंतर्द्वन्द्व नहीं उठा होगा? एकमात्र बाह्य स्थितिपर ही तो जीवनकी यथार्थता नहीं रहती। अंतःस्थितिमें जो यथार्थता रहती है, वह अन्य लोगोंके लिए अलक्षित होनेपर भी बाह्य स्थितिसे अधिक महत्ता रखती है। तभी तो जीवनके अंतर्द्वन्द्वमें मनुष्यत्वकी सच्ची परीक्षा होती है। वही अंतर्द्वन्द्व कथामें प्रदर्शित होनेपर कल्पित पात्रोंके जीवनमें मनुष्यत्वका सच्चा रूप प्रदर्शित करता है।

मनुष्यके जीवनके साथ उसकी कथाका भी निर्माण होता रहता है। सभी लोगोंकी अपनी-अपनी जीवन-कथाएँ होती हैं। विश्वकी रंगभूमिमें हम सभी दर्शक हैं और स्वयं अभिनेता भी। हम दूसरोंका अभिनय देखते हैं और दूसरे हमारा। ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है, जो अपनी जीवन-कथाका स्वयं नायक नहीं होता। दूसरोंके लिए जो केवल कथा मात्र है, वही किसी एकके लिए जीवनका कटु सत्य भी है। कौन कहानी सबसे अच्छी होती है? वही जो कालरिजके बूढ़े नाविककी भाँति हमको मंत्र-मुग्ध कर आकृष्ट कर ले। कहानियोंके द्वारा हमें नीतिकी शिक्षा दी जाती है। कहा जाता है कि विष्णुशर्माने छः महीनेके भीतर ही 'पंचतंत्र'की कहानियोंके द्वारा सर्वथा मूर्ख राजकुमारोंको नीतिकी ऐसी शिक्षा दी कि वे नीति-शास्त्रमें पारंगत हो गए। 'पंचतंत्र' की कहानियोंको हम अभी तक पढ़ते हैं। पढ़कर उनसे हमें एक तृप्ति भी होती है, एक रसका भी अनुभव होता है। पर उस नीतिके तत्त्वको क्या हम उन राजकुमारोंकी तरह आत्मसात् कर पाते हैं, जिसके कारण उन कहानियोंका महत्त्व है? कहानियोंके द्वारा हमें जीवनकी यथार्थताका ज्ञान कराया जाता है। पर उसे हम कल्पित पात्रोंमें देखते हैं।

कृष्णचन्द्रजीका कथन है कि उनकी कहानियोंमें शराबके पेगकी तरह आत्मविस्मृतिकी स्थिति उत्पन्न करनेका भाव नहीं है। उनमें जो भाव है, वह आत्मविस्मृतिके स्थानमें आत्माको और झकझोर देता है। वह कल्पना-जगत्की मोहावस्थाको दूर कर यथार्थ जगत्की कटुताको और अधिक प्रत्यक्ष करा देता

है। ऐसी कहानियोंके द्वारा आख्यायिकाकार पाठकोंको कुछ सोचने समझने और करनेके लिए भी प्रेरित करता है। यहीं उसकी कलाका सच्चा सौष्ठव प्रकट होता है। मनुष्योंके जीवनमें इच्छाका कभी अन्त नहीं होता। एक अवस्थामें जो बात उन्हें स्पृहणीय हो जाती है, वही दूसरी अवस्थामें तिरस्करणीय। इच्छाओंके संघर्षके कारण जीवनमें चिरंतन समस्याएँ उत्पन्न होती रहती हैं। मनुष्य स्वयं उन समस्याओंका समाधान करता है और फिर अपने लिए नई समस्याएँ उत्पन्न कर लेता है।

जो श्रेष्ठ आख्यायिकाकार होते हैं; वे मनुष्योंके सच्चे मनोभावका विश्लेषण कर उनको यथार्थ रूपमें अंकित करते हैं। वे मनुष्योंकी क्षमताको पहचानते हैं और अक्षमताको भी। उनमें सहानुभूतिकी इतनी विशालता रहती है कि वे किसी भी स्थितिमें एकमात्र बाह्य परिस्थितिपर ही ध्यान देकर मनोभावोंकी उपेक्षा नहीं करते। इसीसे सच्चे भावोंकी सच्ची अभिव्यक्तिमें ही कलाका सच्चा सौष्ठव प्रदर्शित होता है। जो कथावस्तु कही जाती है, उसमें सच्चे भावोंकी सच्ची अभिव्यक्ति रहती है। वही मुख्य वस्तु है। भावके अनुकूल जब रूपमें सजीवता उत्पन्न हो जाती है, तभी कोई कथा मर्मस्पर्शिणी हो जाती है। कहा जाता है कि 'माइ डार्लिंग' नामक कथा आधुनिक युगकी श्रेष्ठ कहानी है। उसकी नायिकाने भी श्री कृष्णचन्द्रजीकी 'रामप्यारी' की तरह एकके बाद एक कई पति स्वीकार किए। पर उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें व्यङ्ग तिरस्कार और आक्षेपके स्थानमें सरल भावोंकी सच्ची अभिव्यक्ति हुई है। जब कहानीके श्रेष्ठत्वपर विचार किया जाता है, तब सत्यकी सच्ची अनुभूतिमें ही आख्यायिकाकी विशेषता लक्षित होती है। इसीलिए हिन्दीके सुप्रसिद्ध आख्यायिका-लेखक श्री सुदर्शनजीसे जब यह पूछा गया कि उनकी श्रेष्ठ कहानी कौन है, तब उन्होंने कहा—मेरी सर्वश्रेष्ठ कहानी वह है, जो अभी लिखी नहीं गई। जब लिखी जायगी, तो बता सकूँगा कि वह क्यों मेरी सर्वश्रेष्ठ कहानी है।

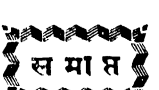

नाम-सूची

[**इस सूचीमें देशी-विदेशी लेखकों, उनकी रचनाओं और उनमें आये हुए पात्र-पात्रियोंके नाम वर्णानुक्रमसे दिये गये हैं**]

अकबर २२८, २६२, २७९
अचला ७०
अज्ञेय २५, ८२, ८६, १२४, १३३, १४९, १५१, २०५, २०६, २१४
अधखिला फूल ३९, ४८
अन्ना करीना ९०, १७४
अनन्त १७८
अनातोले फ्रांस ६९
अप्टन सिन्क्लेअर १६५
अमृतलाल ४४
अमरनाथ ६५, ६६
अमेरिका १६३
अर्जुन २६७
अरक्षणीया ६९
अलका २२१
अलगोजेवाला २८३
अलिफ लैला ३१, २६३
अलेक्जेंन्डर डयूमा २२८, २४३
अश्क २०५, २०६, २१३
अशोक ४९, २२८
आखिरी दाँव १६६
आगामी काल ६०, ६१, ६७, ६९
आनेकी आशामें ६०
आप्टे २१, ४९
आर्नोल्ड बेनेट २१८
आम्रपाली, अम्बपाली २४४
आरव्योपन्यास ३५
आलेख्य ६५, ६६
आस्टिन जेन ११०, २४९
आँखकी किरकिरी २४, ७०, १९५, २००, २१९
औरंगजेब २७९
अंकिल टाम्स केबिन १६३, २३८
अंचल २२, १८१, १८२, १८९, १९०, १९५, २०४, २०५, २०६, २१३, २६०
इगोइस्ट १५१, २१०
इन्दु ६५, ६६
इन्दुमती १३८, १३९, १४०, १५९, २८८, २९०
इन्दु सक्सेना २८७
इन्द्र २७४
इन्द्रदेव ९५
इब्सन ८१
इलाचंद्र जोशी १७२, १८२ १८४, २०६, २१४, २१८, २१९
ईश्वरचंद्र विद्यासागर ६९
ईसा-मसीह १०४, १९६, २७४

इंग्लैण्ड २०, ५०, ६२, ९१, १६३, २१२, २३८, २४१, २९०
उपाध्याय हरिऔध ३९
उमानाथ १५४, १५५
उग्र १८, ८९, ९०, ९७, १०८, १०९, १५१, २८३
उर्मिला १७५
उल्का १७८, १७९, १८२, १८४, १८५
उल्कापात १२४
उसकी माँ २५५
उषा १९१
एककौड़ी ६७, ६८
ए० कानन डॉयल ५, २७, २८, २९, ३०
एच० जी० वेल्स १२०, १२१, १३०, १४८, २६४
ए० जी० गार्डिनर १२९
एडिनवर्ग २७, २८
एथेन्सका सत्यार्थी २५५
ओ हेनरी २५९
क्या कहा २८०
कंकाल ७, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३, ९७, १२४, १८४
कथा-सरित्-सागर ३१
कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी १९५
कपाल-कुंडला २२८
कबीर १७६, २७४
कमल १२५
कमल-किरण ६५, ६६
कमला ३३, ५८, २१३
करुणा २२९
कर्मभूमि ६३, ६८
कल्याण-संघ ६७
कलाकारका दंड २८३
कृष्णकांतका दानपत्र ६९
कृष्णचन्द्र २८५, २९३, २९५, २९६
काजलकी कोठरी १०८
कादम्बरी १९, ६०, १५९
कान्त ११२, ११३
कापड़िया, प्रोफेसर २०३
कार्टन २४२
क्राइम एंड पनिशमेंट १०९, १७४
क्रामवेल १७
कालिदास १२१, २६८, २७८
कालिदास कपूर ८९
काशीनाथ ५४
कालेरिज १७
किशोरी ९२, ९३, ९४, ९५, ९६
किशोरीलाल गोस्वामी ३९, ९७, १०८
किसन २१७, २१८
किसनलाल २९४
कीट्स १०
क्रीमिया २८
कुबलाखाँ १७
कुम्भकर्णकी बात २७४
कुमार-संभव ५६
कुरुक्षेत्र २२९
कुसुम २
केकी २०३

कौशिक २५६, २६०
खन्ना ७३
खँगार-नरेश, हुरमतसिंह २३०, २३१
खँगारों २३०
गजपति २२८
गजराज बाबू ३२
गजाधर ७१
गढ़-कुंडार २३०, २३९
गंधमादन २२८
गया ३३
ग्रीक २८३
ग्रीस ९, २७५
गाँधीजी ६३, १४६, २७४
ग्राम-गीत-संग्रह ३३
गिरती दीवारें १२४, १७८
गिरिजा २१७, २१९, २२३
गीता-रहस्य ४९
गुणेन्द्र १९४
गुलबानो २९३
गुलबिया २१६, २१७, २१९
गृहदाह ७०, १७४, १८२
गैल्सवर्दी २०, ६३
गोगोल २०
गोदान ७३
गोपालराम गहमरी २७, ३८, २६९
गोर्की २०, ६३, २८८
गोरख-धंधा २७
गोरा २११
गोविंददास सेठ १३८, १३९, १५९
गोविंदराम २७
ग्वालियर २३९
ग्वालियर-नरेश २३५
गोस्वामी तुलसीदास ८५
घर-बाहर ५०, ६९, ११६, ११७, १४०
घरौंदे २०७, २१३
चतुरसेन शास्त्री २४३, २६१
चरित्र-हीन ६२
चलते चलते १२४, १३३
चाकलेट २८३
चिताके फूल २९१
चूडामणि २६२
चूसी गँड़ेरी १
चेस्टरटन १२१
चेतन १७८
चैतन्य महाप्रभु २७४
चन्द्रकांता ३२, ३३, ३८, ३९, ४०
चन्द्रकांता-संतति ३३, ३४, ३८, ४०
चन्द्रदेवसे कुछ बातें २६४
चन्द्रनाथ ५४
चन्द्रशेखर २२८
छत्रसाल ४९
जगन्नाथ पण्डितराज ३२, १२०
जलधर दादा ५६
जागरण ६०, ६१, ६३, ६५, ६६, ६८, ६९
जॉनसन ५२, २५३
जार्ज इलियट ४१, ८१
जितेन ११८
जीवनकी कहानी २८१

जीवन-प्रभात २२७
जीवन-संध्या २२७
जेनी २००, २०१
जुमेलिया ४०
जुलेखा २२८
जोसेफ २८१
जैकेल २४७
जैनेन्द्र १७, २५, ४८, ५०, ८८, ९७, १०२, १०३, १०५, ११०, १११, ११७, ११९, १२९, १५१, २०५, २०६, २५५, २८३
ज्वालादत्त शर्मा २५६, २५८, २६१
टालस्टाय ४२
टेढ़े-मेढ़े रास्ते १४९, १५३
टेरसा २८८
टेस ७२
ट्रेजर आइलैंड ३०
डायना एण्टोनिया २०१
डाल्स हाउस ५६
डिकिन्स ४१, २२८
डेविड कॉपर फील्ड २४०
तर्कका तूफान २८६
ताजमहल २७८
तितली ८८, ९५, ९६
तिलिस्म २७
तीन वर्ष २१३
तोता-मैना ९०
त्यागपत्र ९७, १७८, १८४
थार्न डाईक २७
दयानाथ १५४, १५५
दयानंद सरस्वती ७१
दलिनी बेगम २२८
दशकुमार-चरित १९, १५९
दादा कामरेड ११६, १३२
दासबोध ४९
दिनकर २२९
दिल्लीका दलाल ८९
दिव्या २२७, २४४, २४५, २४६
दुर्गेशनंदिनी २२८
देव १०
देवकीनंदन खत्री २७, ३२, ३८, ४१, ६०
देवदास ४६, ७०, १०१
देवराज डा० २०५
देवी चौधरानी १६०, १९०
देवीदयाल चतुर्वेदी २१९, २२०
दोधारा ५४
दो नगरोंकी कथा २४२
द्विवेदीजी (महावीर प्र०) १६, १०४
द्विजेन्द्रलाल राय ४९
नदीके द्वीप ७५
नयन गांगुली ६४
नरमेध १८१
नरेश ११८
नलिनी २१२, २१३
नव आरब्योपन्यास ३७
नवकुमार २२८
नवनिधि २३३
नवाबजादी २६१

नवीन १०४
नागदेव २३०
नागपुर रेडियो २१
निर्मला ४४
निगला १७, ९६
निर्वासित १८४
नीलम देशकी राजकन्या २८३
नीला १७९
नेपोलियन ८८, २४९, २७५
नोआखाली २२२
नौकाडूबी ५८, १६०, २१२
नोरा ५६
नंददुलारे वाजपेयी ५, ७, ५७, ८९, १०२
पड़ोसीके बच्चे २८०
पत्र-साहित्यकी महत्ता ५६
पथ-कुपथ १२४
पथके दावेदार ५०
पथ-निर्देश १९७, २००
पद्मा ९१
परदेकी रानी २०७
परसाई हरिशंकर २६६, २६९, २७०, २७१, २७२, २७५,-२७६, २७९, २८०, २८१
परीक्षागुरु ४८
पारसनाथ २०७
पिलात १०४
पु सुंग लिंग २२
पूर्णा ४४
पो २७, २८२
पोलैंड २८८
पृथुसेन २४५
प्रताप १४३, २२८
प्रतापनारायण मिश्र ३९
प्रद्युम्नलाल २९४
प्रभाकर माचवे २०५, २०६
प्रभात बाबू ३९
प्रभानाथ १५४, १५५, १५६
प्रवाह २१९, २२०, २२२
प्रसाद १७, ८८, ९७, १०३, १०४, १८२, २५५, २६१, २६२
प्रास (मिस) २४३
प्रेत और छाया २०७
प्रेमचन्द २२, ३३, ३८, ४८, ५७, ६०, ६३, ६९, ७२, ७४, ७८, ९०, ९१, १०३, १४०, १४२, १४७, १८२, १८३, १९५, २०५, २०६, २३२, २४८, २५५, २५६, २९०
प्रेमा ४४
प्रेमाश्रम ७१, ७२, ७५
पंच तंत्र २९५
पंच-परमेश्वर १४७
पंत १७, १०४
फादर ब्राऊन १६
फील्डिग २०
फ्रांस १६, १७, २४२, २७५
फ्रेडा २८९
ब्लैक ब्यूटी २३९
बच्चन १८

बन्जा ९५
बनारसीदास चतुर्वेदी ५०, २६८, २८१
बम्बई १६६, २१५, २५९, २९४
बर्नार्ड शा ८१, ९०, १२१, १३०
बरकत १६६
बहता पानी १२४
बाथम ९४
बादशाह ३५
बायरन (लार्ड) १८
बालचन्द्र शाह ४९
बिजली २६४
बिहारी ७०
बुढ़ापा २६५
बुन्देले २३०
बुन्देलखण्ड २३०
बूढ़े निमाई ६४
बेट्स ८८
बेंसन १८६
बेनेट २०
बेल (डा०) २८, २९, ३०
बेविट ५०
बोझा ५०
बोल्शेविक ६६
बोल्स २८८
बॉवेरी ९०, १६०
बंकिम ३६, ३८, ३९, ४८, ४९, ६९, ७७, १६०, १९५, २२७, २२८, २३३
बंग-दर्शन ३६
बंग-विजेता २२७
ब्रजनंदन सहाय ३९
ब्राउनिंग (राबर्ट) १६
भगवान बुद्धदेव १६३, २७४
भगवानदास (डा०) १५९
भगवतीचरण वर्मा १८, १४९, १५३, १६६, २०७, २१३
भगवतीप्रसाद वाजपेयी १२४, १३३, २०५, २०६, २५५
भला बुरा ६०
भागवत १५९
भाग्यके पथ २५९
भारती धर्मवीर १९०, १९९, २०४, २०५
भारतवर्ष २३, ८७, १९०, २३८
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ४८, ७७
भिखारिनकी थाती २९१
भीतरका घाव २८०
भूतनाथ ३३, ६०
भूषण १६६
भैरोंसिंह ३२
भ्रमर ६९
मणिमाला ६७, ६९
मथुरा ९४
मध्य प्रांत १३८
मध्ययुगीन भारत ४९
मधुबन ९५
मधुशाला १८
मधुसूदन ५६, २६८
मन्नो १७९

मनमोहन १५७
मनुष्यके रूप ११८, १६६
ममता २६१
मरुप्रदीप १९०, १९५, १९६, २००, २०३
महाभारत ४२, १५९
महाभारत मीमांसा ४९
महादेव साहा (डा०) ५२
महारथी कर्ण २२९
महालक्ष्मी १५५
महावीर कुर्मी २१५, २१६, २१९
महिम ७०
महंत ९६
माँ २५५
माई डार्लिंग २५७, २९६
मातादीन ७३
माधवी कंकण २२७, २२८
माधुरी ९०, ९१
मानव मन १३९
मानसिंह तोमर २३१
मामा वरेरकर ४९
मार्कण्डेय १५४
मार्टिन लूथर १७६
मारिस २४६
मारगन डेविड २२
मारिसन १५५
मालती ७३, २१६
मिचेलेट ७९
मिजरेबिल १०८
मिर्जा २६२
मिल्टन १७
मिस्टर प्रसाद ९१, ९५, १८२
मेघदूत २७८
मेयर ऑफ केस्टर ब्रिज २९२
मेरे दोस्तका बेटा २८५, २९३
मैडम डिफार्जे २४२, २४३
मैनेट २४२
मैनाबाई २, ३
मैं नरकसे बोल रहा हूँ २८१
मैनेडिथ २०१, २९०
मैरेडिथ १५१, २१०
मोपासाँ २००
मोहिनी, भुवनमोहिनी ११८
मृगनयनी २३०, २३१, २३४
मृणाल ९७, ९९, १०२
मृणालिनी ९९, २२८
मंजु १७९, १८०, १८१, १८२
यतीन १८७, १८८
यदि वे बोल पाते २६४
यमुना ८९, ९१, ९३, ९५
यशपाल १, ४८, ११६, ११८, १६१, १६४, १६७, १६९, २०५, २०६, २२६, २४४, २४५, २६६, २८५, २८६, २९०
यादराम १७९
योगायोग ५६
योरोप २४१
रमेश २९, ७०, ७७, २१२, २१३, २२६, २२८, २३३,

रवीन्द्र २४, ३९, ४१, ४८, ४९, ५०, ५२, ५६, ५८, ५९, ११६, ११७, १२७, १४०, १४९, १६०, १९५, २११, २१२, २१९, २२८, २३२, २६१, २६४, २७७, २७८
राईगाँव २३१
राखालदास वन्द्योपाध्याय २२७
राजपथ २६४
राजेन्द्र १३३, १३५
राधाचरण गोस्वामी ३९
राबिन्सन क्रूसो ३०
राम २६७, २८०
रामचंद्र शुक्ल १६
रामनरेश त्रिपाठी ३३
रामनाथ तिवारी १५३, १५७
राममोहन राय ७१
रामवृक्ष बेनीपुरी २८५, २९१
रामानुजलाल श्रीवास्तव २६४
रावण २७४, २७५, २७९
रिसरेक्शन १०९
रुपएकी आत्मकथा २६५
रूपनारायण पाण्डेय २५६
रूस २०, २१
रेखा २२०, २२९
रोम २७५
रोहतास गढ़ ३३, ३४
रोहतास दुर्गपति २६२
रंगभूमि ७३
रांगेय राघव २०७, २१३
लखनऊ २२९
लज्जाराम मेहता ३९
लक्ष्मीबाई २३९
लक्ष्य २८१
लारेन्स ८१
लार्ड टेनीसन १६, ३९
लाल ११२, ११३, ११५
लाल सरोवर २८३
लुत्फुन्निसा २२८
लूसी २४२
लोमास २८८, २८९, २९०
लंका २७५
लंदन-रहस्य १०८
वनफूल १८७
वर्जीनिया उल्फ १८९
वर्ड्सवर्थ १६
वाटर बेवीज १६३, २३८
वाटसन ९५
वाणभट्ट ६०
वालपोल ५०, १३०
वासवदत्ता १९
विक्टोरिया २०
विक्रमादित्य ३१
विक्टर ह्यूगो १६, २२८
विजय ९३, ९४, ९५
विधवा २५८
विमल १९०, १९१, १९५
विमला ६९, ११६, ११७, १३५, १४१, २२८

विवर्त १११, ११७
विरजन १८३
विष्णुशर्मा २९५
विषवृक्ष १९५
विश्वामित्र २७३
विश्वंभर दयाल १५७
वीणा १५६
वेरी २८
वेल्स १२१
वैशाली २४४
वैशालीकी नगरवधू २२७, २४३, २४४
वृन्दावनलाल वर्मा १२४, २२६, २३०, २३६, २४२, २८३,
वृषादर्भि २७५
शत्रु ८६
शरत् बाबू ३९, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ६०, ६१, ६२, ६६, ६७, ६९, ९९, १०१, १०२, १०३, १३७, १४२, १७४, १८२, १९७, २००, २२२
शशि १९७, २१४
शशांक २२७
शर्लाक होम्स २७, २८, २९
शान्ति १९०, १९१, २००
शान्तिकुमार (डा०) ६३
शाहजहाँ २७८
शाहजादी ३५
शिखंडी २७९
शिवपूजन सहाय २८४
शीला ९७
शेखर २५, ४६, १३३, १४९, १५१, १७५, १७८, १७९, २१४,
शेष प्रश्न ५०, ६२, ६९, १२५, १३७, १८२
शैल ११६
शैला ९५
शैवलिनी २२८
शोभाचंद्र जोशी २६६, २६७, २६८, २६९, २७२, २७३, २७४, २७७, २८१,
श्यामनाथ १५७
श्यामाचरण १८३
श्रीकान्त ४६, ५०
श्रीचन्द्र ९३, ९४, ९५
सत्यवान २६७
सप्तर्षि-लोक २६६, २६७, २६८, २६९, २७३, २७५, २८१
सर्वानंद वर्मा १८१
सरस्वती ३६४
सहस्र-रजनी-चरित्र ३५, ३६
सहाय ११८
सागल २४५
साड़ीके रंग २८०
सावित्री २६७
साहित्य-संदेश २८२
सिकंदर लोदी २३७
सितारोंके खेल २१३
सीता २६७

सुखदा ६३, ६९, १११, ११२, ११३, ११५, ११६, ११७
सुदर्शन १९५, १९६, २५५, २९६
सुदामा सुषमा २९४
सुबहके भूले २१४, २१५, २२३
सुनीता १०२
सुभद्रा २६७
सुमन ७१
सूरजकी आत्मकथा २६४
सुलक्षणा १४०
सुलोचना १९७, २०३
सेवा सदन ७९, ७२
सैंडरसन २८९
सोमा १६६, १६७
सोहनपाल बुंदेला २३०, २३१
सौन्दर्योपासक ३९, ४८
संदीप २४, २५, ११७, १५०
स्काट २२८
स्पाई १६५
स्वप्न-संभव १८७
स्वर्गमें भूल २७७
स्वप्न-द्रष्टा २०२, २०३
स्टीवेन्सन २८, ३१, ३७, ४१, ६०, १५१, २४७
स्विनबर्न १७
स्विस फेमिली ३०
हनुमान २२८
हरि १९१
हरिकृष्ण जौहर ३९
हरिद्वार ९२
हरिप्रसन्न २५, १०२
हरीश ११२
हँसते हैं, रोते हैं २६६
हाइलैंड रेजीमेण्ट २८
हितोपदेश १०७
हार्डी ४२
हाइड २४८
हिटलर ८८, २७५
हिलडा १५५
हुमायूँ २६२
हेनरी २५९, २६६
हेम १९७, २००
हेमकुमार २१७
हेमवती २३०
होरेस वालपोल १२९, १३०
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर ४९, ५९
त्रिशंकु २७७
ज्ञानदा ६९, ७०
ज्ञानशंकर ७२
ज्ञानेश्वरी ४९